श्री हरिभद्र-सूरि विरचित वृत्ति सहित

ध्यानशतक

(ध्यानाध्ययन)

आलोचनात्मक प्रस्तावना, हिन्दी अनुवाद और विविध परिशिष्टों से समन्वित

तथा

श्री भास्करनन्दि-विरचित

ध्यानस्तव

(प्रस्तावना, हिन्दी अनुवाद और परिशिष्टों सहित)

सम्पादक
बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

प्रकाशक
वीर-सेवा-मन्दिर
२१, दरियागंज, दिल्ली-६

प्रकाशक :
वीर-सेवा-मन्दिर
२१, दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२

प्रथम संस्करण :
वीर नि. सं. २५०२
वि. सं. २०३२
सन् १९७६ ई.

मूल्य
रु० १२.००

मुद्रक : रूपवाणी प्रिंटिंग हाऊस, २३, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ (कम्पोजिंग : गीता प्रिंटिंग एजेंसी)
द्वारा मुद्रित एवं वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

DHYĀNA'SATAKA

OR

DHYĀNĀDHYAYANA

(Along with the Sanskrit Commentary of Haribhadra Suri)

AND

DHYĀNASTAVA

OF

BHĀSKARANANDI

Critically Edited with Introduction, Appendices, etc.

BY

Balchandra Siddhanta-Shastri

VIR SEWA MANDIR

21, Daryaganj, New Delhi.

प्रकाशकीय

जैनधर्म एक अध्यात्मप्रधान धर्म है। इसमें जो कुछ भी विवेचन किया गया है वह आत्मा के उत्थान को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है। प्रत्येक प्राणी सुख व शान्ति चाहता है, पर वह सुख स्वावलम्बन के बिना सम्भव नहीं है। परावलम्बन से होने वाला सुख न तो यथार्थ है और न स्थायी ही है। यथार्थ सुख तो कर्मबन्धन से छूटकर आत्मसिद्धि के प्राप्त कर लेने पर ही सम्भव है। प्रस्तुत संस्करण में प्रकाशित ध्यानस्तव (श्लोक ३) में यह निर्देश किया गया है कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति का नाम सिद्धि है और वह सिद्धि शुद्ध ध्यान के आश्रय से रत्नत्रयधारी के ही सम्भव है। इस प्रकार, आत्मप्रयोजन को सिद्ध करने के लिए न केवल जैन धर्म में ही ध्यान को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, बल्कि अन्य सभी आस्तिकतावादी सम्प्रदायों में भी प्रायः उसे उच्च स्थान दिया गया है।

प्रस्तुत संस्करण में ध्यानशतक और ध्यानस्तव ये दो ग्रन्थ एक साथ प्रकाशित किये जा रहे हैं। ध्यानशतक में कुल गाथायें १०५ और ध्यानस्तव में १०० श्लोक हैं। दोनों ही ग्रन्थों में अपनी-अपनी पद्धति से ध्यान का सुन्दर व महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है, जिसे पढ़कर सहज ही शान्ति उपलब्ध होती है तथा हेयोपादेय का विवेक भी जाग्रत होता है।

इनका सम्पादन पं. बालचन्द्र शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद के साथ किया है। ग्रन्थों के अन्त में कुछ महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट भी जोड़ दिये गये हैं तथा प्रारम्भ में उनके द्वारा जो प्रस्तावना लिखी गई है उसमें विषय का परिचय कराते हुए ध्यान के विषय में अच्छा प्रकाश डाला गया है। साथ ही, भगवद्-गीता और पातंजल योगदर्शन जैसे योगप्रधान अन्य ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक रूप से भी विचार किया गया है। विषय की दृष्टि से, दोनों ही ग्रन्थों की महती उपयोगिता एवं अतीव उपादेयता को दृष्टि में रखकर ही, वीर सेवा मन्दिर ने इनको इस रूप में प्रकाशित करना ठीक समझा एवं तदनुसार इनके प्रकाशन की व्यवस्था की गई।

वीर सेवा मन्दिर,
२१, दरियागंज, नई दिल्ली

गोकुलप्रसाद जैन,
सचिव (साहित्य)

अनुक्रम

प्रस्तावना में उपयुक्त ग्रन्थों का अनुक्रम	६
प्रकाशकीय	८
Foreword	९
सम्पादकीय	११
प्रस्तावना	१–८५
ग्रन्थनाम	१
ग्रन्थकार	१
ग्रन्थ का विषय	४
ध्यान के स्वामी	११
ध्यान के भेद-प्रभेद	१८
पिण्डस्थ आदि के स्वरूप का विचार	२१
ध्यान, समाधि और योग की समानार्थकत	२५
भगवद्गीता का अभिधेय	२९
भगवद्गीता व जैन दर्शन	३१
जैन दर्शन के साथ योगसूत्र की समानता	३४
ध्यानशतक व मूलाचार	४७
ध्यानशतक व भगवती आराधना	५०
ध्यानशतक व तत्त्वार्थसूत्र	५१
ध्यानशतक व स्थानांग	५४
ध्यानशतक और भगवती सूत्र व औपपातिक सूत्र	५८
ध्यानशतक और धवला का ध्यान प्रकरण	५९
ध्यानशतक व आदिपुराण का ध्यान प्रकरण	६२
ध्यानशतक व ज्ञानार्णव	६७
ध्यानशतक व योगशास्त्र	६९
टीका व टीकाकार हरिभद्र सूरि	७२
प्रस्तावना ध्यानस्तव	७४–८५
ग्रन्थ और ग्रन्थकार	७४
ग्रन्थ का विषय परिचय	७५
ध्यास्तव पर पूर्व साहित्य का प्रभाव	७७
विषयानुक्रमणिका (ध्यानशतक	८६
,, (ध्यानस्तव)	८७
शुद्धि पत्र	८८

ध्यानशतक मूल, संस्कृत टीका व हिन्दी अनुवाद १–५१
परिशिष्ट (ध्यानसतक) ५२–७२
१ प्रत्याख्यानाध्ययनगत सम्यक्त्वातिचारस्वरूप ५२
२ गाथानुक्रमणिका ५६
३ टीकागत विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका ५८
४ मूल ग्रन्थगत विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका ६१
५ टीकागत निरुक्त शब्द ६८
६ टीकागत अवतरण वाक्य ७०
७ टीका के अनुसार पाठभेद ७२
८ टीकानुसार मतभेद ... ... ,,
९ टीकागत ग्रन्थ नामोल्लेखादि ... ... ,,
१० टीकागत न्यायोक्तियां ... ... ,,
ध्यानस्तव मूल व हिन्दी अनुवाद १–२३
श्लोकानुक्रमणिका २४
विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका ... २६

प्रस्तावना में उपयुक्त ग्रन्थों का अनुक्रम

संख्या	संकेत	ग्रन्थ	प्रकाशन आदि
१	अमित. श्रा.	अमितगति-श्रावकाचार	दि. जैन पुस्तकालय, सूरत
२	आचा. सा.	आचारसार	मा. दि. ग्रन्थमाला, बम्बई
३	आत्मानु.	आत्मानुशासन	जैन संस्कृति सं. संघ, सोलापुर
४	आ. पु.	आदिपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
५	आप्तप.	आप्तपरीक्षा	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
६	आप्तमी.	आप्तमीमांसा	भा. जैन सि. प्रकाशिनी संस्था, काशी
७	आव. नि.	आवश्यक निर्युक्ति अ. १	दे. ला. जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत
८	,,	,, अ. २, ३, ४	आगमोदय समिति, मेषसाना
९	इष्टोप.	इष्टोपदेश	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
१०	उपासका.	उपासकाध्ययन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
११	औपपा.	औपपातिक सूत्र	आगमोदय समिति, बम्बई
१२	कार्तिके.	स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा	राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला
१३	क्षत्रचू.	क्षत्रचूडामणि	टी. एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री
१४	गणधरवाद	गणधरवाद	गुजरात विद्या सभा, अमदाबाद
१५	गु. गु. षट्.	गुरुगुणषट्त्रिंशिका	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
१६	गो. जी.	गोम्मटसार-जीवकाण्ड	जैन सि. प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
१७	चन्द्र. च.	चन्द्रप्रभचरित्र	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
१८	चारित्रप्रा.	चारित्रप्राभृत	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई,
१९	जीयक.	जीयकप्पसुत्त	जैन साहित्य शोधक समिति, अमदाबाद
२०	जैननि.	जैन निबन्धावली	वीर शासन संघ, कलकत्ता
२१	ज्ञा. सा.	ज्ञानसार	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
२२	ज्ञाना.	ज्ञानार्णव	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला
२३	तत्त्वानु.	तत्त्वानुशासन	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली
२४	त. वा.	तत्त्वार्थवार्तिक	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
२५	त. वृ.	तत्त्वार्थवृत्ति	,,
२६	त. श्लो.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	रामचन्द्र नाथारंग गांधी (नि. सा. प्रेस)
२७	त. सू.	तत्त्वार्थसूत्र	प्रथम गुच्छक, निर्णय सागर प्रेस
२८	त. भा.	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य	दे. ला. जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
२९	ति. प.	तिलोयपण्णत्ती	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
३०	दशवै.	दशवैकालिक	जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
३१	धव.	धवला (षट्खण्डागम टीका)	शि. ल. जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती

३२	ध्या. स्त.	ध्यानस्तव	भारतीय ज्ञानपीठ (मा. ग्र. मा.)
३३	नि. सा.	नियमसार	जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई
३४	न्या. सू. वृत्ति	न्यायसूत्रवृत्ति	—
३५	पंचसं.	पंचसंग्रह	भारतीय ज्ञानपीठ
३६	पंचा. का.	पंचास्तिकाय	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
३७	पा. सू.	पाक्षिकसूत्र	जैन पुस्तकोद्धार सस्था, सूरत
३८	पा. दो.	पाहुडदोहा	गोपाल अंबादास चवरे, कारंजा
३९	बृ. द्रव्यसं.	बृहद्द्रव्यसंग्रह	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला
४०	भगवती.	भगवती सूत्र (च. खण्ड)	जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अमदाबाद
४१	भावसं.	भावसंग्रह (प्राकृत)	मा. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
४२	,,	,, (संस्कृत)	,,
४३	म. स्मारिका	महावीर स्मारिका	जयपुर (१९७२)
४४	मूला.	मूलाचार	मा. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
४५	युक्त्यनु.	युक्त्यनुशासन	,,
४६	यो. बि.	योगबिन्दु	जन ग्रन्थ प्रकाशक संस्था, अमदाबाद
४७	यो. वि.	योगविंशिका	आत्मानन्द जैन पु. प्र. मण्डल, आगरा
४८	यो. शा.	योगशास्त्र	ऋषभचन्द्र जौहरी कि. ला. दिल्ली
४९	यो. सा.	योगसार	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला
५०	योगसा. प्रा.	योगसारप्राभृत	भारतीय ज्ञानपीठ
५१	यो. सू.	योगसूत्र (सभाष्य)	विनायक ग. आपटे, पूना (१९३२)
५२	,,	,, (भोज वृत्तिसहित)	हरिकृष्णदास, बनारस
५३	रत्नक.	रत्नकरण्डक	मा. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
५४	वरांग.	वरांगचरित	मा. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
५५	वसु. श्रा.	वसुनन्दिश्रावकाचार	भारतीय ज्ञानपीठ
५६	विशेषा.	विशेषावश्यकभाष्य	ऋषभदेव के. श्वे. संस्था. रतलाम
५७	वि. पु.	विष्णुपुराण	गीता प्रेस, गोरखपुर
५८	श्रा. प्र.	श्रावकप्रज्ञप्ति	ज्ञानप्रसारक मण्डल, मुम्बई
५९	ष. खं.	षट्खण्डागम	शि. ल. जैन साहित्योद्धारक फण्ड
६०	षोडश.	षोडशक प्रकरण	जैन श्वे. संस्था, रत्नपुर
६१	स. सा.	समयसार (समयप्राभृत)	भा. जैन सि. प्रकाशिनी संस्था, काशी
६२	समाधि.	समाधिशतक (समाधितन्त्र)	वीर सेवा मन्दिर सोसाइटी
६३	स. सि.	सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ
६४	सां. द.	सांख्यदर्शन	लक्ष्मणप्रसाद चिकित्सक, कलकत्ता
६५	सिद्धिवि.	सिद्धिविनिश्चय टीका	भारतीय ज्ञानपीठ
६६	स्थानां.	स्थानांगसूत्र	सेठ माणिकलाल चु. व का. चु. अमदाबाद
६७	स्व. स्तो.	स्वयम्भूस्तोत्र	वीर सेवा मन्दिर
६८	हरि. स.	हरिभद्राचार्यस्य समयनिर्णय:	जैन साहित्यशोधक समाज, पूना
६९	ह. पु.	हरिवंशपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ

—: ० :—

Foreword

The Dhyānśataka or Dhyānādhyayana is an important poem of one hundred and five gāthās composed in Prākṛit language. Although the author is unknown, yet he contributed a great treatise on Digamber Jain Āgams, particularly the nature of dhyāna or meditation. The subject of the work is concerned with the nature of Dhyāna and four types of Dhyānas, *i.e.*, ārta, raudra, dharma and Śukla are described. Concentration of thought on one particular object is called Dhyāna or meditation. The nature of Dhyāna is considered the self in the released state is characterized by conciousness, and it is the state of the liberated soul. Therefore, it is concerned with the Jaina ontology, metaphysics and epistemology.

Meditation is the art of intensifying inward consciousness. In the practice of self-realization, meditation occurs as a channel through which one discovers the pure and liberated soul. First of all, self-observation or spiritual insight is a qualitatively different dimension of experience ; it is stated in the terms of states (guṇa-sthāna). As it is said quite definitely, deliverance is the realization that appears in the state of soul in the mode of unwavering thought.

Mind is now conceived as a concrete self-developing whole—its entire being and essence is the activity of self-development, the archetypal form of which is the activity of thought.[1] In the Jaina system every soul is possessed of consciousness. Therefore, thought itself is conditioned by forms and it is thought that knows external forms and determines their nature.

The types of meditation are mentioned as the painful (sorrowful), the cruel, the virtuous (righteous) and the pure. These four kinds of meditation are divided into two classes, evil and good or inauspicious and auspicious serially. These occur in the case of laymen with and without small vows, and non-vigilant ascetics, the contemplation of objects of revelation, misfortune or calamity, fruition of kąrmas and the structure of the universe is virtuous concentration. It is not always possible to realise thyself. The pure concentration is also defind to be of four types. The first two types of pure concentration are attained by the saints well-versed in the Pūrvas. The last two arise in the omniscients.

---

1 Edt. Harris, Errol E. : Nature, Mind and Modern Science, London, Pp. 451.

The Dhyānastava is the Sanskṛit composition of one hundred verses, the well-known exposition of meditation. It seems that the author (Bhāskaranandī) of this small hymn was well-acquainted with Dhyānśataka which is quoted in Dhavlā. Both Prākṛit and Sanskṛit verses are presented in the series of Digambar Jaina texts in order to explain the nature of meditation and primary means and causes of deliverance, by which we can release our soul from karmas or bondages. As described by Miss Suzuko Ohira in the Introduction to Dhyānastava (published by Bhāratīya Jñanpītha), it can be accepted that Bhāskaranandi flourished in the beginning of the 12th century A.D., and it is also an established fact that he was a Digambara Pandit of vakra gaccha, Desī gaṇa of Mūla sangha, as a disciple of Jina Chandra.

An eminent scholar of Jaina Philosophy, Pandit Balchandra Siddhanta-Shastri edited this volume (both the important Texts), with Sanskṛit commentary, Hindī translation and notes in a neat form. In the Introduction, he has dealt wtth the comparative study of Indian Yoga systems that might be very useful to every student of Philosophy who will read this volume. There is no doubt that the Shastri's contribution in the field of Jainology is worthy of appreciation. I congratulate him for this work of extra-ordinary labour and prolonged reflection.

7th February, 1976

(*Dr.*) Devendra Kumar, Shastri, M.A., Ph.D.,
Asst. Professor,
Govt. Post-graduate College,
Neemuch (M.P.)

सम्पादकीय

प्रस्तुत संस्करण में ध्यानशतक और ध्यानस्तव ये दो ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं। दोनों ही ग्रन्थ यद्यपि शब्द-शरीर से कृश हैं, फिर भी विषय-विवेचन की दृष्टि से वे अपने आपमें परिपूर्ण हैं। इन दोनों ग्रन्थों में अपनी-अपनी शैली से ध्यान का सुन्दर व महत्त्वपूर्ण वर्णन किया गया है। ध्यानशतक जहां प्राकृत भाषा में गाथाबद्ध है वहां ध्यानस्तव संस्कृत श्लोकों में रचा गया है।

ध्यानशतक में केवल १०५ गाथायें हैं। इनमें से लगभग ४६-४७ गाथायें आचार्य वीरसेन द्वारा षट्खण्डागम की टीका धवला में उद्धृत की गई हैं (देखिये प्रस्तावना पृ. ५९-६२)। धवला का वह भाग (पु. १३) जिस समय सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था उस समय ये गाथायें किस ग्रन्थ की हैं, यह पता नहीं लग पाया था। कुछ समय के पश्चात् संशोधन कार्य के वश जब मैं आवश्यकसूत्र का परिशीलन कर रहा था तब वे गाथायें वहां मुझे हरिभद्र सूरि के द्वारा अपनी टीका में पूर्ण रूप से उद्धृत प्रस्तुत ध्यानशतक में उपलब्ध हुईं। तब मैंने इस ध्यानशतक का तन्मयता से अध्ययन किया। ग्रन्थ मुझे बहुत उपयोगी व महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ। इससे उसे प्रकाश में लाने की मेरी इच्छा बलवती हो उठी। तब मैंने हिन्दी अनुवाद आदि के साथ उसके कार्य को सम्पन्न कर डाला। अब समस्या उसके प्रकाशन की थी। मैंने उसकी चर्चा वीर सेवा मन्दिर के महामन्त्री श्री महेन्द्रसेन जी जैनी से की। उन्होंने उसे वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित करने की योजना बनायी और उसी के आधार से उन्होंने उसे वीर सेवा मन्दिर के लिए दे देने की इच्छा व्यक्त की। तदनुसार ग्रन्थ मैंने उन्हें सहर्ष दे दिया।

विषय की समानता और ग्रन्थ की उपयोगिता को देखते हुए उसके साथ दूसरे ग्रन्थ ध्यानस्तव को भी जोड़ देना उचित समझा गया। इस प्रकार से इस संस्करण में हरिभद्र सूरि विरचित संस्कृत टीका व मेरे हिन्दी अनुवाद के साथ ध्यानशतक तथा केवल मेरे हिन्दी अनुवाद के साथ भास्करनन्दी विरचित ध्यानस्तव ये दो ग्रन्थ प्रकाशित किये जा रहे हैं।

मेरी इच्छा थी कि इन दोनों ग्रन्थों का उपलब्ध कुछ हस्तलिखित प्रतियों से मिलान कर लिया जाय। पर वे सुलभ न हो सकीं। जैसा कि जिन-रत्नकोश में निर्देश किया गया है, यद्यपि ध्यानशतक की कुछ प्रतियां अहमदाबाद, बम्बई और पाटण में विद्यमान हैं; पर इसके लिये वहां लिखने पर न तो कोई प्रति ही मिल सकी और न कुछ उत्तर भी प्राप्त हुआ। इससे उसका सम्पादन आवश्यक सूत्र की टीका में उद्धृत व मुद्रित संस्करण तथा विनय सुन्दर चरण ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित स्वतंत्र संस्करण के ही आधार से किया गया है।

ध्यानस्तव का सम्पादन जैन-सिद्धान्त-भास्कर, भाग १२, किरण २ में श्री पं. के. भुजबली शास्त्री के द्वारा सम्पादित व प्रकाशित मूल मात्र तथा कु. सुजुको ओहिरा द्वारा सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ (मा. दि. जैन ग्रन्थमाला) द्वारा प्रकाशित संस्करण (ई. सन् १९७३) के आधार से किया गया है। इसके लिए मैं उक्त दोनों ग्रन्थों के इन संस्करणों के सम्पादकों व प्रकाशकों का विशेष आभारी हूं।

प्रस्तावना के लेखन में वैसे तो बहुत से ग्रन्थों की सहायता लेनी पड़ी है, पर विशेष रूप से श्री पं. सुखलाल जी संघवी द्वारा लिखित 'योगदर्शन तथा योगविंशिका' की प्रस्तावना (संवत् १९७८) और कु.

सुजुकी ओहिरा द्वारा इंगलिश में लिखी गई व्यावस्तव की प्रस्तावना के हिन्दी अनुवाद से सहायता मिली है। इसके लिए मैं उक्त दोनों प्रस्तावनाओं के लेखक विद्वानों के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूं।

श्री डा. देवेन्द्रकुमार जी शास्त्री, सहायक प्राध्यापक शासकीय महाविद्यालय नीमच ने, हमारे आग्रह पर दोनों ग्रन्थों का यथासम्भव परिशीलन कर अंगरेजी में प्रस्तावना (Foreword) लिख देने की कृपा की है, इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता।

अन्त में मैं वीर सेवा मन्दिर के उन अधिकारियों को भी नहीं भूल सकता हूं, जिन्होंने प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया व उसके प्रकाशन की व्यवस्था भी की है।

हम सभी की यह इच्छा रही है कि ग्रन्थ भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण-महोत्सव वर्ष के मध्य में ही प्रकाशित हो जाय। पर ऐसा नहीं हो सका। कारण इसका यह रहा है कि यद्यपि ग्रन्थ का मुद्रणकार्य मार्च १९७४ में ही प्रारम्भ हो चुका था, पर कुछ ही समय के बाद स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण जुलाई १९७४ में मुझे दिल्ली छोड़कर घर जाना पड़ा। वहाँ मैं लगभग डेढ़ वर्ष रहा। इस बीच मुद्रणकार्य प्रायः रुका ही रहा। जब मैं नवम्बर १९७५ में यहाँ वापिस आया तब कहीं उसके मुद्रण कार्य में प्रगति हुई है। यही कारण है कि ग्रन्थ कुछ विलम्ब से पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है।

वीर सेवा मन्दिर,
दिल्ली
९-३-१९७६

बालचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना

ग्रन्थ नाम

जैसा कि टीकाकार हरिभद्र सूरि ने आवश्यकसूत्र निर्युक्ति की टीका में प्रस्तुत ग्रन्थ को गर्भित करते हुए निर्देश किया है,[1] इसका नाम ध्यानशतक रहा है। परन्तु मूल ग्रन्थ के कर्ता ने मंगलपद्य में जो प्रतिज्ञा की है, तदनुसार उनको उसका नाम ध्यानाध्ययन अभीष्ट रहा दिखता है। उक्त मंगलपद्य में उन्होंने शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा कर्मरूप ईंधन के भस्म कर देनेवाले योगीश्वर को प्रणाम करके ध्यानाध्ययन के कहने की प्रतिज्ञा की है। अध्ययन शब्द से यहां अध्ययन के विषयभूत ग्रन्थविशेष का अभिप्राय रहा है। तदनुसार जिसके पढ़ने से अध्येता को ध्यान का परिचय प्राप्त होता है ऐसे ध्यान के प्रतिपादक शास्त्र का वर्णन करना ही ग्रन्थकार को अभीष्ट रहा है और उन्होंने उसी के कहने की प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की है। ग्रन्थगत विषय के विवेचन को देखते हुए भी यह निश्चित है कि उसमें ध्यान का ही व्यवस्थित रूप में वर्णन किया गया है, अतः उसका 'ध्यानाध्ययन' नाम सार्थक ही है। हरिभद्र सूरि ने उसकी टीका करते हुए जो 'ध्यानशतक' नाम से उसका उल्लेख किया है उसका कारण ग्रन्थ के अन्तर्गत गाथाओं की संख्या है, जो सौ के आस-पास (१०५) ही है।

ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रन्थ का कर्ता कौन है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जैसा कि 'बृहद् जैन साहित्य का इतिहास' भाग ४ (पृ. २५०) में संकेत किया गया है[2], प्रस्तुत ग्रन्थ में १०६ गाथायें पायी जाती हैं। उनमें जो अन्तिम गाथा (१०६) है उसमें उसे जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा विरचित सूचित किया गया है। वह गाथा इस प्रकार है—

पंचुत्तरेण गाहासएण झाणस्स यं (जं) समक्खायं।
जिणभद्दखमासमणेहिं कम्मविसोहीकरणं जइणो[3]॥

यह गाथा कुछ असम्बद्ध-सी दिखती है। भाव उसका यह प्रतीत होता है कि जिनभद्र क्षमाश्रमण

---

१. ध्यानशतकस्य च महार्थत्वाद्वस्तुतः शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मंगलार्थमिष्टदेवतानस्कारमाह—ध्यानशतक टीका १ (उत्थानिका)।

२. Discriptive Catalogue of the Government Collection of Manuscripts (Vol. xvii, Pt. 3, P. 416) Bhandarkar Oriental Recearch Instiute Poona.

३. यह गाथा आवश्यकसूत्र (पूर्व भाग पृ. ५८२–६१२) के अन्तर्गत ध्यानशतक में तथा वि. भ. सु. च. ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित उसके स्वतन्त्र संस्करण में भी नहीं पायी जाती है। यदि यह गाथा मूल ग्रन्थकार के द्वारा रची गई होती तो टीकाकार हरिभद्र सूरि द्वारा जिनभद्र क्षमाश्रमण के नाम का निर्देश अवश्य किया जाता।

ने यति की कर्मविशुद्धि के करनेवाले ध्यान के प्रकरण या अध्ययन को एक सौ पांच (१०५) गाथाओं द्वारा कहा है। यह गाथा स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा रची गई है या पीछे किसी अन्य के द्वारा जोड़ी गई है, यह सन्देहापन्न है। सम्भवतः इसी के आधार से श्री विनयभक्ति सुन्दरचरण ग्रन्थ माला द्वारा प्रकाशित उसके संस्करण में उसे जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण द्वारा विरचित निर्दिष्ट किया गया है।

किन्तु वह जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा रचा गया है, इसमें सन्देह है। श्री पं. दलसुखभाई मालवणिया का मन्तव्य है कि ध्यानशतक के रचयिता के रूप में यद्यपि जिनभद्र गणि से नाम का निर्देश देखा जाता है, पर वह सम्भव नहीं दिखता। इसका कारण यह है कि हरिभद्र सूरि ने अपनी आवश्यक निर्युक्ति की टीका में समस्त ध्यानशतक को शास्त्रान्तर स्वीकार करते हुए समाविष्ट किया है तथा वहां उसकी समस्त गाथाओं की व्याख्या भी उन्होंने की है। पर वह किसके द्वारा रचा गया है, इसके सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। इसके अतिरिक्त हरिभद्र सूरि की उक्त टीका पर टिप्पणी लिखनेवाले आचार्य मलधारी हेमचन्द्र सूरि ने भी उसके रचयिता के विषय में कुछ भी सूचना नहीं की। हरिभद्र सूरि ने जो उसे शास्त्रान्तर कहा है इससे वह स्वतंत्र ग्रन्थ है, यह तो निश्चित है; पर वह आवश्यक निर्युक्ति के रचयिता की कृति नहीं है, यह उससे फलित नहीं होता। उसके प्रारम्भ में जो योगीश्वर वीर जिन को नमस्कार किया गया है, इस कारण से हरिभद्र सूरि उसे आवश्यक निर्युक्तिकार की कृति न मानते हों, यह तो हो नहीं सकता। कारण यह कि आवश्यक निर्युक्ति में किसी नवीन प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए कितने ही बार तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है। तदनुसार ध्यान के महत्त्वपूर्ण प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए वीर को नमस्कार किया गया है। अतः उसे निर्युक्तिकार भद्रबाहु की ही कृति समझना चाहिए। हरिभद्र सूरि ने जो उसे शास्त्रान्तर प्रगट किया है वह विषय की महत्ता को देखते हुए ही प्रगट किया है। यदि वह जिनभद्र की कृति होती तो उसकी व्याख्या करते हुए हरिभद्र सूरि उसकी सूचना अवश्य करते[1]।

मेरे विचार में भी वह जिनभद्र क्षमाश्रमण की कृति प्रतीत नहीं होती। कारण यह कि उनके द्वारा विरचित विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पसूत्र के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे विवक्षित ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए प्रवचन को प्रणाम करके ग्रन्थ के कहने की प्रतिज्ञा करते हैं तथा उसे समाप्त करते हुए उसकी उपयोगिता को प्रगट करते हैं। यथा—

कतपवयणप्पणामो वोच्छं चरण-गुणसंगहं सयलं।
आवसयाणुयोगं गुरूपदेसाणुसारेणं॥ विशेषा. १.

कयपवयणप्पणामो वोच्छं पच्छित्तदाण संखेवं।
जीयव्ववहारगयं जीयस्स विसोहणं परमं॥ जीयकप्पसुत्त १.

समाप्ति—**सव्वाणुयोगमूलं भासं सामाइयस्स णाऊण।**
होति परिकम्मियमतो जोग्गो सेसाणुयोगस्स॥ विशेषा, ४३२९.

इय एस जीयकप्पो समासओ सुविहियाणुकम्पाए।
कहियो देयोऽयं पुण पत्ते सुपरिच्छियगुणम्मि॥ जीयकप्पसुत्त १०३.

पर प्रस्तुत ध्यानशतक में प्रवचन को प्रणाम न करके योगीश्वर वीर को नमस्कार किया गया है तथा उसे समाप्त करते हुए यद्यपि उसकी उपयोगिता प्रगट की गई है, किन्तु वह कुछ भिन्न रूप में की गई है। इसके अतिरिक्त विवादापन्न १०६ठी गाथा में जिस प्रकार जिनभद्र क्षमाश्रमण के नाम का

---

१. गणधरवाद, प्रस्तावना पृ. ४५.

निर्देश किया गया है उस प्रकार उपर्युक्त विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पसूत्र में अपने नामका निर्देश नहीं किया गया[1]।

जिस प्रकार उसे जिनभद्र की कृति मानने में नमस्कारविषयक पद्धति बाधक प्रतीत होती है उसी प्रकार उसे निर्युक्तिकार आ. भद्रबाहु की कृति मानने में भी वही बाधा दिखती है। यह ठीक है कि निर्युक्तिकार किसी नवीन प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए उसके प्रारम्भ में मंगलस्वरूप नमस्कार करते हैं, पर वे सामान्य से तीर्थंकरों को नमस्कार करते देखे जाते हैं। यथा—

तित्थकरे भगवंते अणुत्तरपरक्कमे अमितणाणी।
तिण्णे सुगतिगतिगते सिद्धिपधपदेसए वंदे॥

आव. नि. ८० (१०२२), पृ. १९५.

कहीं वे प्रकरण से सम्बद्ध गणधर आदि को भी नमस्कार करते हुए देखे जाते हैं। जैसे—

एक्कारस वि गणधरे पवायए पवयणस्स वंदामि।
सव्वं गणधरवंसं वायगवंसं पवयणं च॥

आव. नि. ८२ (१०५९), पृ. २०२.

उन्होंने ध्यानशतक के समान कहीं योगीश्वर वीर जैसे किसी को नमस्कार किया हो, ऐसा देखने में नहीं आया। अतएव हरिभद्र सूरि ने महान् अर्थ का प्रतिपादक होने से उसे जो शास्त्रान्तर कहा है उससे वह एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही प्रतीत होता है। यदि वह निर्युक्तिकार की कृति होता तो कदाचित् वे उनका उल्लेख भी कर सकते थे। पर उन्होंने उसके कर्ता का उल्लेख निर्युक्तिकार[2] के रूप में न करके सामान्य ग्रन्थकार के रूप में ही किया है। यथा—

१ गाथा ११ की उत्थानिका में वे साधु के आर्तध्यानविषयक शंका का समाधान करते हुए कहते है—**आह च ग्रन्थकारः।**

२ गा. २८-२९ में निर्दिष्ट धर्मध्यानविषयक भावना आदि १२ द्वारों के प्रसंग में वे कहते हैं कि यह इन दो गाथाओं का संक्षिप्त अर्थ है, विस्तृत अर्थ का कथन प्रत्येक द्वार में ग्रन्थकार स्वयं करेंगे। यथा—**इति ····· गाथाद्वयसमासार्थः, व्यासार्थं तु प्रतिद्वारं ग्रन्थकारः स्वयमेव वक्ष्यति।**

सम्भव है कि टीकाकार हरिभद्र सूरि को प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता का ज्ञान न रहा हो अथवा उन्होंने उनके नाम का निर्देश करना आवश्यक न समझा हो। यह अवश्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना निर्युक्तिकार आ. भद्रबाहु और जिनभद्र क्षमाश्रमण के समय के आस-पास ही हुई है। जैसा कि आगे स्पष्ट किया जानेवाला है, इसका कारण यह है कि उसके ऊपर आ. उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थसूत्र के अन्तर्गत ध्यान के प्रकरण का काफी प्रभाव रहा है। तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल प्रायः तीसरी शताब्दि है। इसी प्रकार वह स्थानांग के अन्तर्गत ध्यान के प्रकरण से भी अत्यधिक प्रभावित है। वर्तमान आचारादि आगमों का संकलन वलभी वाचना के समय आ. देवर्द्धि गणि के तत्त्वावधान में वीर निर्वाण के पश्चात् ९८० वर्षों के आस-पास किया गया है। तदनुसार वह (स्थानांग) पांचवी शताब्दि की रचना ठहरती है। इससे ज्ञात होता है कि प्रस्तुत ध्यानशतक की रचना पांचवीं शताब्दि के बाद हुई है। साथ ही उसके ऊपर चूंकि हरिभद्र सूरि के द्वारा टीका रची गई है, इससे उसकी रचना हरिभद्र सूरि (प्रायः विक्रम की की ८वीं शताब्दि) के पूर्व हो चुकी है, यह भी सुनिश्चित है। इसके अतिरिक्त जैसा कि हरिभद्र सूरि ने

---

१. जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा विरचित विशेषणवती, बृहत्क्षेत्रसमास और बृहत्संग्रहणी आदि अन्य कुछ कृतियां भी हैं, पर उनके सामने न होने से कहा नहीं जा सकता कि वहां भी उनकी यही पद्धति रही है या अन्य प्रकार की।

२. यथा—इदं गाथापंचकं जगाद निर्युक्तिकारः—आव. नि. हरि. टी. ७१ (उत्थानिका)

अपनी टीका में संकेत किया है, उनकी टीका से पूर्व भी कोई अन्य टीका रची जा चुकी है[1]। इस परिस्थिति में इतना ही कहा जा सकता है कि वह छठी और आठवीं शताब्दि के मध्य में किसी के द्वारा रचा गया है। पर किसके द्वारा रचा गया है, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता।

ग्रन्थ का विषय

ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए मंगल के पश्चात् सर्वप्रथम स्थिर अध्यवसान को ध्यान का स्वरूप बतलाया है। स्थिर अध्यवसान से एकाग्रता का आलम्बन लेनेवाले मन का अभिप्राय रहा है, जिसे दूसरे शब्दों में एकाग्रचिन्तानिरोध कहा जा सकता है। इसके बिपरीत जो अध्यवसान की अस्थिरता है उसे चल चित्त कहकर भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता इन तीन में विभक्त किया गया है। उनमें ध्यान के अभ्यास की क्रिया का नाम भावना है। ध्यान से च्युत होने पर जो चित्त की चेष्टा होती है उसे अनुप्रेक्षा कहा जाता है। भावना और अनुप्रेक्षा इन दोनों से भिन्न जो मन की प्रवृत्ति होती है वह चिन्ता कहलाती है (गा. २)।

एक वस्तु में चित्त के अवस्थान रूप उस ध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। इस प्रकार का ध्यान केवली से भिन्न छद्मस्थ (अल्पज्ञ) जीवों के ही होता है, केवलियों का ध्यान योगों के निरोधस्वरूप है (३)। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ध्यान के विनष्ट हो जाने पर या तो पूर्वोक्त स्वरूपवाली चिन्ता होती है, या फिर भावना और अनुप्रेक्षा रूप ध्यानान्तर होता है। यह ध्यानान्तर तभी सम्भव है जब कि उसके पश्चात् पुनः स्थिर अध्यवसान रूप वह ध्यान होनेवाला हो, अन्यथा उस प्रकार का ध्यानान्तर न होकर चिन्ता ही हो सकती है (३-४)।

आर्तध्यान—

ध्यान सामान्य से चार प्रकार का है—आर्त, रौद्र, धर्म या धर्म्य और शुक्ल। इनमें आर्त और रौद्र ये दो ध्यान संसार के कारण हैं तथा धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान मुक्ति के कारण हैं। विशेष रूप से आर्तध्यान को तिर्यंच गति का, रौद्रध्यान को नरक गति का, धर्मध्यान को देव गति का और शुक्लध्यान को मुक्ति का कारण माना गया है (५)।

अनिष्ट विषयों का संयोग होने पर उनके वियोग की जो चिन्ता होती है तथा उनका वियोग हो जाने पर भी जो भविष्य में उनके पुनः संयोग न होने की चिन्ता होती है, उसे प्रथम आर्तध्यान माना गया है। रोगजनित पीड़ा के होने पर उसके वियोग की चिन्ता के साथ भविष्य में उसके पुनः संयोग न होने की भी जो चिन्ता होती है, उसे दूसरा आर्तध्यान कहा गया है। अभीष्ट विषयों का संयोग होने पर उनका भविष्य में कभी वियोग न होने विषयक तथा वर्तमान में यदि उनका संयोग नहीं है तो उनकी प्राप्ति किस प्रकार से हो, इसके लिए भी जो चिन्ता होती है उसे तीसरा आर्तध्यान माना जाता है। यदि संयम का परिपालन अथवा तपश्चरण आदि कुछ अनुष्ठान किया गया है तो उसके फलस्वरूप इन्द्र व चक्रवर्ती आदि की विभूतिविषयक प्रार्थना करना, इसे चौथे आर्तध्यान का लक्षण कहा गया है। आगामी काल में भोगाकांक्षा रूप इस प्रकार का निदान अज्ञानी जन के ही हुआ करता है। कारण यह कि जिस अमूल्य संयम अथवा तपश्चरण के आश्रय से मुक्ति प्राप्त हो सकती है उसे इस प्रकार से भोगों की प्राप्ति में गमा देना, इसे अज्ञानता के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? उपर्युक्त चार प्रकार की इस

---

१. (क) अनेन किलानागतकालपरिग्रह इति वृद्धा व्याचक्षते। हरि. टी. गा. ८.
(ख) अन्ये पुनरिदं गाथाद्वयं चतुर्भेदमप्यार्तध्यानमधिकृत्य साधोः प्रतिषेधरूपतया व्याचक्षते। टी. १२.
(ग) अन्ये तु व्याचक्षते तिर्यग्गतावेव प्रभूतसत्त्वसम्भवात् स्थितिबहुत्वाच्च संसारोपचारः। टीका १३.
(घ) आदिशब्दः × × × प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशबन्धभेदग्राहक इत्यन्ये। टीका ५०.

संक्लेश रूप परिणति को यहां आर्तध्यान कहा गया है (६-९)। राग-द्वेष से रहित साधु वस्तुस्वरूप का विचार करता है, इसलिए रोगादि जनित वेदना के होने पर वह उसे अपने पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से उत्पन्न हुई जानकर शुभ परिणाम के साथ सहन करता है। ऐसा विवेकी साधु उत्तम आलम्बन लेकर—निर्मल परिणाम के साथ—उसका पाप से सर्वथा रहित (पूर्णतया निर्दोष) अथवा अल्प पाप से युक्त होता हुआ प्रतीकार करता है, फिर भी निर्दोष उपाय के द्वारा चिकित्सादि रूप प्रतीकार करने के कारण उसके आर्तध्यान नहीं होता, किन्तु धर्मध्यान ही होता है। इसी प्रकार वह सांसारिक दुःखों के प्रतीकारस्वरूप जो तप-संयम का अनुष्ठान करता है वह इन्द्रादि पदों की प्राप्ति की अभिलाषा रूप निदान से रहित होता है, इसीलिए इसे भी आर्तध्यान नहीं माना गया, किन्तु निदान रहित धर्मध्यान ही माना गया हैं। संसार के कारणभूत जो राग, द्वेष और मोह हैं वे आर्तध्यान में रहते हैं; इसीलिए उसे संसार रूप वृक्ष का मूल कहा गया है (१०-१३)।

आर्तध्यानी के कापोत, नील और कृष्ण ये तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं। आर्तध्यानी की पहिचान इष्टवियोग एवं अनिष्टसंयोगादि के निमित्त से होनेवाले आक्रन्दन, शोचन, परिवेदन एवं ताड़न आदि हेतुओं से हुआ करती है। वह अपने द्वारा किये गये भले-बुरे कर्मों की प्रशंसा करता है तथा धन-सम्पत्ति के उपार्जन में उद्यत रहता हुआ विषयासक्त होकर धर्म की उपेक्षा करता है (१४-१७)।

वह आर्तध्यान व्रतों से रहित मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि एवं अविरत-सम्यग्दृष्टि तथा संयतासंयत व प्रमादयुक्त संयत जीवों के होता है (१८)।

२ रौद्रध्यान—

हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुन्धी के भेद से रौद्रध्यान चार प्रकार का है। क्रोध के वशीभूत होकर एकेन्द्रियादि जीवों के ताड़ने, नासिका आदि के छेदने, रस्सी आदि से बांधने एवं प्राणविघात करने आदि का जो निरन्तर चिन्तन होता है; यह हिंसानुबन्धी नामक प्रथम रौद्रध्यान का लक्षण है। परनिन्दाजनक, असभ्य एवं प्राणिप्राणवियोजक आदि अनेक प्रकार के असत्य वचन बोलने का निरन्तर चिन्तन करना; इसे मृषानुबन्धी नामक दूसरा रौद्रध्यान माना गया है। जिसका अन्तःकरण पाप से कलुषित रहता है तथा जो मायापूर्ण व्यवहार से दूसरों के ठगने में उद्यत रहता है उसके यह रौद्रध्यान होता है। जिसका चित्त क्रोध ब लोभ के वशीभूत होकर दूसरों की धन-सम्पत्ति आदि के अपहरण में संलग्न रहता है उसके स्तेयानुबन्धी नाम का तीसरा रौद्रध्यान समझना चाहिए। विषयसंरक्षणानुवन्धी नामक चौथे रौद्रध्यान के वशीभूत हुआ जीव विषयोपभोग के लिए उसके साधनभूत धन के संरक्षण में निरन्तर विचारमग्न रहा करता है। नरक गति का कारभूत यह चार प्रकार का रौद्र-ध्यान मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक सम्भव है। यहां आर्तध्यानी के समान रौद्रध्यानी के भी यथासम्भव लेश्याओं और उसके लिगों आदि का निर्देश किया गया है (१९-२७)।

३ धर्मध्यान—

धर्मध्यान की प्ररूपणा को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम यहां यह सूचना की गई है कि मुनि को १ ध्यान की भावनाओं, २ देश, ३ काल, ४ आसनविशेष, ५ आलम्बन, ६ क्रम, ७ ध्यातव्य, ८ ध्याता, ९ अनुप्रेक्षा, १० लेश्या, ११ लिंग और १२ फल; इनको जानकर धर्मध्यान का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् धर्मध्यान का अभ्यास कर लेने पर शुक्लध्यान का ध्यान करना चाहिए (२८-२९)। इस प्रकार की सूचना करके आगे इन्हीं १२ प्रकरणों के आश्रय से क्रमशः प्रकृत धर्मध्यान का विवेचन किया गया है।

१ भावना—ध्यान के पूर्व जिसने भावनाओं के द्वारा अथवा उनके विषय में अभ्यास कर लिया है वह ध्यानविषयक योग्यता को प्राप्त कर लेता है। वे भावनायें ये हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और

वैराग्य। इनमें ज्ञान के आसेवन रूप अभ्यास का नाम ज्ञानभावना है। इसके आश्रय से ध्याता का मन अशुभ व्यापार को छोड़ शुभ में स्थिर होता है। साथ ही उसके द्वारा तत्त्व-अतत्त्व का रहस्य जान लेने से ध्याता स्थिरबुद्धि होकर ध्यान में लीन हो जाता है।

तत्त्वार्थश्रद्धान का नाम दर्शन है। शंका-कांक्षा आदि पांच दोषों से रहित एवं प्रशम व स्थैर्य आदि गुणों से युक्त होकर उस दर्शन के आराधन को दर्शनभावना कहते हैं। दर्शन से विशुद्ध हो जाने पर धर्मध्यान का ध्याता ध्यान के विषय में कभी दिग्भ्रान्त नहीं होता।

समस्त सावद्ययोग की निवृत्ति रूप क्रिया का नाम चारित्र और उसके अभ्यास का नाम चारित्र-भावना है। इस चारित्रभावना से नवीन कर्मों के ग्रहण के अभाव रूप संवर, पूर्वसंचित कर्म की निर्जरा, सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों का ग्रहण और ध्यान; ये विना किसी प्रकार के प्रयत्न के—अनायास—ही प्राप्त होते हैं।

संसार के स्वभाव को जानकर विषयासक्ति से रहित होना, यही वैराग्यभावना है। इस वैराग्य-भावना से जिसका मन सुवासित हो जाता है वह इह-परलोकादि भयों से रहित होकर आशा से—इहलोक और परलोक विषयक सुखाभिलाषा से—भी रहित हो जाने के कारण ध्यान में अतिशय स्थिर हो जाता है (३०-३४)।

२ **देश**—यह एक साधारण नियम है कि मुनि का स्थान सदा ही युवतिजन, पशु, नपुंसक और कुशील (जुवारी आदि) जनों से रहित होना चाहिए। ऐसी स्थिति में ध्यान के समय तो उसका वह स्थान विशेषरूप से निर्जन (एकान्त) कहा गया है। किन्तु इतना विशेष है कि जो संहनन व धैर्य से बलिष्ठ हैं, ज्ञानादि भावनाओं के व्यापार में अभ्यस्त हैं, तथा जिनका मन अतिशय स्थिरता को प्राप्त कर चुका है, उनके लिए उक्त प्रकार से स्थानविशेष का कोई नियम नहीं है—वे जनों से संकीर्ण गांव में और निर्जन वन में भी निर्बाध रूप से ध्यान कर सकते हैं। ध्याता के लिए वही स्थान उपयुक्त माना गया है जहां मन, वचन एवं काय योगों को समाधान प्राप्त होता है तथा जो प्राणिहिंसादि से विरहित होता है (३५-३७)।

३ **काल**—स्थान के विषय में जो कुछ कहा गया है वही काल के विषय में भी समझना चाहिए। अर्थात् ध्यान के लिए काल भी वही उपयोगी होता है जिसमें योगों को उत्तम समाधान प्राप्त होता है। इसके सिवाय काल के विषय में ध्याता के लिए दिन व रात्रि आदि का कोई विशेष नियम नहीं निर्दिष्ट किया गया (३८)।

४ **आसनविशेष**—अभ्यास में आयी हुई जो भी आसन आदि रूप शरीर की अवस्था ध्यान में बाधक नहीं होती है उसमें स्थित रहते हुए कायोत्सर्ग, पद्मासन अथवा वीरासन आदि से ध्यान करना योग्य है। कारण यह कि देश, काल और आसन आदि रूप सभी अवस्थाओं में वर्तमान होते हुए मुनि जनों ने पाप को शान्त करके उत्कृष्ट केवलज्ञान आदि को प्राप्त किया है। यही कारण है जो आगम में ध्यान के योग्य देश, काल और आसनविशेष का कोई नियम नहीं निर्दिष्ट किया गया। किन्तु वहां इतना मात्र कहा गया है कि जिस प्रकार से भी ध्यान के समय योगों को समाधान प्राप्त होता है उसी प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए (३९-४१)।

५ **आलम्बन**—वाचना, प्रच्छना (प्रश्न), परावर्तना और अनुचिन्ता तथा सामायिक आदि सद्धर्मावश्यक ये ध्यान के आलम्बन कहे गये हैं। जिस प्रकार किसी बलवती रस्सी आदि का सहारा लेकर मनुष्य विषम (दुर्गम) स्थान पर पहुंच जाता है उसी प्रकार ध्याता भी सूत्र आदि—पूर्वोक्त वाचना आदि का—आश्रय लेकर उत्तम ध्यान पर आरूढ़ होता है (४२-४३)।

६ **क्रम**—क्रम का विचार करते हुए यहां लाघव पर दृष्टि रखकर धर्मध्यान के साथ शुक्लध्यान के भी क्रम का निरूपण कर दिया गया है। उसके प्रसंग में यह कहा गया है कि केवलियों के मुक्ति की

प्राप्ति में जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहता है तब वे जो क्रम से मनयोग आदि का निग्रह करते हैं, यही शुक्लध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम है। शेष धर्मध्यानियों के ध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम समाधि के अनुसार—जैसे भी स्वस्थता प्राप्त होती है तदनुसार—जानना चाहिए (४४)।

७ **ध्यातव्य** - ध्यातव्य का अर्थ ध्यान के योग्य विषय (ध्येय) है। वह आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के भेद से चार प्रकार का है। इनके चिन्तन से क्रमशः धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद हो जाते हैं। नय, भंग, प्रमाण और गम (चतुर्विंशतिदण्डक आदि) से गम्भीर ऐसे कुछ सूक्ष्म पदार्थ हैं जिनका परिज्ञान मन्दबुद्धि जनों को नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में यदि उसे बुद्धि की मन्दता से, यथार्थ वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक आचार्यों के अभाव से, जानने योग्य धर्मास्तिकाय आदि की गम्भीरता (दुरवबोधता) से, ज्ञानावरण के उदय से तथा हेतु और उदाहरण के असम्भव होने से यदि जिज्ञासित पदार्थ का ठीक से बोध नहीं होता हैं तो बुद्धिमान् धर्मध्यानी को यह विचार करना चाहिए कि सर्वज्ञ का मत—वचन (जिनाज्ञा)—असत्य नहीं हो सकता। कारण यह कि प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखनेवाले जिन भगवान् सर्वज्ञ होकर राग, द्वेष और मोह को जीत चुके हैं—उनसे सर्वथा रहित हो चुके हैं; अतएव वे वस्तुस्वरूप का अन्यथा (विपरीत) कथन नहीं कर सकते। इस प्रकार से वह प्राणिमात्र के लिए हितकर जिनवचन (जिनाज्ञा) के विषय में विचार करता है (४५-४९)।

जो प्राणी राग, द्वेष, कषाय और आस्रव आदि क्रियाओं में प्रवर्तनमान हैं वे इस लोक और परलोक दोनों ही लोकों में अनेक प्रकार के अपायों (दुःखों) को प्राप्त होनेवाले हैं। धर्मध्यानी वर्जनीय अकार्य का परित्याग करता हुआ उक्त अपायों के विषय में विचार किया करता है (५०)।

विपाक का अर्थ कर्म का उदय है। मन, वचन व काय योगों से तथा मिथ्यादर्शनादि रूप जीवगुणों के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाला कर्म का विपाक प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाव के भेद से भेद को प्राप्त है। इनमें प्रत्येक शुभ और अशुभ (पुण्य-पाप) इन दो में विभक्त है; इत्यादि प्रकार से धर्मध्यानी कर्म के विपाक के विषय में विचार किया करता है (५१)।

ध्यातव्य के चतुर्थ भेद (संस्थान) का निरूपण करते हुए यहां यह कहा गया है कि धर्मध्यानी द्रव्यों के लक्षण, संस्थान, आसन (आधार), भेद, प्रमाण और उत्पादादि पर्यायों का विचार करता हुआ धर्मादि पांच अस्तिकाय स्वरूप लोक की स्थिति का भी विचार करता है। इसके अतिरिक्त जीव जो उपयोग स्वरूप, अनादिनिधन, शरीर से भिन्न, अमूर्तिक और अपने कर्म का कर्ता व भोक्ता है उसका विचार करता है तथा अपने ही कर्म के वश जो उसका संसार में परिभ्रमण हो रहा है उससे उसका किस प्रकार से उद्धार हो सकता है, इत्यादि का भी गम्भीर विचार करता है। यहां संसार को समुद्र की उपमा देकर दोनों की समानता का अच्छा चित्रण किया गया है (५२-६२)।

८ **ध्याता**—ध्याता के प्रसंग में कहा गया है कि प्रकृत धर्मध्यान के ध्याता सब प्रमादों से रहित—अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती—मुनि और क्षीणमोह (क्षपक निर्ग्रन्थ) एवं उपशान्तमोह (उपशमक निर्ग्रन्थ) होते हैं (६३)।

इस धर्मध्यान के ही प्रसंग में लाघव की अपेक्षा रखकर शुक्लध्यान के भी ध्याता का विचार करते हुए यह कहा गया है कि जो ये धर्मध्यान के ध्याता हैं वे ही अतिशय प्रशस्त संहनन से युक्त होते हुए पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार इन दो शुक्लध्यानों के भी ध्याता होते हैं। विशेष इतना है कि वे चौदह पूर्वों के पारगामी होते हैं। शेष दो शुक्लध्यानों के—सूक्ष्मक्रियानिवर्ति और व्युच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति के—ध्याता क्रम से सयोगकेवली और अयोगकेवली होते हैं (६४)।

९ **अनुप्रेक्षा**—इसके प्रसंग में यह कहा गया है कि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ध्यानकाल के समाप्त हो जाने पर जब धर्मध्यान विनष्ट हो जाता है तब पूर्व में उस धर्मध्यान से जिसका चित्त सुसंस्कृत हो चुका

है वह मुनि ध्यान के उपरत हो जाने पर भी सदा अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन में तत्पर होता है (६५)।

१० लेश्या—धर्मध्यानी के क्रम से उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होनेवाली पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन प्रशस्त लेश्यायें हुआ करती हैं जो तीव्र, मन्द व मध्यम भेदों से युक्त होती हैं (६६)।

११ लिंग—धर्मध्यानी का परिचय किन हेतुओं के द्वारा होता है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आगम, उपदेश, आज्ञा और निसर्ग से जो जिनोपदिष्ट पदार्थों का श्रद्धान होता हैं उससे तथा जिनदेव, साधु और उनके गुणों के कीर्तन आदि से उक्त धर्मध्यानी का बोध हो जाता है (६७-६८)।

१२ फल—धर्मध्यान के फल का निर्देश यहां न करके लाघव की दृष्टि से उसका निर्देश आगे शुक्लध्यान के प्रकरण (गा. ९३) में किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त भावना आदि बारह अधिकारों के आश्रय से यहां (६८) धर्मध्यान की प्ररूपणा ससाप्त हो जाती है।

४ शुक्लध्यान—

जिन पूर्वोक्त भावना आदि बारह अधिकारों के द्वारा धर्मध्यान की प्ररूपणा की गई है उन बारह अधिकारों की अपेक्षा प्रस्तुत शुक्लध्यान की प्ररूपणा में भी रही है। उनमें से भावना, देश, काल और आसनविशेष इन चार अधिकारों में उसकी धर्मध्यान से कुछ विशेषता नहीं रही है। इसलिए उनकी प्ररूपणा न करके यहां शेष आवश्यक अधिआरों के ही आश्रय से शुक्लध्यान का निरूपण किया गया है। यथा—

५ आलम्बन—क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति ये यहां शुक्लध्यान के आलम्बन निर्दिष्ट किये गये हैं (६९)।

६ क्रम—पृथक्त्ववितर्क सविचार, एकत्ववितर्क अविचार, सूक्ष्मक्रियानिर्वाति और व्युच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति के भेद से शुक्लध्यान चार प्रवार का है। इनमें प्रथम दो शुक्लध्यानों के क्रम का निरूपण धर्मध्यान के प्रकरण (४४) में किया जा चूका है। इसलिए उन्हें छोड़कर अन्तिम दो शुक्लध्यानों के क्रम का विचार करते हुए यहां यह कहा गया है कि मन का विषय जो तीनों लोक है उसका छद्मस्थ ध्याता क्रम से संक्षेप (संकोच) करता हुआ उस मन को परमाणु में स्थापित करता है और अतिशय स्थिरतापूर्वक ध्यान करता है। तत्पश्चात् केवली जिन उसे परमाणु से भी हटाकर उस मन से सर्वथा रहित होते हुए अन्तिम दो शुक्लध्यानों के ध्याता हो जाते हैं। वह किस प्रकार से उस मन के विषय का संक्षेप कर उसे परमाणु में स्थापित करता है तथा उससे भी फिर उसे किस प्रकार से हटाता है, इसे आगे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार समस्त शरीर में व्याप्त विष को मंत्र के द्वारा डंक में रोक दिया जाता है और तत्पश्चात् उसे अतिशय प्रधान मंत्र के योग से उस डंकस्थान से भी हटा दिया जाता है उसी प्रकार तीनों लोकरूप शरीर में व्याप्त मनरूप विष को ध्यानरूप मंत्र के बल से युक्त ध्याता डंकस्थान के समान परमाणु में रोक देता है और तत्पश्चात् जिनरूप वैद्य (मांत्रिक) उसे उस परमाणु से भी हटा देता है। आगे इसी बात को अग्नि और जल के दृष्टान्तों द्वारा भी पुष्ट किया गया है। इस प्रकार मन का निरोध हो जाने पर फिर क्रम से बचनयोग और काययोग का भी निरोध करके वह शैल के समान स्थिर होता हुआ शैलेशी केवली हो जाता है (७०-७६)।

७ ध्यातव्य—शुक्लध्यान के ध्येय का विचार करते हुए यहां यह कहा गया है कि पृथक्त्ववितर्क सविचार नामक प्रथम शुक्लध्यान में ध्याता पूर्वगत श्रुत के अनुसार अनेक नयों के आश्रय से आत्मादि किसी एक वस्तुगत उत्पाद, स्थिति और भंग (व्यय) रूप पर्यायों का विचार करता है। इस ध्यान में चूंकि अर्थ से अर्थान्तर, व्यंजन (शब्द) से व्यंजनान्तर और विवक्षित योग से योगान्तर में संक्रमण होता है; इसलिए उसे सविचार कहा गया है। वह वीतराग के हुआ करता है (७७-७८)।

एकत्ववितर्क अविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान में ध्याता उपर्युक्त उत्पादादि पर्यायों में से किसी एक ही पर्याय का विचार करता है। इस ध्यान में चित्त वायु के संचार से रहित दीपक के समान स्थिर

हो जाता है। इस ध्यान में चूंकि अर्थ से अर्थान्तर आदि का संक्रमण नहीं होता, इसलिए उसे अविचार कहा गया है। प्रथम शुक्लध्यान के समान इसमें भी श्रुत का आलम्बन रहता है (७९-८०)।

जो योगों का कुछ निरोध कर चुका है तथा जिसके उच्छ्वास-निःश्वास रूप सूक्ष्म काय की क्रिया ही शेष रही है ऐसे केवली के जब मुक्ति की प्राप्ति में अन्तर्मुहूर्त मात्र ही शेष रहता है तब उनके सूक्ष्म-क्रियानिवर्ति नाम का तीसरा शुक्लध्यान होता है (८१)।

शैल के समान अचल होकर शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए उन्ही केवली के व्युच्छिन्नक्रिया-प्रतिपाति नाम का चौथा परम शुक्लध्यान होता है (८२)।

ये चारों शुक्लध्यान योग की अपेक्षा किनके होते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि प्रथम शुक्लध्यान एक योग अथवा सब योगों में होता है, दूसरा शुक्लध्यान तीनों योगों में से किसी एक योग में होता है, तीसरा शुक्लध्यान काययोग में होता है; तथा चौथा शुक्लध्यान योगों से रहित हो जाने पर अयोगी जिन के होता है (८३)।

यहां यह आशंका हो सकती थी कि केवली के जब मन का अभाव हो चुका है तब उनके तीसरा और चौथा शुक्लध्यान कैसे सम्भव है, क्योंकि मनविशेष का नाम ही तो ध्यान है? इस आशंका के समाधानस्वरूप आगे यह कहा गया है कि जिस प्रकार छद्मस्थ के अतिशय निश्चल मन को ध्यान कहा जाता है उसी प्रकार केवली के अतिशय निश्चल काय को ध्यान कहा जाता है, कारण यह कि योग की अपेक्षा उन दोनों में कोई भेद नहीं है। इस पर पुनः यह आशंका हो सकती थी कि अयोग केवली के तो वह (काययोग) भी नहीं रहा, फिर उनके व्युच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति नाम का चौथा शुक्लध्यान कैसे माना जा सकता है? इसके परिहार स्वरूप आगे यह कहा गया है कि पूर्वप्रयोग, कर्मनिर्जरा का सद्भाव, शब्दार्थ-बहुतता और जिनचन्द्रागम; इन हेतुओं के द्वारा सयोग और अयोग केवलियों के चित्त का अभाव हो जाने पर भी जीवोपयोग का सद्भाव बना रहने से क्रमशः सूक्ष्मक्रियानिवर्ति और व्युच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ये दो शुक्लध्यान कहे जाते हैं (८४-८६)।

८ **ध्याता**— शुक्लध्यान के ध्याताओं का कथन धर्मध्यान के प्रकरण (६३-६४) में किया जा चुका है।

९ **अनुप्रेक्षा**—शुक्लध्यानी ध्यान के समाप्त हो जाने पर भी आस्रवद्वारापाय, संसाराशुभानुभाव, अनन्तभवसन्तान और वस्तुविपरिणाम इन चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है (८७-८८)।

१० **लेश्या**— प्रथम दो शुक्लध्यान शुक्ललेश्या में और तीसरा परम शुक्ललेश्या में होता है। चौथा शुक्लध्यान लेश्या से रहित है (८९)।

११ **लिंग**— अवधा, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग ये चार शुक्लध्यान के लिंग कहे गये हैं। परीषह और उपसर्ग के द्वारा न ध्यान से विचलित होना और न भयभीत होना, यह अवधालिंग है। सूक्ष्म पदार्थों और देवनिर्मित माया में मूढ़ता को प्राप्त न होना, यह असम्मोह का लक्षण है। आत्मा को शरीर से भिन्न समझना तथा सब संयोगों को देखना, इसका नाम विवेक है। निःसंग होकर शरीर और उपधिका परित्याग करना, इसे व्युत्सर्ग कहा जाता है (९०-९२)।

१२ **फल**—शुक्लध्यान के फल का विचार करते हुए यहां कहा गया है कि शुभास्रव, संवर, निर्जरा और देवसुख ये जो शुभानुबन्धी धर्मध्यान के फल हैं विशेषरूप से वे ही शुभ आस्रव आदि और अनुपम देवसुख ये प्रथम दो शुक्लध्यानों के फल हैं। अन्तिम दो शुक्लध्यानों का फल निर्वाण की प्राप्ति है (९३-९४)।

इस प्रकार शुक्लध्यान की प्ररूपणा को समाप्त करते हुए धर्म और शुक्ल ध्यान निर्वाण के कारण क्यों और किस प्रकार से हैं, इसे विविध दृष्टान्तों द्वारा सिद्ध किया गया है (९५-१०२)।

अन्त में ध्यान के द्वारा इस लोक सम्बन्धी भी शारीरिक और मानसिक दुख दूर होते हैं, यह

बतलाते हुए सब गुणों के आधारभूत और दृष्ट-अदृष्ट सुख के साधक ऐसे प्रशस्त ध्यान के श्रद्धान, ज्ञान और चिन्तन की प्रेरणा की गई है (१०३-५)।

ध्यान का महत्त्व

सब ही प्राणी सुख के अभिलाषी हैं और दुख को कोई भी नहीं चाहता[1]। पर वह सुख क्या और कहां है तथा उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है, इसका विवेक अधिकांश को नहीं रहता है। इसी से वे जो वस्तुतः सुख-दुःख के कारण नहीं हैं उन बाह्य पदार्थों में सुख-दुःख की कल्पना करके राग, द्वेष व मोह के वशीभूत होते हुए कर्म से सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार कर्मबन्धन में बद्ध होकर वे सुख के स्थान में दुःख का ही अनुभव किया करते हैं। अज्ञानी प्राणी जिसे सुख मानता है वह यथार्थ में सुख नहीं, किन्तु सुख का आभास मात्र है। ऐसे इन्द्रियजनित क्षणिक सुख के विषय में यह ठीक ही कहा गया है[2]—वह काल्पनिक सुख प्रथम तो सातावेदनीय आदि पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त होता है, अतः पराधीन है। दूसरे, पुण्य कर्म के संयोग से यदि वह प्राप्त भी हुआ तो वह जब तक पुण्य का उदय है तभी तक सम्भव है, बाद में नियम से नष्ट होने वाला है। तीसरे, उसकी उत्पत्ति दुःखों से व्यवहित है[3]। उस सुख के अनन्तर पुनः अनिवार्य दुःख प्राप्त होने बाला है। कारण यह कि पुण्य कर्म के क्षीण हो जाने पर दुःख के कारणभूत पाप का उदय अवश्यंभावी है। इसके अतिरिक्त वह आसक्ति और तृष्णा का बढ़ाने वाला होने से पापास्रव का भी कारण है[4]। अतएव ऐसे दुःखमिश्रित सुख को अश्रद्धेय कहा गया है।

तब यथार्थ सुख कौन हो सकता है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसके समाधान स्वरूप यह कहा गया है कि जिसमें असुख (दुःख) का लेश भी नहीं है उसे ही यथार्थ सुख समझना चाहिए[5]। ऐसा सुख जीव को कर्मबन्धन से रहित हो जाने पर मुक्ति में ही प्राप्त हो सकता है[6], जन्म-मरणरूप संसार में वह सम्भव नहीं है। उस मुक्ति के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं; जिन्हें समस्त रूप में मोक्ष का मार्ग माना गया है। निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार के उस मोक्षमार्ग की प्राप्ति का कारण ध्यान है, अतएव मुक्ति प्राप्ति के लिए उस ध्यान के अभ्यास की जहां तहां प्रेरणा की गई है[7]।

प्रस्तुत ध्यानशतक में भी कहा गया है कि ध्यान तप का प्रमुख का कारण है, वह तप संवर व

---

१. दुःखाद् बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ।। आत्मानु. २.

२. कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्थाश्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ।। रत्नक. १२.

३. दुःखस्यानन्तरं सौख्यं ततो दुखं हि देहिनाम् ।। क्षत्रचू. ४-३६.

४. तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ।। स्वयम्भू. १७-२.
यत्तु सांसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतम् । स्व-परद्रव्यसम्भूतं तृष्णा-सन्तापकारणम् ।।
मोह-द्रोह-मद-क्रोध-माया-लोभनिबन्धनम् ।
दुःखकारणबन्धस्य हेतुत्वाद् दुःखमेव तत् ।। तत्त्वानु. २४३-४४.

५. स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत् सुखं यत्र नासुखम् ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नाऽऽगतिः ।। आत्मानु. ४३.

६. आत्मायत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरम् ।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत् तन्मोक्षसुखं विदुः ।। तत्त्वानु. २४२.

७. दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ।। द्रव्यसं. ४७.

निर्जरा का कारण है, तथा वे संवर व निर्जरा मुक्ति के कारण हैं। इस प्रकार परम्परा से मुक्ति का कारण वह ध्यान ही है (९६)। जिस प्रकार अग्नि चिरसंचित इन्धन को भस्मसात् कर देती है उसी प्रकार ध्यान चिरसंचित कर्मरूप इन्धन को भस्मसात् कर देता है। अथवा जिस प्रकार वायु के आघात से मेघों का समूह विलय को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार ध्यानरूप वायु के आघात से कर्मरूप मेघसमूह क्षण-भर में विलीन हो जाता है। इतना ही नहीं, ध्याता उस ध्यान के प्रभाव से इस लोक में मानसिक और शारीरिक दुखों से भी सन्तप्त नहीं होता (१०१-४)। इस प्रकार ध्यान में अपूर्व सामर्थ्य है।

ध्यान पर आरूढ़ हुआ ध्याता चूंकि इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष और मोह से रहित हो जाता है; इसलिए उसके जहां नवीन कर्मों के आगमन (आस्रव) का निरोध होता है वहां उस ध्यान से उद्दीप्त तप के प्रभाव से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा भी होती है। इस प्रकार वह ध्यान परम्परा से निर्वाण का कारण है[1]।

ध्यान के स्वामी

ध्यानशतक में तत्त्वार्थसूत्र के समान ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमें से प्रत्येक के भी चार चार भेद कहे गये हैं।

आर्तध्यान—

उनमें चारों प्रकार का आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक सम्भव है, यह अभिप्राय तत्त्वार्थसूत्र[2] और ध्यानशतक (१८) दोनों में ही प्रगट किया गया है।

आ. पूज्यपाद विरचित तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में प्रकृत सूत्र को स्पष्ट करते हुए यह विशेषता प्रगट की गई है कि अविरतों—असंयतसम्यग्दृष्टि तक—और देशविरतों के वह चारों प्रकार का आर्तध्यान होता है, क्योंकि वे सब असंयम परिणाम से सहित होते हैं। परन्तु प्रमत्तसंयतों के प्रमाद के उदय की तीव्रता से कदाचित् निदान को छोड़कर शेष तीन आर्तध्यान होते हैं[3]।

तत्त्वार्थवार्तिक में इस प्रसंग में इतना मात्र कहा गया है कि निदान को छोड़कर शेष तीन आर्त-ध्यान प्रमाद के उदय की तीव्रता से प्रमत्तसंयतों के कदाचित् हुआ करते हैं। सूत्र की स्थिति को देखते हुए यह स्वयं प्रगट है कि प्रथम तीन आर्तध्यान प्रमत्तसंयतों तक कदाचित् होते हैं, परन्तु निदान प्रमत्त-संयतों के नहीं होता[4]।

मूलाचार, स्थानांग, समवायांग और औपपातिकसूत्र में किसी भी ध्यान के स्वामियों का उल्लेख नहीं किया गया है।

हरिवंशपुराण में सामान्य से इतना मात्र निर्देश किया गया है कि वह आर्तध्यान छह गुणस्थान भूमिवाला है—छह गुणस्थानों में सम्भव है[5]।

ज्ञानार्णव में उसका हरिवंशपुराण के समान सामान्य से 'षड्गुणस्थानभूमिक' ऐसा निर्देश करके

---

१. मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥ द्र. सं. ४८.

२. तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानाम्। त. सू. (दि.) ९-३४, श्वे. ९-३५.

३. तत्राविरत-देशविरतानां चतुर्विधमार्तं भवति, असंयमपरिणामोपेतत्वात्। प्रमत्तसंयतानां तु निदान-वर्ज्यमन्यदार्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात् कदाचित् स्यात्। स. सि. ९-३४.

४. कदाचित् प्राच्यमार्तध्यानत्रयं प्रमत्तानाम्। निदानं वर्जयित्वा अन्यदार्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात् कदा-चित् प्रमत्तसंयतानां भवति। त. वा. ९, ३४, १.

५. अधिष्ठानं प्रमादोऽस्य तिर्यग्गतिफलस्य हि।
परोक्षं मिश्रको भावः षड्गुणस्थानभूमिकम्॥ ५६-१८.

भी आगे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संयतासंयतों में तो वह चारों प्रकार का आर्तध्यान होता है, परन्तु प्रमत्तसंयतों के वह निदान से रहित शेष तीन प्रकार का होता है[1]।

रौद्रध्यान—

रौद्रध्यान के स्वामियों का निर्देश करते हुए उसका अस्तित्व तत्त्वार्थसूत्र (९-३५), सर्वार्थसिद्धि (९-६५), तत्त्वार्थवार्तिक (९-३५), ध्यानशतक (२३), हरिवंशपुराण (५६-२६) और ज्ञानार्णव (३६, पृ. २६९) आदि प्रायः सभी ग्रन्थों में प्रथम पांच गुणस्थानों में निर्दिष्ट किया गया है।

धर्मध्यान—

धर्म्यध्यान के स्वामियों के विषय में परस्पर काफी मतभेद रहा है। यथा—तत्त्वार्थाधिगमभाष्य सम्मत सूत्रपाठ के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में अप्रमत्तसंयत, उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के उसका सद्भाव प्रगट किया गया है[2]। यहां सूत्र में उपयुक्त 'अप्रमत्तसंयतस्य' इस एकवचनान्त पद से ऐसा प्रतीत होता है कि उससे केवल सातवें गुणस्थान को ही ग्रहण किया गया है। आगे उल्लिखित उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय शब्दों से ग्यारहवां और बारहवां ये दो गुणस्थान विवक्षित रहे दिखते हैं। ऐसी अवस्था में मध्य के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानों में कौनसा ध्यान होता है, यह विचारणीय है। कारण यह कि इसे न तो मूल सूत्र में स्पष्ट किया गया है और न उसके भाष्य में भी।

ध्यानशतक (६३) में भी लगभग यही कहा गया है। परन्तु वहां 'सव्वप्पमायरहिया मुणओ' ऐसा जो बहुवचनात्मक निर्देश किया गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार को समस्त प्रमादों से रहित—अप्रमत्तसंयत से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय पर्यन्त—सभी मुनि धर्मध्यान के स्वामी अभिप्रेत रहे हैं। आगे उपशान्तमोह और क्षीणमोह का पृथग्रूप में जो निर्देश किया गया है उससे सयोग और अयोग केवलियों की व्यावृत्ति हो जाती है। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने क्षीणमोह से क्षपक निर्ग्रन्थों और उपशान्तमोह से उपशमक निर्ग्रन्थों को ग्रहण किया है। इस प्रकार से भी पूर्वोक्त अपूर्वकरणादि उक्त तीन गुणस्थानों का ग्रहण हो जाता है।

सर्वार्थसिद्धिसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में धर्म्यध्यान के स्वामिविषयक कुछ उल्लेख नहीं किया गया, उसमें मात्र धर्म्यध्यान के भेदों का सूचक स्वरूप मात्र कहा गया है[3]। वहां आर्त, रौद्र और शुक्ल इन तीन ध्यानों के स्वामियों का निर्देश करने पर भी धर्म्यध्यान के स्वामियों का निर्देश क्यों नहीं किया गया, यह विचारणीय है। हां, यह अवश्य है कि उस सूत्र के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि में यह निर्देश किया गया है कि उक्त धर्म्यध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन चार के होता है[4]। बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका में उसका अस्तित्व इन्हीं चार गुणस्थानों में स्वीकार किया गया है[5]। इसी प्रकार अमितगतिश्रावकाचार (१५-१७) में भी उसका सद्भाव इन्हीं चार गुणस्थानों में बतलाया गया है।

---

१. अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे। विद्धचसद्धचानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम्॥
संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भेदं प्रजायते। प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा॥ ३८-३९, पृ. २६०.

२. आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। उपशान्त-क्षीणकषाययोश्च।
त. सू. ९, ३७-३८.

३. आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम्। त. सू. ९-३६.

४. तदविरत-देशविरत-प्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति। स. सि. ९-३६.

५. अतः परम् आर्त-रौद्रपरित्यागलक्षणमाज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयसंज्ञं चतुर्भेदभिन्नं तारतम्यवृद्धिक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयताप्रमत्ताभिधानचतुर्गुणस्थानवर्तिजीवसम्भवम्। बृहद्द्र. टी. ४८, पृ. १७५.

तत्त्वार्थवार्तिक में धर्म्यध्यान के स्वामियों का पृथक् से स्पष्ट निर्देश तो उस प्रसंग में नहीं किया गया, जैसा कि सर्वार्थसिद्धि में किया गया है। परन्तु वहां शंका के रूप में यह कहा गया है कि उक्त धर्म्यध्यान अप्रमत्तसंयत के होता है। उसका समाधान करते हुए यह कहा गया है कि ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर अप्रमत्त के पूर्ववर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि आदि तीन गुणस्थानों में उसके अभाव का प्रसंग दुर्निवार होगा। पर सम्यक्त्व के प्रभाव से इन तीन गुणस्थानों में भी वह होता है। इसके बाद वहां यह दूसरी शंका उठायी गई है कि उक्त धर्म्यध्यान पूर्व गुणस्थानवर्तियों के ही नहीं, बल्कि उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के भी होता है। इस शंका के समाधान में कहा गया है कि यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर इन दो गुणस्थानों में जो शुक्लध्यान का अस्तित्व स्वीकार किया गया है उसके वहां अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। इस पर यदि यह कहा जाय कि उनके धर्म्य और शुक्ल ये दोनों ही ध्यान हो सकते हैं, तो यह भी संगत नहीं है; क्योंकि पूर्व (धर्म्य) ध्यान उनके नहीं माना गया है। आर्ष में उसे उपशमक और क्षपक दोनों श्रेणियों में नहीं माना जाता, किन्तु उनके पूर्ववर्ती गुणस्थानों में माना जाता है[1]। यहां अगले सूत्र (९-३७) की उत्थानिका में यह सूचना अवश्य की गई है कि वह अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतों के होता है।

धवला में जो प्रकृत धर्म्यध्यान के स्वामिविषयक उल्लेख किया गया है वह बहुत स्पष्ट है। वहां यह शंका उठायी गई है कि धर्म्यध्यान सकषाय जीवों में ही होता है, यह कैसे जाना जाता है? इस शंका के समाधान में यह कहा गया है कि धर्म्यध्यान की प्रवृत्ति असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वसंयत, अनिवृत्तिसंयत और सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपकों व उपशमकों में होती है; इस जिन देव के उपदेश से वह जाना जाता है[2]।

हरिवंशपुराण में उक्त धर्म्यध्यान के स्वामियों के प्रसंग में इतना मात्र कहा गया है कि प्रमाद के अभाव में उत्पन्न होने वाला वह अप्रमत्तगुणस्थानभूमिक है—अप्रमत्तगुणस्थान तक होता है। यहां यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि वह प्रथम से सातवें गुणस्थान तक होता है, अथवा चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है, अथवा एक मात्र सातवें गुणस्थान में ही होता है। यहां पूर्व में आर्तध्यान के प्रसंग में भी 'षड्गुणस्थानभूमिक' (५६-१८) ऐसा निर्देश करके उसका अस्तित्व प्रथम से छठे गुणस्थान तक प्रगट किया गया है[3]।

आदिपुराण में उक्त धर्म्यध्यान की स्थिति को आगमपरम्परा के अनुसार सम्यग्दृष्टियों, संयतासंयतों और प्रमत्तसंयतों में स्वीकार करते हुए उसका परम प्रकर्ष अप्रमत्तों में माना गया है[4]।

तत्त्वानुशासन में धर्म्यध्यान के स्वामियों के प्रसंग में प्रथमतः यह निर्देश किया गया है कि तत्त्वार्थ[5] में उसके स्वामी अप्रमत्त, प्रमत्त, देशसंयत और सम्यग्दृष्टि ये चार माने गये हैं। तदनन्तर वहां उक्त धर्म्यध्यान को मुख्य और उपचार के भेद से दो प्रकार का बतलाते हुए यह कहा गया है कि मुख्य धर्म्यध्यान अप्रमत्तों में और औपचारिक इतरों में—सम्यग्दृष्टि, देशसंयत और प्रमत्तसंयतों में—होता है[6]।

---

१. त. वा. ९, ३६, १४-१६.

२. असंजदसम्मादिट्ठि-संजदासंजद-पमत्तसंजद-अप्पमत्तसंजद-अपुव्वसंजद-अणियट्टिसंजद - सुहुमसांपराइय - खवगोवसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो। धव. पु. १३, पृ. ७४.

३. अप्रमत्तगुणस्थानभूमिकं ह्यप्रमादजम्। पीत-पद्मलसल्लेश्याबलाधानमिहाखिलम्॥ ह. पु. ५६-५१.

४. आ. पु. २१, १५५-५६.

५. 'तत्त्वार्थ' से क्या अभिप्रेत रहा है, यह वहां स्पष्ट नहीं है। स्व. श्री पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार ने उसके भाष्य में 'तत्त्वार्थ' शब्द से 'तत्त्वार्थवार्तिक' को ग्रहण किया है। पृ. ४९.

६. अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः। धर्म्यध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः॥ ४६. मुख्योपचारभेदेन धर्म्यध्यानमिह द्विधा। अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकम्॥ ४७.

आगे वहां यह भी कहा गया है कि जो मन से स्थिर है वह विकल श्रुत से भी उसका ध्याता होता है तथा प्रबुद्धधी—प्रकृष्ट ज्ञानी—दोनों श्रेणियों के नीचे उसका ध्याता माना गया है। यह आदिपुराण (२१-१०२) का अनुसरण है[1]। 'दोनों श्रेणियों के नीचे' इससे क्या अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं है। दोनों श्रेणियों से पूर्ववर्तियों के उक्त धर्म्यध्यान के अस्तित्व की सूचना वहां आगे फिर से भी की गई है[2]।

अमितगतिश्रावकाचार में उक्त धर्म्यध्यान का सद्भाव सर्वार्थसिद्धि के समान असंयतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में ही निर्दिष्ट किया गया है[3]।

ज्ञानार्णव में उसके स्वामियों के प्रसंग में यह कहा गया है कि उसके स्वामी मुख्य और उपचार के भेद से यथायोग्य अप्रमत्त और प्रमत्त ये दो मुनि माने गये हैं[4]। आगे वहां आदिपुराण और तत्त्वानुशासन के समान यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि सूत्र (आगम) में उसका स्वामी विकल श्रुत से भी युक्त कहा गया है, अधःश्रेणि में प्रवृत्त हुआ जीव धर्म्यध्यान का स्वामी सुना गया है[5]।

आगे यहां यह भी निर्देश किया गया है कि कुछ आचार्य यथायोग्य हेतु से सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक उक्त धर्म्यध्यान के चार स्वामियों को स्वीकार करते हैं[6]।

ध्यानस्तव में लगभग आदिपुराण और तत्त्वानुशासन के समान धर्म्यध्यान के स्वामियों का निर्देश करते हुए कहा गया है कि उपशमक और क्षपक श्रेणियों से पहिले अप्रमत्त गुणस्थान में मुख्य धर्म्यध्यान होता है तथा असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत इन तीन में वह गौण होता है। आगे यहां यह भी कहा गया है कि अतिशय विशुद्धि को प्राप्त वह धर्म्यध्यान ही शुक्लध्यान होता हुआ दोनों श्रेणियों में होता है (१५-१६)। तत्त्वानुशासन में जहां 'इतरेषु' पद के द्वारा असंयतसम्यग्दृष्टि आदि तीन का संकेत किया गया है वहां प्रकृत ध्यानस्तव में कुछ स्पष्टता के साथ 'प्रमत्तादित्रये' पद के द्वारा उन तीन—प्रमत्तसंयत, संयतासंयत और असंयतसम्यग्दृष्टि—की सूचना की गई है।

इस प्रकार धर्म्यध्यान के स्वामियों के विषय में पर्याप्त मतभेद रहा है। अधिकांश ग्रन्थकारों ने उसे स्पष्ट न करके उसके प्रसंग में प्रायः उन्हीं शब्दों का उपयोग किया है, जो पूर्व परम्परा में प्रचलित रहे हैं।

शुक्लध्यान—

शुक्लध्यान के स्वामियों के प्रसंग में तत्त्वार्थसूत्र में यह निर्देश किया गया है कि प्रथम दो शुक्ल-

---

१. उक्त दोनों ग्रन्थों का वह श्लोक इस प्रकार है—
श्रुतेन विकलेनापि स्याद् ध्याता मुनिसत्तमः।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥ आ. पु. २१-१०२.
श्रुतेन विकलेनापि ध्याता स्यान्मनसा स्थिरः।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्म्यध्यानस्य सुश्रुतः ॥ तत्त्वानु. ५०.

२. अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तिनाम् ॥ तत्त्वानु. ८३.

३. अनपेतस्य धर्मस्य धर्मतो दशभेदतः। चतुर्थः पंचमः षष्ठः सप्तमश्च प्रवर्तकः ॥ १५-१७.

४. मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौ मतौ।
अप्रमत्त-प्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम् ॥ ज्ञाना. २५, पृ. २८१.

५. श्रुतेन विकलेनापि स्वामी सूत्रे प्रकीर्तितः।
अधःश्रेण्यां प्रवृत्तात्मा धर्म्यध्यानस्य सुश्रुतः ॥ ज्ञाना. २७, पृ. २८१.

६. किं च कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः।
सद्दृष्टाद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ॥ २८, पृ. २८२.

ध्यान श्रुतकेवली के और अन्तिम दो शुक्लध्यान केवली के होते हैं[1]। सूत्र में उपयुक्त 'च' शब्द के आश्रय से सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि श्रुतकेवली के पूर्व के दो शुक्लध्यानों के साथ धर्म्यध्यान भी होता है। विशेष इतना है कि श्रेणि चढ़ने के पहिले धर्म्यध्यान और दोनों श्रेणियों में वे दो शुक्लध्यान होते हैं[2]।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के धर्म्यध्यान के साथ आदि के दो शुक्लध्यान भी होते हैं[3]। यहां भाष्य में यह विशेष सूचना की गई है कि आदि के वे दो शुक्लध्यान पूर्ववेदी के—श्रुतकेवली के—होते हैं[4]। सर्वार्थसिद्धिसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार जहां 'पूर्ववित्' शब्द को मूल सूत्र में ही ग्रहण किया गया है वहां भाष्यसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार उसे मूल सूत्र में नहीं ग्रहण किया गया है, पर उसकी सूचना भाष्यकार ने कर दी है। अन्तिम दो शुक्लध्यान यहां भी केवली के अभीष्ट हैं[5]।

ध्यानशतक में भी यही अभिप्राय प्रगट किया गया है कि पूर्व दो शुक्लध्यानों के ध्याता उपशान्तमोह और क्षीणमोह तथा अन्तिम दो शुक्लध्यानों के ध्याता सयोग केवली और अयोग केवली होते हैं (६४)।

धवला के अनुसार पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान का ध्याता चौदह, दस अथवा नौ पूर्वों का धारक तीन प्रकार के प्रशस्त संहननवाला उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ होता है[6] तथा द्वितीय एकत्ववितर्क-अवीचार शुक्लध्यान का ध्याता चौदह, दस अथवा नौ पूर्वों का धारक वज्रर्षभवज्रनाराचसंहन व अन्यतर संस्थान वाला क्षायिकसम्यग्दृष्टि क्षीणकषाय होता है[7]। विशेष रूप से यहां उपशान्तकषाय गुणस्थान में एकत्ववितर्क-अवीचार और क्षीणकषायकाल में पृथक्त्ववितर्क-वीचार शुक्लध्यान की भी सम्भावना प्रगट की गई है[8]। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्म काययोग में वर्तमान केवली के[9] और चौथा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान योगनिरोध हो जाने पर शैलेश्य अवस्था में[10]—अयोग केवली के—कहा गया है।

हरिवंशपुराण में शुक्ल और परमशुक्ल के भेद से शुक्लध्यान दो प्रकार का कहा गया है। इसमें प्रत्येक दो-दो प्रकार का है—पृथक्त्ववितर्क सवीचार व एकत्ववितर्क अवीचार तथा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती व समुच्छिन्नक्रियानिवर्तक। इनमें प्रथम शुक्लध्यान दोनों श्रेणियों के गुणस्थानों—उपशमश्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय व उप-शान्तमोह तथा क्षपकश्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण,

---

१. शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। परे केवलिनः। त. सू. ९, ३७-३८.

२. च-शब्देन धर्म्यमपि समुच्चीयते। तत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति श्रेण्यारोहणात् प्राग्धर्म्यम्, श्रेण्योः शुक्ले इति व्याख्यायते। स. सि. ९-३७; त. वा. ९, ३७, २३.

३. शुक्ले चाद्ये। त. सू. ९-३९.

४. आद्ये शुक्ले ध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्के पूर्वविदो भवतः। त. भाष्य ९-३९.

५. परे केवलिनः। त. सू. ९-४०.

६. धव. पु. १३, पृ. ७८.

७. धव. पु. १३, पृ. ७९.

८. उवसंतकसायम्मि एयत्तविदक्कावीचारे संते 'उवसंतो दु पुधत्तं' इच्चेदेण विरोहो होदि त्ति णासंकणिज्जं, तत्थ पुधत्तमेवे त्ति णियमाभावादो। ण च खीणकसायद्धाए सव्वत्थ एयत्तविदक्कावीचारज्झाणमेव, जोगपरावत्तीए एगसमयपरूवणण्णहाणुववत्तिबलेण तदद्धादीए पुधत्तविदक्कवीचारस्स वि संभवसिद्धीदो। धव. पु. १३, पृ. ८१.

९. धव. पु. १३, पृ. ८३-८६.

१०. धव. पु. १३, पृ. ८७.

सूक्ष्मसाम्पराय व क्षीणमोह इन गुणस्थानों—में होता है[१]। द्वितीय शुक्लध्यान के स्वामी का कुछ स्पष्ट उल्लेख किया गया नहीं दिखा। सम्भवतः उसे सामान्य से पूर्ववेदी—क्षीणमोह के—अथवा योगनिरोध के पूर्व केवली के कहा गया है[२]। केवली जब तीनों बादर योगों को छोड़कर सूक्ष्मकाययोग का आलम्बन करते हैं तब वे शुक्लसामान्य से तृतीय और विशेषरूप से—परमशुक्ल की अपेक्षा—प्रथम सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान पर आरूढ़ होने के योग्य होते हैं[३]। यह शुक्लध्यान समुद्घात क्रिया के पूर्ण होने तक होता है। तत्पश्चात् द्वितीय परमशुक्ल—समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती शुक्लध्यान—आत्मप्रदेशपरिस्पन्दन, योग और प्राणादि कर्मों के विनष्ट हो जाने पर अयोग केवली के होता है[४]।

आदिपुराण में भी हरिवंशपुराण के समान शुक्लध्यान के शुक्ल और परमशुक्ल ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमें छद्मस्थों के—उपशान्तमोह और क्षीणमोह के—शुक्ल और केवलियों के परमशुक्ल होता है[५]।

तत्त्वानुशासन में शुक्लध्यान का स्वरूप मात्र निर्दिष्ट किया गया है, उसके भेदों व स्वामियों आदि की कुछ चर्चा नहीं की गई है (२२१-२२)।

ज्ञानार्णव में आदिपुराण के समान प्रथम दो शुक्लध्यान छद्मस्थ योगियों के और अन्तिम दो दोषों से निर्मुक्त केवलज्ञानियों के निर्दिष्ट किये गये हैं[६]।

ध्यानस्तव में अतिशय विशुद्धि को प्राप्त धर्म्यध्यान को ही शुक्लध्यान कहा गया है जो दोनों श्रेणियों में—उपशमश्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय तथा क्षपकश्रेणि के भी इन्हीं तीन गुणस्थानों में होता है (१६)। आगे शुक्लध्यान के चार भेदों का निर्देश करते हुए उनमें पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार इन दो शुक्लध्यानों का अस्तित्व क्रम से तीन योगों वाले और एक योगवाले पूर्ववेदी (श्रुतकेवली) के प्रगट किया गया है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान सूक्ष्म शरीर की क्रिया से युक्त सयोग केवली के और चौथा समुच्छिन्नक्रियानिवर्तक शुक्लध्यान समस्त आत्मप्रदेशों की स्थिरता से युक्त अयोग केवली के होता है (१७-२१)।

उपसंहार—

तत्त्वार्थसूत्र आदि अधिकांश ग्रन्थों में सामान्य से यह निर्देश किया गया है कि चारों प्रकार का आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक हो सकता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि कुछ ग्रन्थों में इतना विशेष कहा गया है कि निदान छठे गुणस्थान में नहीं होता।

---

१. शुक्लं तत् प्रथमं शुक्लतर-लेश्याबलाश्रयम्।
श्रेणीद्वयगुणस्थानं क्षयोशमभावकम्। ह. पु. ५४-६३.

२. ह. पु. ५६, ६४-६८.

३. अन्तर्मुहूर्तशेषायुः स यदा भवतीश्वरः।
तत्तुल्यस्थितिवेद्यादित्रितयश्च तदा पुनः।।
समस्तं वाङ्मनोयोगं काययोगं च बादरम्।
प्रहाप्यालम्ब्य सूक्ष्मं तु काययोगं स्वभावतः।।
तृतीयं शुक्लं सामान्यात् प्रथमं तु विशेषतः।
सूक्ष्मक्रियाप्रतीपाति ध्यानमस्कन्तुमर्हति।। ह. पु. ५६, ६९-७१.

४. ह. पु. ५६, ७२-७७.

५. शुक्लं परमशुक्लं चेत्याम्नाये तद् द्विधोदितम्।
छद्मस्थस्वामिकं पूर्वं परं केवलिनां मतम्।। आ. पु. २१-१६७.

६. छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्तिते।
द्वे त्वन्त्ये क्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम्।। ज्ञाना. ७, पृ. ४३१.

रौद्रध्यान की सम्भावना सर्वत्र पांचवें गुणस्थान तक बतलायी गई है।

धर्म्यध्यान—तत्त्वार्थसूत्र में भाष्यसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार इसका सद्भाव अप्रमत्त, उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के बतलाया गया है। ध्यानशतक में भी लगभग यही अभिप्राय प्रगट किया गया है। टीकाकार हरिभद्र सूरि के स्पष्टीकरण से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें उसका सद्भाव उपशमश्रेणि तथा क्षपकश्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानों में भी अभीष्ट है।

सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और अमितगतिश्रावकाचार में उसका सद्भाव अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानों में स्वीकार किया गया है।

धवलाकार उसे असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय तक सात गुणस्थानों में स्वीकार करते हैं।

हरिवंशपुराण में उसके स्वामी के सम्बन्ध में 'अप्रमत्तभूमिक' इतना मात्र संकेत किया गया है। उससे यही अभिप्राय निकाला जा सकता है कि सम्भवतः हरिवंशपुराणकार को उसका अस्तित्व सर्वार्थसिद्धि आदि के समान असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत तक चार गुणस्थानों में अभिप्रेत है।

आदिपुराण में उसे आगमपरम्परा के अनुसार सम्यग्दृष्टियों, संयतासंयतों और प्रमत्तसंयतों में स्वीकार कर उसका परम प्रकर्ष अप्रमत्तों में माना गया है। यही अभिप्राय तत्त्वानुशासनकार का भी रहा है।

ज्ञानार्णव में अप्रमत्त और प्रमत्त ये दो मुनि उसके स्वामी माने गये हैं। मतान्तर से वहां उसका अस्तित्व सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में प्रगट किया गया है।

ध्यानस्तव में असंयतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में उसके अस्तित्व को सूचित करते हुए सम्भवतः यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि प्रकृत धर्म्यध्यान ही अतिशय विशुद्धि को प्राप्त होकर शुक्लध्यानरूपता को प्राप्त होता हुआ दोनों श्रेणियों में भी रहता है। इस प्रकार से ध्यानस्तवकार सम्भवतः प्रकृत धर्म्यध्यान को असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्तकषाय व क्षीणकषाय तक स्वीकार करते हैं, अथवा शुक्लध्यान को वे दोनों श्रेणियों के अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में स्वीकार करते हैं। प्रसंग प्राप्त श्लोक १६ का जो पदविन्यास है उससे ग्रन्थकार का अभिप्राय सहसा विदित नहीं होता है।

शुक्लध्यान—सर्वार्थसिद्धिसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में पूर्व के दो शुक्लध्यान श्रुतकेवली के और अन्तिम दो शुक्लध्यान केवली के स्वीकार किये गये हैं। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक के स्पष्टीकरण के अनुसार उपशमक और क्षपक इन दोनों श्रेणियों में—अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और उपशान्तमोह इन चार उपशामकों के तथा अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और क्षीणमोह इन चार क्षपकों के—क्रम से वे पूर्व के दो शुक्लध्यान होते हैं।

तत्त्वार्थ भाष्यसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में पूर्व के दो शुक्लध्यान धर्मध्यान के साथ उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के तथा अन्तिम दो शुक्लध्यान केवली के निर्दिष्ट किये गये हैं। यही अभिप्राय ध्यानशतककार का भी रहा दिखता है।

धवलाकार के अभिप्रायानुसार प्रथम शुक्लध्यान उपशान्तकषाय के, द्वितीय क्षीणकषाय के, तृतीय सूक्ष्म काययोग में वर्तमान सयोग केवली के और चतुर्थ शैलेश्य अवस्था में अयोग केवली के होता है। आदिपुराणकार और ज्ञानार्णव के कर्ता का भी यही अभिमत रहा है।

हरिवंशपुराणकार के अभिमतानुसार प्रथम शुक्लध्यान दोनों श्रेणियों के गुणस्थानों में, द्वितीय सम्भवतः बादर योगों के निरोध होने तक सयोग केवली के, तृतीय सूक्ष्म काययोग में वर्तमान सयोग केवली के और चतुर्थ अयोगी जिनके होता है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका के अनुसार प्रथम शुक्लध्यान उपशमश्रेणि के अपूर्वकरण उपशमक, अनिवृत्ति उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक और उपशान्तकषाय पर्यन्त चार गुणस्थानों में तथा क्षपक-

श्रेणिके अपूर्वकरण क्षपक, अनिवृत्तिकरण क्षपक और सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक इन तीन गुणस्थानों में होता है। दूसरा शुक्लध्यान क्षीणकषाय गुणस्थान में, तीसरा उपचार से सयोगिकेवली जिनके और चौथा शुक्लध्यान उपचार से अयोगिकेवली जिनके होता है (गा. ४८, पृ. १७६-७७)।

ध्यानस्तवकार के मतानुसार अतिशय विशुद्ध धर्म्यध्यान रूप शुक्लध्यान दोनों श्रेणियों में रहता है। प्रथम शुक्लध्यान तीन योगोंवाले पूर्ववेदी के, द्वितीय एक योगवाले पूर्व वेदी के, तृतीय सूक्ष्म काययोग की क्रिया से युक्त सयोग केवली के और चतुर्थ अयोगी जिनके होता है।

ध्यान के भेद-प्रभेद

मूलाचार आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में ध्यान के सामान्य से ये चार भेद उपलब्ध होते हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें प्रथम दो को संसार के कारण होने से अप्रशस्त और अन्तिम दो को परम्परया अथवा साक्षात् मुक्ति के कारण होने से प्रशस्त कहा गया है[1]। अनेक ग्रन्थों में उक्त चार ध्यानों को क्रम से तिर्यग्गति, नरकगति, देवगति और मुक्ति का कारण कहा गया है[2]। ध्यान के पूर्वोक्त आर्त आदि चार भेदों में से प्रत्येक के भी पृथक्-पृथक् वहां चार भेदों का निर्देश किया गया है।

षट्खण्डागम की आ. वीरसेन विरचित धवला टीका में यह एक विशेषता देखी जाती है कि वहां ध्यान के धर्म और शुक्ल इन दो भेदों का ही निर्देश किया गया है, आर्त और रौद्र इन दो भेदों को वहां सम्मिलित नहीं किया गया[3]। सम्भव है वहां तप का प्रकरण होने से आर्त व रौद्र इन दो अप्रशस्त ध्यानों की परिगणना न की गई हो। किन्तु तप का प्रकरण होने पर भी मूलाचार (५-१९७), तत्त्वार्थसूत्र (९-२८) और औपपातिकसूत्र (२०, पृ. ४३) में उपर्युक्त आर्त और रौद्र को सम्मिलित कर ध्यान के पूर्वोक्त चार भेदों का ही उल्लेख किया गया है। हां, आ. हेमचन्द्र विरचित योगशास्त्र में अवश्य धवला के ही समान ध्यान के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—धर्म और शुक्ल[4]।

स्वयं वीरसेनाचार्य के शिष्य आ. जिनसेन ने भी सामान्य से ध्यानके प्रशस्त और अप्रशस्त इन दो भेदों का निर्देश करके उनमें अप्रशस्त को आर्त और रौद्र के भेद से दो प्रकार तथा प्रशस्त को धर्म और शुक्ल के भेद से दो प्रकार बतलाया है। इस प्रकार वहां ध्यान के उपर्युक्त चार भेदों का ही निर्देश किया गया है[5]।

इधर कुछ अर्वाचीन ध्यानसाहित्य में ध्यान के पूर्वोक्त चार भेदों के अतिरिक्त पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये अन्य चार भेद भी उपलब्ध होते हैं। इनका स्रोत कहां है तथा वे उत्तरोत्तर किस प्रकार से विकास को प्राप्त हुए हैं, यह विचारणीय है। इन भेदों का निर्देश मूलाचार, भगवती आराधना, तत्त्वार्थसूत्र व उसकी टीकाओं में तथा स्थानांग, समवायांग, भगवतीसूत्र, ध्यानशतक, हरिवंशपुराण और आदिपुराण आदि ग्रन्थों में नहीं किया गया है।

इन भेदों का उल्लेख हमें आ. देवसेन (वि. १०वीं शती) विरचित भावसंग्रह में उपलब्ध होता है[6]। जैसा कि आगे आप देखेंगे, इनके नामों का उल्लेख योगीन्दु (सम्भवतः ई. ६ठी शताब्दि) विरचित

---

१. मूला. ५-१९७; त. सू. ९-२८; ध्या. श. ५; आ. पु. २१, २७-२९; ह. पु. ५६-२; तत्त्वानु. ३४ व २२०.

२. ध्या. श. टी. ५ में उद्धृत—अट्टेणं तिरिक्खगई इत्यादि; ह. पु. ५६-१८, २८, ५२ और ६४; ज्ञा. सा. १३; अमित. श्रा. १५, ११-१५.

३. झाणं दुविहं—धम्मज्झाणं सुक्कज्झाणमिदि। धव. पु. १३, पृ. ७०.

४. यो. शा. ४-११५. ५. आ. पु. २१, २७-२९.

६. भावसं.—पिण्डस्थ ६१९-२२, पदस्थ ६२६-२७, रूपस्थ ६२३-२५, रूपातीत ६२८-३०. (स्व. श्री पं. मिलापचन्द जी कटारिया ने इस भावसंग्रह को दर्शनसार के कर्ता देवसेन से भिन्न १४वीं शताब्दि के लगभग होनेवाले किन्हीं अन्य देवसेन का सिद्ध किया है—(जैन निबन्धरत्नावली पृ. ३९-६४)।

योगसार (गा. ९८) में भी किया गया है। इससे पूर्व के अन्य किसी ग्रन्थ में वह हमें देखने में नहीं आया।

पद्मसिंह मुनि विरचित ज्ञानसार (वि. १०८६) में अरहन्त की प्रधानता से पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ इन तीन की प्ररूपणा धर्मध्यान के प्रसंग में की गई है[1]। वहां रूपातीत का निर्देश नहीं किया गया है।

इनका कुछ संकेत तत्त्वानुशासन में भी प्राप्त होता है। वहां ध्येय के नामादि चार भेदों के प्रसंग में द्रव्य ध्येय के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि ध्यान में चूंकि ध्याता के शरीर में स्थित ही ध्येय अर्थ का चिन्तन किया जाता है, इसीलिए कितने ही आचार्य उसे पिण्डस्थ ध्येय कहते हैं[2]। इसके पूर्व वहां नाम ध्येय के प्रसंग में जो अनेक मंत्रों के जपने का विधान किया गया है[3] उससे पदस्थध्यान का संकेत मिलता है। इसी प्रकार स्थापना ध्येय में जिनेन्द्रप्रतिमाओं का तथा द्रव्य-भाव ध्येय के प्रसंग में ज्ञानस्वरूप आत्मा और पांच परमेष्ठियों के ध्यान का भी जो विधान किया गया है उससे रूपस्थ और रूपातीत ध्यान भी सूचित होते हैं[4]। यहां आर्त और रौद्र को दुर्ध्यान कहकर त्याज्य तथा धर्म्य और शुक्ल को समीचीन ध्यान बतलाकर उपादेय कहा गया है (३४)। यहां धर्म्यध्यान के आज्ञा व अपायविचय आदि तथा शुक्लध्यान के पृथक्त्ववितर्क सविचार आदि भेदों का कुछ भी निर्देश नहीं किया गया है।

मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव (वि. ११वीं शती) विरचित द्रव्यसंग्रह (मूल) में ध्यान के आर्त आदि किन्हीं भेदों का निर्देश नहीं किया गया है, पर वहां परमेष्ठिवाचक अनेक पदों के जपने (४९) और पांचों परमेष्ठियों के स्वरूप के विचार करने (५०-५४) की जो प्रेरणा की गई है उससे पूर्वोक्त पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का कुछ संकेत मिलता है। टीकाकार ब्रह्मदेव ने (वि. ११-१२वीं शती) गा. ४८ की टीका में "पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्। रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम्॥" इस श्लोक को उद्धृत करते हुए आर्त आदि के साथ इस प्रकार के विचित्र ध्यान की सूचना की है।

आ. अमितगति द्वि. (वि. ११वीं शती) विरचित श्रावकाचार के १५वें परिच्छेद में ध्यान का वर्णन किया गया है। वहां प्रथमतः ध्यान के आर्त आदि चार भेदों का विवेचन करते हुए ध्यान के इच्छुक जीव के लिए ध्याता, ध्येय, ध्यान की विधि और ध्यानफल इन चार के जान लेने की प्रेरणा की गई है (१५-२३)। तत्पश्चात् उसी क्रम से उनका निरूपण करते हुए वहां ध्येय के प्रसंग में पदस्थ (१५, ३०-४९), पिण्डस्थ (१५, ५०-५३), रूपस्थ (१५-५४) और अरूप (रूपातीत) (१५, ५५-५६) इन चार का भी वर्णन किया गया हैं। यहां पदस्थध्यान का निर्देश पिण्डस्थ के पूर्व में किया गया है।

आ. शुभचन्द्र (वि. ११वीं शती) विरचित ज्ञानार्णव में उक्त आर्त आदि चार भेदों के उल्लेख के साथ पिण्डस्थ (१-३३, पृ. ३८१-८६), पदस्थ (१-११६, पृ. ३८७-४०८), रूपस्थ (१-४६, पृ. ४०९ से ४१६) और रूपातीत (१-३१, पृ. ४१७-२३) इन चार का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है।

आ. वसुनन्दी (वि. १२वीं शती) विरचित श्रावकाचार में इनका निरूपण पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के क्रम से किया गया है (गा. ४५९-६३, ४६४-७३, ४७४-७५, ४७६)।

योगिचन्द्र या योगीन्दु प्रणीत योगसार में इन चारों ध्यानों के नाम मात्र का निर्देश किया गया

---

१. ज्ञा. सा. १८ (पिण्डस्थ १९-२०, पदस्थ २१-२७; रूपस्थ का उल्लेख स्पष्ट नहीं है, सम्भवतः उसका स्वरूप गा. २८ में निर्दिष्ट है)।

२. ध्यातुः पिण्डे स्थितश्चैव ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः।
ध्येयं पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केचन॥ तत्त्वानु. १३४.

३. तत्त्वानु. १०१-८.

४. तत्त्वानु. १०९ व ११८-३०.

है[1]। श्री डॉ. उपाध्ये ने योगीन्दु के समय पर विचार करते हुए उनके ईसा की छठी शताब्दि में होने की कल्पना की है[2]। तदनुसार यदि वे छठी शताब्दि के आस-पास हुए हैं तो यह कहा जा सकता है कि उक्त पिण्डस्थ आदि ध्यानों का निर्देश सर्वप्रथम उन्हीं के द्वारा किया गया है।

हेमचन्द्र सूरि (वि. १२-१३वीं शती) विरचित योगशास्त्र (४-११५) में ध्यान के अन्तर्गत आर्त और रौद्र इन दो अप्रशस्त ध्यानों का कहीं कोई निर्देश नहीं किया गया। वहां पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार भेदों की प्ररूपणा क्रम से सातवें, आठवें, नौवें और दसवें (१-४ श्लोक) इन चार प्रकाशों में की गई है। तदनन्तर इसी दसवें प्रकाश में आज्ञाविचयादि चार भेदों में विभक्त धर्मध्यान का निरूपण करके आगे ११वें प्रकाश में शुक्लध्यान का विवेचन किया गया है।

भास्करनन्दी (वि. १२वीं शती) विरचित ध्यानस्तव में ध्यानशतक (५) के समान प्रथमतः आर्त आदि चार भेदों का निर्देश करते हुए उनमें आदि के दो को संसार का कारण और अन्तिम दो को मुक्ति का कारण कहा गया है (८)। आगे उनमें से प्रत्येक के चार-चार भेदों का निरूपण करते हुए (९-२१) पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से उक्त समस्त ध्यान को चार प्रकार का कहा गया है। तदनन्तर इन चारों के पृथक्-पृथक् स्वरूप को भी प्रकट किया गया है (२४-३६)।

ज्ञानार्णव में इन पिण्डस्थादि चार भेदों की प्ररूपणा संस्थानविचय धर्मध्यान के प्रसंग में की गई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानार्णव के कर्ता को ये भेद संस्थानविचय धर्मध्यान के अन्तर्गत अभीष्ट रहे हैं। पर उन्होंने इसका कुछ स्पष्ट निर्देश न करते हुए इतना मात्र कहा है कि पिण्डस्थादि के भेद से ध्यान चार प्रकार का कहा गया है[3]।

पर ध्यानस्तवकार के द्वारा जो ये पिण्डस्थादि चार भेद सामान्य से समस्त ध्यान के निर्दिष्ट किये गये हैं, यह कुछ असंगत-सा प्रतीत होता है। कारण इसका यह है कि समस्त ध्यान के अन्तर्गत वे आर्त और रौद्र ध्यान भी आते हैं जो संसार के कारण हैं, जब कि उक्त पिण्डस्थादि ध्यान स्वर्ग-मोक्ष के कारण हैं। सम्भव है ध्यानस्तव के इस प्रसंग से सम्बद्ध श्लोक २४ में 'सर्वं' के स्थान में 'धर्म्यं' पाठ रहा हो।

ध्यानशतक में चतुर्थ (संस्थानविचय) धर्म्यध्यान का विषय बहुत व्यापक रूप में उपलब्ध होता है। वहां इस ध्यान में द्रव्यों के लक्षण, संस्थान (आकृति), आसन (आधार), भेद और प्रमाण के साथ उनकी उत्पाद, स्थिति व व्ययरूप पर्यायों को भी चिन्तनीय कहा गया है (५२)। साथ ही वहां पंचास्तिकाय-स्वरूप लोक के विभागों और उपयोगस्वरूप जीव के संसार व उससे मुक्त होने के उपाय के भी विचार करने की प्रेरणा की गई है (५३-६०)। इस प्रकार उक्त संस्थानविचय की व्यापकता को देखते हुए यदि ज्ञानार्णवकार को पूर्वोक्त पिण्डस्थ आदि भेद उसके अन्तर्गत अभीष्ट रहे हैं तो यह संगत ही माना जायगा।

हां, यह अवश्य है कि लोकरूढि के अनुसार ध्यान शब्द से जहां समीचीन ध्यान की ही विवक्षा रही है वहां यदि पिण्डस्थ आदि को सामान्य ध्यान के अन्तर्गत माना जाता है तो उसे असंगत भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु ध्यानस्तव के कर्ता की वैसी विवक्षा नहीं रही है, क्योंकि उन्होंने सामान्य से ध्यान के जिन चार भेदों का निर्देश किया है, आर्त व रौद्र भी उनके अन्तर्गत हैं (८)।

---

१. जो पिंडत्थु पयत्थु बुहु रूवत्थु वि जिणउत्तु।
रूवातीतु मुणेहि लहु जिमि परु होहि पवित्तु॥ यो. सा. ९८.

२. परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना इंगलिश पृ. ६७ व हिन्दी प्रस्तावना पृ. ११५.

३. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्द्धा ध्यानमाम्नातं भव्य-राजीव-भास्करैः॥ १, पृ. ३८१.

पिण्डस्थ आदि के स्वरूप का विचार

विविध ग्रन्थों में प्ररूपित उक्त पिण्डस्थ आदि के स्वरूप में जो कुछ विशेषता देखी जाती है उसका यहां कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है ।

पिण्डस्थ—

भावसंग्रह (६२२) में जहां अपने शरीर में स्थित निर्मल गुणवाले आत्मप्रदेशों के समूह के चिन्तन को पिण्डस्थध्यान कहा गया है वहां ज्ञानसार (१९-२०) में अपने नाभि-कमल के मध्य में स्थित अरहन्त के स्वरूप के चिन्तन को पिण्डस्थध्यान कहते हुए भालतल, हृदय और कण्ठदेश में उसके ध्यान करने की प्रेरणा की गई हैं ।

अमितगति-श्रावकाचार में पिण्डस्थध्यान का स्थान पदस्थ के बाद दूसरा है । यहां कर्मकालुष्य से रहित होकर अनन्त ज्ञान-दर्शनादि से विभूषित, नौ केवललब्धियों से सम्पन्न एवं पांच कल्याणकों को प्राप्त जिनेन्द्र के ध्यान को पिण्डस्थध्यान कहा गया है (१५, ५०-५३) ।

ज्ञानार्णव में उसे अधिक विकसित करते हुए उसमें पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना (मारुती), वारुणी और तत्त्वरूपवती इन पांच धारणाओं का निर्देश करके उनका उपर्युक्त क्रम के अनुसार व्यवस्थित रूप में विचार किया गया है[1] । इन धारणाओं के स्वरूप को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—प्रथम पार्थिवी धारणा में योगी मध्यलोक के बराबर गम्भीर क्षीरसमुद्र, उसके मध्य में हजार पत्तोंवाले जम्बूद्वीप प्रमाण कमल, उसमें मेरु पर्वतस्वरूप कर्णिका, उसके ऊपर उन्नत सिंहासन और उसके ऊपर विराजमान राग-द्वेष से विरहित आत्मा का स्मरण करता है ।

दूसरी आग्नेयी धारणा में नाभिमण्डल में सोलह पत्तोंवाले कमल, उसके प्रत्येक पत्र पर अकारादि के क्रम से स्थित सोलह स्वरों और उसकी कर्णिका पर महामंत्र (हँ) की कल्पना की जाती है । फिर उस महामंत्र की रेफ से निकलती हुई अग्निकणों से संयुक्त ज्वालावाली धूमशिखा की कल्पना करता हुआ योगी निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होनेवाले उस ज्वालासमूह से हृदयस्थ अधोमुख आठ पत्तोंवाले कमल के साथ उस कमल को भस्म होता हुआ स्मरण करता है । तत्पश्चात् शरीर के बाहिर त्रिकोण अग्निमण्डल की कल्पना करके ज्वालासमूह से सुवर्ण जैसी कान्तिवाले वह्निपुर के साथ शरीर और उस कमल को भस्मसात् होता हुआ स्मरण करता है, फिर वह दाह्य के शेष न रहने से धीरे-धीरे उसी अग्नि को स्वयं शान्त होता हुआ देखता है ।

तीसरी श्वसना धारणा में योगी महासमुद्र को क्षुब्ध करके देवालय को शब्दायमान करनेवाली उस प्रबल पवन का स्मरण करता है जो पृथ्वीतल में प्रविष्ट होती हुई भस्मसात् हुए उस शरीर आदि की भस्म को उड़ाकर स्वयं शान्त हो जाती है ।

चौथी वारुणी धारणा में योगी इन्द्रधनुष और बिजली के साथ गरजते हुए मेघों के समूह से व्याप्त ऐसे आकाश का स्मरण करता है जो निरन्तर बड़ी-बड़ी बूंदों से वर्षा करके जलप्रवाह के द्वारा अर्धचन्द्राकार वरुणपुर को तैराता हुआ पूर्वोक्त शरीर से उत्पन्न उस भस्म को धो डालता है ।

अन्तिम तत्त्वरूपवती धारणा में योगी सप्तधातुमय शरीर से रहित सर्वज्ञ सदृश अपने शरीर के मध्यगत पुरुषाकार उस आत्मा का स्मरण करता है जो समस्त कर्मकलंक से रहित होकर दिव्य अतिशयों से युक्त होती हुई सिंहासन पर विराजमान है ।

उक्त पांच धारणाओं में से ये तीन धारणायें क्रम से तत्त्वानुशासन में भी उपलब्ध होती हैं—मारुती, तैजसी और आप्या । ये क्रम से श्वसना, आग्नेयी और वारुणी के पर्याय नाम है । तत्त्वानुशासन

---

१. पार्थिवी ४-८, पृ. ३८१-८२; आग्नेयी १०-१९, पृ. ३८२-८३; श्वसना २०-२३, पृ. ३८४-८५; तत्त्वरूपवती २९-३१, पृ. ३८५.

में धर्म्य और शुक्ल के दुःशक्य ध्येय के अभ्यास के प्रसंग में कहा गया है कि पिण्डसिद्धि और शुद्धि के लिए प्रथमतः क्रम से मारुती, तैजसी और आप्या धारणाओं का आराधन करना चाहिए (१८३)। आगे इन धारणाओं को क्रम से कुछ स्पष्ट करते हुए वहां यह कहा गया है कि ध्याता 'अर्हं' के अकार को वायु से पूर्ण व कुम्भित करके रेफ से प्रगट हुई अग्नि के द्वारा अपने शरीर के साथ कर्म को भस्मसात् करके उस भस्म को स्वयं विरेचित करता हुआ आत्मा में अमृत के बहानेवाले 'ह' मंत्र का आकाश में चिन्तन करे और यह विचार करे कि उससे अन्य अमृतमय शरीर निर्मित हो रहा है। तत्पश्चात् पांच स्थानों में निक्षिप्त पांच पिण्डाक्षरों से युक्त पंचनमस्कार पदों से सकलीकरण क्रिया को करे और तब अपने को अरहन्त और कर्ममल से रहित सिद्ध जैसा ध्यान करे (१८४-८७)।

सम्भव है ज्ञानार्णव के कर्ता ने तत्त्वानुशासन से उक्त तीन धारणाओं को लेकर और उनमें पार्थिवी व तत्त्वरूपवती इन दो धारणाओं को और सम्मिलित करके उन्हें यथाक्रम से व्यवस्थित रूप में विकसित किया हो।

वसुनन्दि-श्रावकाचार में प्रकृत पिण्डस्थध्यान के प्रसंग में यह कहा गया है कि धवल किरणों से प्रकाशमान व आठ महाप्रातिहार्यों से वेष्टित जो आत्मा का ध्यान किया जाता है उसे पिण्डस्थध्यान जानना चाहिए। आगे विकल्प रूप में वहां यह भी कहा गया है कि अथवा नाभि में मेरु की कल्पना करके उसके अधोभाग में अधोलोक, दूसरे तिर्यग्भाग में मध्यलोक, ऊर्ध्वभाग में कल्पविमान, ग्रीवास्थान में ग्रैवेयकों, ठोडीप्रदेश में अनुदिशों; मुखप्रदेश में विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थ इन अनुत्तरविमानों; ललाटदेश में सिद्धशिला और उसके ऊपर शिर की शिखा पर सिद्धक्षेत्र; इस प्रकार से जो अपने शरीर का ध्यान किया जाता है उसे भी पिण्डस्थध्यान समझना चाहिए (४५९-६३)।

गुरुगुणषट्त्रिंशिका की स्वोपज्ञ वृत्ति में कहा गया है कि नाभि-कमलादि रूप स्थानों में जो इष्ट देवता आदि का ध्यान किया जाता है उसे पिण्डस्थध्यान कहते हैं (२, पृ. १०)।

पदस्थ—

भावसंग्रह में पदस्थध्यान के स्वरूप को व्यक्त करते हुए यह कहा गया है कि देशविरत गुणस्थान में जो देवपूजा के विधान का कथन किया गया है उसे पदस्थध्यान कहते हैं। अथवा पांच गुरुओं से सम्बद्ध जो एक पद या अक्षर का जाप किया जाता है वह भी पदस्थध्यान कहलाता है (६२६-२७)।

ज्ञानसार में पदस्थध्यान के प्रसंग में यह कहा गया है कि सातवें वर्ग के दूसरे वर्ण (र्) से युक्त आठवें वर्ग के चतुर्थ वर्ण (ह) के ऊपर शून्य रखकर र् से संयुक्त करने पर उसे तत्त्व (हं) समझो। एक, पांच, सात और पैंतीस धवल वर्णों का जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थध्यान कहा गया है। आगे पुनः पैंतीस अक्षरों के महामंत्र के साथ प्रणव (ॐ) आदि के जपने का निर्देश करते हुए पांच स्थानों में पांच कमलों पर क्रम से पांच वर्णों को तथा सात स्थानों में सात अक्षरों को स्थापित कर उनके साथ जो सिर पर सिद्धस्वरूप का ध्यान किया जांता है, इसे पदस्थध्यान कहा गया है, इत्यादि (२१-२७)।

अमितगति-श्रावकाचार में इस पदस्थध्यान के प्रसंग में पंच नमस्कार पदों के ध्यान का विधान करते हुए अनेक प्रकार के मंत्राक्षरों व मंत्रपदों के जपने का उपदेश दिया गया है (१५, ३१-४९)।

ज्ञानार्णव (१, पृ. ६८७) और योगशास्त्र (८-१) में पदस्थध्यान के स्वरूप को दिखलाते हुए समान रूप में यह कहा गया है कि पवित्र पदों का आलम्बन लेकर जो अनुष्ठान या चिन्तन किया जाता है उसे पदस्थध्यान कहते हैं। आगे इन दोनों ग्रन्थों में अक्षर और मंत्र पदों का विस्तार से व्याख्यान किया गया है[1]।

वसुनन्दि-श्रावकाचार में एक अक्षरादिरूप जो परमेष्ठी के वाचक निर्मल पद हैं उनके उच्चारण-पूर्वक ध्यान करने को पदस्थध्यान कहा गया है (४६४)।

१. ज्ञाना. १-११६, पृ. ३८७-४०६; यो. शा. ८, २-८१.

गुरुगुणषट्त्रिंशिका की स्वोपज्ञ वृत्ति (वि. १५वीं शती) में स्वाध्याय, मंत्र तथा गुरु व देवता की स्तुति में जो चित्त की एकाग्रता होती है उसे पदस्थध्यान कहा गया है (२, पृ. १०)।

वामदेव (वि. १५वी शती) विरचित भावसंग्रह में प्राकृत भावसंग्रह के समान पांच गुरुओं से सम्बद्ध पदों के ध्यान को पदस्थध्यान माना गया है (६६२)।

इस प्रकार पदस्थध्यान के स्वरूप के विषय में प्रायः सभी ग्रन्थकार हीनाधिक रूप में सहमत हैं।

रूपस्थ—

ज्ञानसार में रूपस्थध्यान का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि ध्याता घातिया कर्मों से रहित होकर अतिशयों व प्रातिहार्यों से संयुक्त हुए समवसरणस्थ अरहन्त का जो ध्यान करता है वह रूपस्थ-ध्यान कहलाता है (२८)।

ज्ञानार्णव में उसके लक्षण को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि सात धातुओं से रहित व समस्त अतिशयों से सहित होकर समवसरण में विराजमान आद्य (ऋषभ) जिनेन्द्र का जो ध्यान किया जाता है उसका नाम रूपस्थध्यान है (१-८, पृ. ४०६)। आगे वहां पुनः यह कहा गया है कि इस ध्यान में ध्याता को महेश्वर (२७), आदिदेव, अच्युत (२८), सन्मति, सुगत, महावीर (२९) और वर्धमान (३०) आदि अनेक सार्थक पवित्र नामों से उपलक्षित सर्वज्ञ वीर देव का स्मरण करना चाहिए (पृ. ४११-१२)।

भावसंग्रह में उस रूपस्थध्यान के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—स्वगत रूपस्थध्यान और परगत रूपस्थध्यान। जिसमें पांच परमेष्ठियों का चिन्तन किया जाता है वह परगत रूपस्थध्यान कहलाता है तथा जिसमें अपने शरीर के बाहिर स्थित तेजपुंज स्वरूप अपनी आत्मा का चिन्तन किया जाता है वह स्वगत रूपस्थध्यान कहलाता है (६२४-२५)।

द्रव्यसंग्रह की टीका में चिद्रूप के चिन्तन को रूपस्थध्यान का लक्षण कहा गया है[1]।

अमितगति-श्रावकाचार में प्रतिमा में आरोपित परमेष्ठी के स्वरूप के चिन्तन को रूपस्थध्यान कहा गया है (१५-५४)।

योगशास्त्र में रूपस्थध्यान के स्वरूप का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि छत्रत्रय आदि रूप प्रातिहार्यों से सम्पन्न व समस्त अतिशयों से युक्त होकर समवसरण में स्थित अरहन्त केवली के रूप का जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थध्यान कहते हैं (९, १-७)। अथवा राग, द्वेष एवं मोहादि विकारों से रहित जिनेन्द्रप्रतिमा के रूप का भी जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थध्यान जानना चाहिए (९, ८-१०)।

वसुनन्दि-श्रावकाचार में रूपस्थध्यान के प्रसंग में यह कहा गया है कि आठ प्रातिहार्यों से सहित व अनन्त ज्ञानादि से विभूषित होकर समवसरण में स्थित अरहन्त प्रभु का जो ध्यान किया जाता है उसका नाम रूपस्थध्यान है। अथवा उपर्युक्त गुणों से मण्डित होकर परिवार (समवसरण) से रहित हुए जिनका समस्त शरीर क्षीरसमुद्र की जलधारा से धवल वर्ण को प्राप्त है ऐसे सर्वज्ञ जिनका जो विचार किया जाता है उसे रूपस्थध्यान जानना चाहिये (४७२-७५)।

ध्यानस्तव में रूपस्थध्यान के प्रसंग में यह कहा गया है कि ध्याता एकाग्रचित्त होकर जो जिनदेव के नामपदरूप मंत्र का जाप करता है वह रूपस्थध्यान कहलाता है। अथवा ध्याता प्रातिहार्यों आदि से विभूषित निर्मल अरहन्त प्रभु का जो भिन्नरूप में ध्यान करता है उसे रूपस्थध्यान जानना चाहिए (३०-३१)।

रूपातीत—

भावसंग्रह में रूपातीतध्यान के प्रसंग में यह कहा गया है कि जिस ध्यान में ध्याता न शरीर में

१. रूपस्थं सर्वचिद्रूपं × × ×॥ बृ. द्रव्यसं. टीका ४८ में उद्धृत।

स्थित किसी का चिन्तन करता है, न शरीर के बाहिर स्थित किसी का चिन्तन करता है, न स्वगत रूप का चिन्तन करता है, और न परगत रूप का चिन्तन करता है; ऐसे आलम्बन से रहित ध्यान को गतरूप (रूपातीत) ध्यान माना गया है। आगे वहां यह भी सूचित किया गया है कि धारणा-ध्येय से रहित इस ध्यान में चित्त का कोई व्यापार नहीं होता। उसमें इन्द्रियविषयों के विकार और राग-द्वेष भी क्षय को प्राप्त हो जाते हैं (६२८-३०)। यह विशेष स्मरणीय है कि यहां प्रकृत पिण्डस्थ आदि चार ध्यानों का निरूपण अप्रमत्त गुणस्थान के प्रसंग में ध्याता, ध्यान, ध्येय और फल इन चार अधिकारों के निर्देश-पूर्वक ध्यान के प्रकरण में किया गया है (६१४-४१)।

अमितगति-श्रावकाचार में रूपातीत ध्यान के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि स्फटिक मणि में प्रतिबिम्बित जिनरूप के समान जो नीरूप—मूर्तिक शरीर से रहित—सिद्धस्वरूप आत्मा का ध्यान किया जाता है उसका नाम अरूप (रूपातीत) ध्यान है (१५, ५५-५६)।

द्रव्यसंग्रह की टीका में रूपातीत ध्यान का लक्षण निरंजन कहा गया है[1]। उसका अभिप्राय यही समझना चाहिए कि कर्म-कालिमा से रहित जो सिद्धस्वरूप आत्मा का ध्यान किया जाता है वह रूपातीत ध्यान कहलाता है।

ज्ञानार्णव (१६, पृ. ४१६) और योगशास्त्र (१०-१) में चिदानन्दस्वरूप अमूर्तिक व शाश्वतिक उत्कृष्ट आत्मा के स्मरण को रूपातीत ध्यान कहा गया है।

वसुनन्दि-श्रावकाचार में वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित ऐसे ज्ञान-दर्शनस्वरूप परमात्मा के ध्यान को रूपरहित (रूपातीत) ध्यान कहा गया है (४७६)।

ध्यानस्तव में प्रकृत रूपातीतध्यान के लक्षण में यह कहा गया है कि जो योगी आत्मा में स्थित, शरीर से भिन्न होकर उस शरीर के प्रमाण, ज्ञान-दर्शनस्वरूप, कथंचित् कर्ता, भोक्ता, अमूर्त, नित्य, एक, शुद्ध व क्रिया से सहित और रोष-तोष से रहित, उदासीन स्वभाव वाले, स्वसंवेद्य सिद्ध परमात्मा का ध्यान करता है उसके रूपातीत ध्यान होता है (३२-३६)।

उपसंहार—

ज्ञानसार में धर्मध्यान के प्रसंग में पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ के भेद से तीन प्रकार के अरहन्त के ध्यान की प्रेरणा करते हुए अपने नाभि-कमल आदि में स्थित उक्त अरहन्त के ध्यान को पिण्डस्थ-ध्यान कहा गया है (१९-२०)।

भावसंग्रह (६२०-२२), तत्त्वानुशासन[2] (१३४), अमितगति-श्रावकाचार (१५, ५०-५३), द्रव्य-संग्रह टीका (४८), वसुनन्दि-श्रावकाचार (४५९), ध्यानस्तव (२५-२८) और भावसंग्रह (वाम.–६६१) के अनुसार निज देहस्थ अरहन्त के ध्यान का नाम पिण्डस्थध्यान है। विशेषता यह रही है कि तत्त्वानु-शासन में जहां ध्याता के पिण्ड (शरीर) में स्थित ध्येय के रूप में अरहन्त की सूचना की गई है वहां द्रव्यसंग्रह की टीका में उद्धृत श्लोक के अनुसार देह का निर्देश न करके केवल स्वात्मचिन्तन को ही पिण्डस्थध्यान कहा गया है। वसुनन्दि-श्रावकाचार (४६०-६३) में विकल्परूप से नाभि में मेरु की कल्पना करके उसके अधस्तन व उपरिम अंगों में यथायोग्य अधोलोक व तिर्यग्लोक आदि लोक के विभागों की कल्पना करते हुए निज देह के ध्यान को भी पिण्डस्थ बतलाया गया है।

ज्ञानार्णव और योगशास्त्र में इस पिण्डस्थध्यान के प्रसंग में पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वरूपवती (तत्त्वभू) इन पांच धारणाओं का निरूपण किया गया है। पूर्वोक्त ज्ञानसार आदि ग्रन्थों में जो अरहन्त के ध्यान को पिण्डस्थध्यान कहा गया है वह प्रकृत ज्ञानार्णव (२८-३०, पृ. ३८५)

---

१. ××× रूपातीतं निरञ्जनम् ॥ द्रव्यसं टी. ४८. में उद्धृत।

२. यहां पिण्डस्थ आदि ध्यानभेदों का निर्देश न करके मतान्तर के अनुसार पिण्डस्थध्येय की सूचना की गई है।

और योगशास्त्रगत (७, २३-२५) उक्त पांच धारणाओं में अन्तिम तत्त्वरूपवती धारणा के अन्तर्गत है।

पदस्थध्यान के विषय में पूर्वोक्त सभी ग्रन्थों में कहीं कोई विशेष मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता। उन सभी ग्रन्थों में प्रायः इस ध्यान में संक्षेप अथवा विस्तार से विविध प्रकार के मंत्रों को चिन्तनीय कहा गया है। विशेष इतना है कि अनेक ग्रन्थों में जहां पिण्डस्थ को प्रथम और पदस्थ को दूसरा ध्यान कहा गया है वहां द्रव्यसंग्रह की टीका और अमितगति-श्रावकाचार में प्रथमतः पदस्थध्यान का और तत्पश्चात् पिण्डस्थध्यान का उल्लेख किया गया है।

रूपस्थध्यान के विषय में उपर्युक्त ग्रन्थों के कर्ता एकमत नहीं हैं—ज्ञानसार[1] (२८), ज्ञानार्णव[2] (१-४६, पृ.४०६-१६) योगशास्त्र (६, १-७) और वसुनन्दि-श्रावकाचार (४७२-७५) में आठ प्रातिहार्यों व समस्त अतिशयों से सहित अरहन्त के स्वरूप के चिन्तन को रूपस्थध्यान कहा गया है[3]।

भावसंग्रह में इस ध्यान को स्वगत और परगत के भेद से दो प्रकार बतलाकर अपने शरीर के बाहिर अपनी आत्मा के चिन्तन को स्वगत और पांच परमेष्ठियों के ध्यान को परगत रूपस्थध्यान कहा गया है (६२३-२५)।

अमितगति-श्रावकाचार (१५-५४) में प्रतिमा में आरोपित परमेष्ठी के स्वरूप के चिन्तन को और ध्यानस्तव (३०) में जिनेन्द्र के नामाक्षर व धवल प्रतिबिम्ब के चिन्तन को रूपस्थध्यान का लक्षण बतलाया है[4]। इसी ध्यानस्तव (३१) में आगे विकल्परूप में पूर्वोक्त ज्ञानसार आदि के समान प्रातिहार्यों आदि से विभूषित अरहन्त के ध्यान को भी रूपस्थध्यान कहा गया है[5]।

रूपातीतध्यान— ज्ञानसार में पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ के भेद से तीन प्रकार के अरहन्त के ध्यान का ही निर्देश किया गया है। वहां इस रूपातीत ध्यान का कहीं कोई निर्देश नहीं किया गया (१६-२८)। शेष सभी ग्रन्थों में प्रायः रूप-रसादि से रहित अमूर्तिक सिद्ध परमात्मा के चिन्तन को रूपातीतध्यान का कक्षण कहा गया है।

ध्यान, समाधि और योग की समानार्थकता

इन तीनों शब्दों के अर्थ में सामान्य से कुछ भेद नहीं हैं, क्योंकि वे तीनों ही शब्द प्रायः एकाग्रचिन्तानिरोधरूप समान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं[6]। उदाहरणस्वरूप स्वयम्भूस्तोत्र को लिया जा सकता है।

---

१. ज्ञानसारगत इस श्लोक में यद्यपि रूपस्थध्यान का नामोल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी प्रसंग के अनुसार उसमें प्रकृत रूपस्थध्यान का ही लक्षण कहा गया दिखता है।

२. ज्ञानार्णव में इस ध्यान के प्रसंग में आद्य जिनभास्कर (आदि जिनेन्द्र—८), वृषभसेन आदि (आदि जिनेन्द्र के गणधर—१३), अरहन्त (२६), महेश्वर (२७), आदिदेव (२८), सन्मति, सुगत, महावीर (२९), वर्धमान और वीर आदि अनेक नामों का निर्देश किया है।

३. इस पद्धति में पिण्डस्थ और पदस्थ ध्यानों में कुछ विशेषता नहीं रही है।

४. योगशास्त्र में भी आगे (९, ८-१०) विकल्प रूप में जिनेन्द्रप्रतिमा के रूप के ध्यान को रूपस्थध्यान कहा है।

५. ध्यानस्तव में यहां रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों के प्ररूपक श्लोकों में जिस प्रकार के पद प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—'देवं स्वदेहं' (३१), 'कर्तारं चानुभोक्तारं' (३३) आदि, उनसे ग्रन्थकार के अभिप्राय का ठीक से बोध नहीं होता।

६. (क) युजेः समाधिवचनस्य योगः, समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्। त. वा. ६, १, १२.
(ख) योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः॥ आ. पु. २१-१२.

उसमें इन तीनों ही शब्दों का उपयोग एकाग्रचिन्तानिरोधस्वरूप राग-द्वेष से रहित आत्मस्थिति अर्थ में किया गया है। यथा—

१ आदि जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए वहां यह कहा गया है कि हे नाभिराय के नन्दन ! आपने समाधिरूप तेज (अग्नि) से अज्ञानादि दोषों के मूल कारणभूत कर्म को भस्मसात् करके आत्महितैषी भव्य जनों को तत्त्व का उपदेश दिया[1]।

२ चन्द्रप्रभ जिनकी स्तुति में कहा गया है कि हे प्रभो ! आपने अपने शरीर के प्रभामण्डल से बाह्य अन्धकार को तथा **ध्यान** रूप दीपक के सामर्थ्य से अभ्यन्तर अन्धकार (अज्ञान) को भी नष्ट कर दिया है[2]।

३ मुनिसुव्रत जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे जिन ! आपने अपने अनुपम **योग** के सामर्थ्य से आठों कर्मरूप मल को नष्ट करके मुक्तिसुख को प्राप्त किया है[3]।

इस प्रकार इन तीनों शब्दों के अर्थ में सामान्य से एकरूपता के होते हुए भी लक्षण आदि के भेद से कुछ विशेषता भी दृष्टिगोचर होती है। यथा—

ध्यान—

आचार्य कुन्दकुन्द ने ध्यान को सम्यग्दर्शन व ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित कहा है[4]। तत्त्वार्थसूत्र में अनेक अर्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता के निरोध को—अन्य विषयों की ओर से हटाकर उसे किसी एक ही वस्तु में नियन्त्रित करने को—ध्यान कहा गया है[5]। ध्यानशतक और आदिपुराण में स्थिर अध्यवसान को—एक वस्तु का आलम्बन लेने वाले मन को—ध्यान कहा गया है[6]। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में राग, द्वेष और मिथ्यात्व के संपर्क से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करने वाला जो विषयान्तर के संचार से रहित ज्ञान होता है उसे ध्यान कहा गया है। वहीं आगे एकाग्रचिन्तानिरोध को भी ध्यान कहा गया है[7]। तत्त्वार्थसूत्र के समान तत्त्वानुशासन में भी

(ग) प्रत्याहृत्य यदा चिन्तां नानालम्बनवर्तिनीम्।
एकालम्बन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधीः॥
तदास्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम्।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद् ध्यानं स्वेष्टफलप्रदम्॥ तत्त्वानु. ६०-६१.

(घ) योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। यो. सू. भाष्य १-१.

१. स्वदोषमूलं स्वसमाधि-तेजसा निनाय यो निर्दय-भस्मसात् क्रियाम्।
जगाद तत्त्वं जगतोऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः॥ स्व. स्तो. १-४.
(इस शब्द का उपयोग आगे श्लोक ४-१ और १६-२ में भी हुआ है)

२. यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेशभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम्।
ननाश बाह्यं बहु मानसं च ध्यान-प्रदीपातिशयेन भिन्नम्॥ स्व. स्तो. ८-२.
(इसका उपयोग आगे श्लोक १६-४, १७-३, १८-१० और १९-५ में भी हुआ है)

३. दुरित-मल-कलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन्।
अभदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशान्तये॥ स्व. स्तो. २०-५.
(इसका व्यवहार आगे श्लोक २२-१, २३-१ और २३-३ में भी हुआ है)

४. दंसण-णाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं। पंचा. का. १५२.

५. त. सू. ९-२७.

६. ध्या. श. ३.; आ. पु. २१-९.

७. भ. आ. विजयो. २१ व ७०.

एकाग्रचिन्तानिरोध को ध्यान का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है[1]। आ. अमितगति (प्रथम) विरचित योग-सार-प्राभृत में ध्यान के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि आत्मस्वरूप का प्ररूपक रत्न-त्रयमय ध्यान किसी एक ही वस्तु में चित्त के स्थिर करने वाले साधु के होता है जो उसके कर्मक्षय को करता है[2]।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्यानुसारिणी सिद्धसेन गणि विरचित टीका में आगमोक्त विधि के अनुसार वचन, काय और चित्त के निरोध को ध्यान कहा गया है[3]।

महर्षि पतञ्जलि विरचित योगसूत्र में ध्यान के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि धारणा में जहां चित्त को धारण किया गया है वहीं पर जो प्रत्यय की एकतानता (एकाग्रता) है—विसदृश परिणाम को छोड़कर जिसे धारणा में आलम्बनभूत किया गया है उसी के आलम्बनरूप से जो निरन्तर ज्ञान की उत्पत्ति होती है—उसे ध्यान कहते हैं[4]। योगसूत्र के अनुसार यह यम-नियमादिरूप आठ योगांगों में सातवां है।

महर्षि कपिल मुनि विरचित सांख्यसूत्र में राग के विनाश को (३-३०) तथा निर्विषय मन को (६-२५) ध्यान कहा गया है[5]।

विष्णुपुराण में ध्यान के लक्षण को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है अन्य विषयों की ओर से निःस्पृह होकर परमात्मस्वरूप को विषय करने वाले ज्ञान की एकाग्रता सम्बन्धी परम्परा को ध्यान कहा जाता है[6]। यह यम-नियमादि प्रथम छह योगांगों से सिद्ध किया जाता है।

समाधि—

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में समाधि के स्वरूप को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार भाण्डागार में अग्नि के लग जाने पर बहुत उपकारक होने के कारण उसे (अग्नि को) शान्त किया जाता है उसी प्रकार अनेक व्रत-शीलों से सम्पन्न मुनि के तप में कहीं से बाधा के उपस्थित होने पर उस बाधा को दूर कर जिसे धारण किया जाता है उसका नाम समाधि है[7]। आ. वीरसेन ने समाधि के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में जो सम्यक् अवस्थान होता है उसका गाम समाधि है[8]। तत्त्वानुशासन में ध्याता और ध्येय की एक-रूपता को समाधि कहा गया है[9]। समाधितन्त्र की आ. प्रभाचन्द्र विरचित टीका में समाहित—समाधि-युक्त—अन्तःकरण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसे एकाग्रीभूत मन कहा है[10]। पाहुडदोहा में समाधि की विशेषता को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार नमक पानी में विलीन होकर समरस हो जाता है उसी प्रकार यदि चित्त आत्मा में विलीन होकर समरस हो जावे तो फिर जीव को समाधि में

---

१. तत्त्वानु. ५६.
२. योगसारप्रा. ६-७.
३. त. भा. सिद्ध. वृ. ९-२०.
४. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। यो. सू. ३-२.
५. रागोपहतिर्ध्यानम्। सां. द. ३-३०; ६-२५ भी द्रष्टव्य है।
६. तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद् ध्यानं प्रथमैरुक्तैर्यड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥ ६, ७, ८९.
७. यथा भाण्डागारे दहने समुपस्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारकत्वात् तथाऽनेकव्रत-शीलसमृद्धस्य मुनेस्तपसः कुतश्चित् प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्संधारणं समाधिः। स. सि. ६-२४, त. वा. ६, २४, ८.
८. दंसण-णाण-चरित्तेसु सम्ममवट्ठाणं समाही णाम। धवला पु. ८, पृ. ८८.
९. सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्। एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वयफलप्रदः ॥ १३७॥
१०. समाहितान्तःकरणेन—समाहितम् एकाग्रीभूतं तच्च तदन्तःकरणं च मनस्तेन। समाधि. टी. ३.

और क्या करना है ? अभिप्राय यह है कि बाह्य विषयों की ओर से निःस्पृह होकर चित्त का जो आत्मस्वरूप में लीन होना है यही समाधि का लक्षण है[1]।

योगसूत्र में उस ध्यान को ही समाधि कहा गया हैं जो ध्येय मात्र के निर्भासरूप होकर प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य के समान हो जाता है—ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनों के स्वरूप की कल्पना से रहित होकर निर्विकल्पक अवस्था को प्राप्त हो जाता है[2]। इस सूत्र की भोजदेव विरचित वृत्ति में 'सम्यक् आधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः' इस निरुक्ति के अनुसार निष्कर्षरूप में यह कहा गया है कि जिसमें सब प्रकार की अस्थिरता को छोड़कर मन को एकाग्र किया जाता है उसे समाधि कहते हैं। ध्यान और समाधि में यह भेद है कि ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनों के स्वरूप का निर्भास होता है; पर समाधि में उनके स्वरूप का निर्भास नहीं होता। यह उक्त सूत्र में निर्दिष्ट यम-नियमादिरूप आठ योगांगों में अन्तिम है।

विष्णुपुराण में समाधि के स्वरूप को दिखलाते हुए यह कहा गया है कि उसी परमात्मा के स्वरूप का जो विकल्प से रहित ग्रहण होता है उसका नाम समाधि है। इसकी सिद्धि ध्यान से होती है[3]।

न्यायसूत्र की विश्वनाथ न्यायपंचानन विरचित वृत्ति में चित्त की जो अभीष्ट विषय में निष्ठता है उसे समाधि कहा गया है[4]। समाधि का यह लक्षण एकाग्रचिन्तानिरोध जैसा ही है।

योग—

नियमसार में योग के स्वरूप का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि अपनी आत्मा को रागद्वेषादि के परिहारपूर्वक समस्त विकल्पों को छोड़ते हुए विपरीत अभिनिवेश से रहित जिनप्ररूपित तत्त्वों में योजित करना, यह योग का लक्षण है[5]। युजेः समाधिवचनस्य योगः, इस निरुक्ति के अनुसार तत्त्वार्थवार्तिक में योग को समाधिपरक कहा गया है[6]। तत्त्वानुशासन में अनेक पदार्थों का आलम्बन करने वाली चिन्ता को उन सबकी ओर से हटाकर किसी एक ही अभीष्ट अर्थ में रोकना, इसे योगी का योग कहा गया है[7]।

हरिभद्र सूरि ने उस सभी निर्मल धर्मव्यापार को योग कहा है जो मोक्ष से योजित करता है[8]। उनके द्वारा योगबिन्दु में योग के ये पांच भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय। इनमें उचित प्रवृत्ति से युक्त व्रती योगी जो मैत्री आदि भावनाओं से गर्भित जीवादि तत्त्वों का शास्त्राधार से चिन्तन करता है, उसका नाम अध्यात्मयोग है[9]। चित्तवृत्ति के निरोधपूर्वक प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होने वाला जो उस अध्यात्मयोग का अभ्यास है उसे भावनायोग कहा जाता है[10]। स्थिर दीपक के समान किसी एक प्रशस्त वस्तु को विषय करने वाला जो उत्पादादिविषयक सूक्ष्म उपयोग से युक्त चित्त है उसे ध्यानयोग कहते हैं[11]। अविद्या के निमित्त से जो इष्ट-अनिष्ट की कल्पना होती है उसको दूर कर शुभ-अशुभ विषयों में जो समानता का भाव उदित होता है उसे समतायोग कहा जाता है[12]।

---

१. जिमि लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिमि जइ चित्तु विलिज्ज।
समरसि हवइ जीवडा काइं समाहि करिज्ज।। पा. दो. १७६.

२. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। यो. सू. ३-३.

३. तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥ ६, ७, ९०.

४. समाधिश्चित्तस्याभिमतनिष्ठत्वम्। न्या. सू. वृत्ति १-३, पृ. १५३.

५. नि. सा. १३७-३९. ६. त. वा. ६, १, १२.

७. तत्त्वानु. ६०-६१.

८. योगवि. १.; योगबिन्दु ३१.

९. योगबि. ३५८. १०. यो. बि. ३६०. ११. वही ६२. १२. वही ६४.

मन के द्वारा विकल्परूप तथा काय के द्वारा परिस्पन्दरूप जो अन्य के संयोगस्वरूप चित्तवृत्तियां उदित होती हैं उनका इस प्रकार से निरोध करना कि जिससे उनका पुनः प्रादुर्भाव न हो सके, यह वृत्तिसंक्षय-योग कहलाता है[1]।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है[2]।

भगवद्गीता में आसक्ति को छोड़कर कार्य करते हुए उनकी सिद्धि व असिद्धि में सम—हर्ष-विषाद से रहित—होना, इसे योग कहा गया है[3]।

भगवद्गीता का अभिधेय

भगवद्गीता यह महाभारत का एक अंश है। कौरवों और पाण्डवों के बीच जब युद्ध प्रारम्भ होने को था तब अर्जुन की इच्छानुसार कृष्ण ने उसके रथ को युद्धभूमि में ले जाकर दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कर दिया। वहां सामने विपक्ष के रूप में स्थित गुरु द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह और दुर्योधन आदि गुरुजनों व बन्धुजनों को देखकर अर्जुन का हृदय व्यथित हो उठा। वह कृष्ण से बोला—हे कृष्ण! सामने युद्ध की इच्छा से उपस्थित इन गुरुजनों और बन्धुजनों को देखकर मेरा सब शरीर कांप रहा है। युद्ध में इनका वध करके कल्याण होने वाला नहीं है। इन गुरुजनों और बन्धुजनों का घात करके मुझे न विजय चाहिए, न राज्य चाहिए और न सुख भी चाहिए। यदि ये मेरा घात करते हैं तो भी मैं इनका घात नहीं करना चाहता[4]।

इस प्रकार दयार्द्रहृदय व अश्रुपूर्ण नेत्रों से युक्त विषण्णवदन अर्जुन को देखकर कृष्ण ने उसे युद्धोन्मुख करने के लिए जो आध्यात्मिक उपदेश दिया वह गीता का प्रमुख अभिध्येय रहा है। वह गीता १८ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो अन्तिम पुष्पिकावाक्य है उसमें उसे योग-शास्त्र कहा गया है। वैसे तो सम्पूर्ण ग्रन्थ में ही कुछ न कुछ योग की चर्चा की गई है, पर उसके छठे अध्याय में विशेष रूप से योग और योगी के स्वरूप का विचार किया गया है।

अर्जुन के उपर्युक्त विषादपूर्ण वचनों को सुनकर श्रीकृष्ण बोले कि जिनके लिए शोक न करना चाहिए उनके लिए तू शोक करता है और पण्डिताई के वचन बोलता है। परन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिए और जो जीवित हैं उनके लिए भी शोक नहीं किया करते हैं[5]। इस प्रकार अर्जुन को प्रथमतः ज्ञानयोग का उपदेश देते हुए आगे फिर कहा गया है कि मैं कभी नहीं था, या तू कभी नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे; ऐसा नहीं है, तथा ये सब आगे नहीं रहेंगे सो भी बात नहीं है—आत्मा के नित्य होने से ये सब पूर्व में थे और भविष्य में भी रहने वाले हैं। जिस प्रकार इस शरीर में क्रम से कुमार अवस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था प्राप्त होती है उसी प्रकार अन्य-अन्य शरीर भी प्राप्त

---

१. योगबिन्दु ४६६.

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। यो. सू. १-२.

३. योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ २-४८.
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ ६-२.
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ ६-२९.
(अध्याय ६ के १७-२३ श्लोक भी द्रष्टव्य हैं)।

४. भ. गी. १, २८-३५.

५. अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ भ. गी. २-११.

हुआ करता है। इस वस्तुस्थिति को समझकर धीर पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होते हैं। शीत-उष्ण और सुख-दुख के देने वाले जो इन्द्रियविषय आगमन के साथ विनष्ट होने वाले हैं उनको तू सह—स्वभावतः नष्ट होने वाले उनके लिए शोक मत कर। हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख और सुख को समान समझने वाले जिस पुरुष को वे क्षणभंगुर विषय व्याकुल नहीं किया करते हैं वह अमरत्व के योग्य होता है—जन्म-मरण से रहित होकर मुक्त हो जाता हैं। जो असत् है उसका कभी सद्भाव नहीं रहता और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं होता, इस सत्-असत् के रहस्य को तत्त्वज्ञ जन ही जानते हैं। इस प्रकार अविनाशी व नित्य शरीरधारी (जीव) के जो ये शरीर हैं वे तो विनश्वर ही हैं; अतएव तू इस वस्तुस्थिति को समझकर युद्ध कर—उससे विमुख न हो। इत्यादि प्रकार से यहां अर्जुन को शरीर की नश्वरता और आत्मा की नित्यता का विस्तार से उपदेश दिया गया है[1]।

यहां स्थितप्रज्ञ के स्वरूप को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि हे पार्थ! मनुष्य जब मनोगत सब इच्छाओं को छोड़कर अपने आप अपने में ही सन्तुष्ट होता है तब उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। स्थितप्रज्ञ मुनि दुःखों में उद्विग्न न होकर सुख की ओर से निःस्पृह रहता हुआ राग, भय और क्रोध से रहित होता है[2]। आगे वहां और भी यह कहा गया है कि जो पुरुष विषयों का ध्यान करता है उसकी उनमें जो आसक्ति होती है उससे काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रम से बुद्धि का नाश और उस बुद्धिनाश से वह स्वयं नष्ट हो जाता है—कल्याणकर मार्ग से भ्रष्ट होकर कष्ट सहता है[3]। (यह भगवद्गीतोक्त सन्दर्भ जैन तत्त्वज्ञान—विशेषकर आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान—से कितना मिलता हुआ है, यह ध्यान देने के योग्य है।)

आगे छठे अध्याय में योग के स्वरूप को दिखलाते हुए यह कहा गया है कि जो कर्म के फल की अपेक्षा न रख कर कर्तव्य कार्य को करता है वही वस्तुतः संन्यासी और योगी है, केवल अग्नि और क्रिया (कर्म) से रहित योगी और संन्यासी नहीं हैं, क्योंकि संन्यास का नाम ही तो योग है। जिसने संकल्पों का संन्यास (त्याग) नहीं किया है ऐसा कोई भी पुरुष योगी नहीं हो सकता[4]। जब पुरुष इन्द्रियविषयों में और कर्मों में आसक्त नहीं होता तब समस्त संकल्पों का परित्याग कर देने वाले उसको योग पर आरूढ़ कहा जाता है। प्राणी अपने आप ही अपना उद्धार कर सकता है और अपने आप ही अपने को दुर्गति में भी डाल सकता है। यथार्थ में वह स्वयं ही अपना बन्धु (हितैषी) और स्वयं ही अपना शत्रु है। जिसने आत्मा के द्वारा आत्मा को जीत लिया है वही अपना बन्धु है तथा जिसने अपने ऊपर विजय प्राप्त नहीं की है उसे ही अपना शत्रु समझना चाहिए। जिसने इन्द्रियों और मन को जीत लिया है तथा जो शीत-उष्ण, सुख-दुख और मान-अपमान में अतिशय शान्त है—राग-द्वेष से रहित हो चुका है—उसके पास परमात्मा है[5]।

जिसकी आत्मा ज्ञान-विज्ञान से सन्तुष्ट हो चुकी है, जो पत्थर और सुवर्ण में समानता की बुद्धि रखता हुआ कूटस्थ है—सदा समान रहने वाला है तथा जितेन्द्रिय है, ऐसे योगी को युक्त—योग से संयुक्त—कहा जाता है। ऐसा योगी सुहृत्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य व बन्धु जनों के विषय में तथा सत्पुरुषों और पापियों के भी विषय में समबुद्धि रहता है— उनमें न किसी से राग करता है और न अन्य से द्वेष भी करता है[6]।

---

१. भ. गी. २, १२-१८; आगे भी ३८ तक द्रष्टव्य हैं।
२. वही २, ५४-५५.
३. वही २, ६२-६३,
४. वही ६, १-२.
५. वही ६, ४-७.
६. वही ६, ८-९.

आगे योग में स्थिरता प्राप्त करने के लिए योगी को क्या क्या करना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उसे इन्द्रियों व अन्तःकरण को नियन्त्रित करके आशा और परिग्रह का परित्याग करते हुए एकान्त में अकेले स्थित होकर आत्मचिन्तन करना चाहिए। साथ ही उसे किसी पवित्र प्रदेश में स्थिर आसन को स्थापित कर व उसके ऊपर बैठकर मन को एकाग्र करते हुए चित्त व इन्द्रियों की प्रवृत्ति को स्वाधीन करना चाहिए। इस प्रकार योग में स्थित होकर वह स्थिरतापूर्वक शरीर, शिर और ग्रीवा को सम व निश्चल करता हुआ दिशाओं के अवलोकन को छोड़ देता है और अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखता है[1]।

जो योग्य आहार-विहार एवं कर्मों के विषय में उचित प्रवृत्ति करता है तथा यथायोग्य शयन व जागरण भी करता है उसके दुःखों का नष्ट करने वाला वह योग होता है। जिस समय स्वाधीन हुआ चित्त आत्मा में ही अवस्थित होता है तब समस्त कामनाओं की ओर से निःस्पृह हो जाने पर उस योगी को युक्त—योग से युक्त—कहा जाता है। जिस प्रकार वायु से रहित दीपक चलायमान नहीं होता उसी प्रकार मन को नियन्त्रित करके योग में स्थित हुआ योगी उस योग से चलायमान नहीं होता[2]।

जिसको पाकर योगी अन्य किसी की प्राप्ति को अधिक महत्त्व नहीं देता, तथा जिसमें स्थित रहकर वह भारी दुख से भी विचलित नहीं होता, उसका नाम योग है। उसे समस्त दुःखों का नाशक जानकर योगी को विरक्त चित्त से उसमें संलग्न होना चाहिए। साथ ही वह संकल्प से उत्पन्न होने वाली सभी इच्छाओं का पूर्णरूप से परित्याग करके तथा मन के द्वारा इन्द्रियसमूह को नियन्त्रित करके धीरे-धीरे उपरत होता हुआ धीरतापूर्वक मन को आत्मस्वरूप में स्थित करता है और अन्य कुछ भी नहीं सोचता है। यदि योगी का मन अस्थिर है तो वह जिस जिस कारण से विषयों की ओर जाता है उस उस की ओर से उसे रोककर आत्मा में नियन्त्रित करना चाहिए[3]।

भगवद्गीता व जैन दर्शन

गीता के अन्तर्गत उपर्युक्त विषयविवेचन को जब हम जैन दर्शन के साथ तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं तब हमें दोनों में बहुत कुछ समानता दिखती है। जैन दर्शन नयप्रधान है। उसमें द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जहां आत्मा आदि को नित्य कहा गया है वहां पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उन्हें अनित्य भी कहा गया है। गीता में शरीर की नश्वरता को दिखलाते हुए आत्मा को नित्य कहा गया है। आत्मा की यह नित्यता द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जैन दर्शन को भी अभीष्ट है। यही कारण है जो वहां द्रव्यार्थिक नय अथवा निश्चय नय के आश्रय से जहां तहां आत्मा को नित्य व अविनश्वर कहा गया है।

१ उदाहरणार्थ गीता में यह कहा गया है कि सबके शरीर में अवस्थित जीव या आत्मा जन्म-मरण से रहित सदा अवध्य है—शाश्वत है, इसीलिए शरीर के नष्ट होने पर भी उसका वध नहीं किया जा सकता है। यथा—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २-२०.
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २-३०.

यही अभिप्राय जैन दर्शन में भी प्रकारान्तर से इस प्रकार प्रगट किया गया है—

एओ मे सस्सओ अप्पा णाण-दंसणलक्खणो।

---

१. भ. गी. ६, १०-१३.
२. वही ६, १७-१९.
३. वही ६, २२-२६.

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा[1] ॥ मूला. २-१२.
यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः ॥ समाधि. ३३.
अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः ।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः ॥ आत्मानु. २६६.

२ गीता में जन्म व मरण का अविनाभाव इस प्रकार प्रगट किया गया है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २-२७.

यही अभिप्राय जैन दर्शन में भी देखा जाता है—

मृत्योर्मृत्यन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम् ।
तत्र प्रमुदितान् मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिनः ॥ आत्मानु. १८८.
प्रहतं मरणेन जीवितं जरसा यौवनमेष पश्यति ।
प्रतिजन्तु तदप्यहो स्वहितं मन्दमतिर्न पश्यति ॥ चन्द्र. च. १-६९.

३ गीता में शरीरान्तर की प्राप्ति के लिए जीर्ण वस्त्रों का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि मनुष्य जिस प्रकार जीर्ण वस्त्रों को छोड़कर अन्य नये नये वस्त्रों को ग्रहण किया करता है उसी प्रकार प्राणी जीर्ण शरीरों को छोड़कर अन्य अन्य नवीन शरीरों को धारण किया करता है[2] ।

समाधिशतक में भी उस वस्त्र का उदाहरण देते हुए प्रकारान्तर से कहा गया है कि वस्त्र के सघन, जीर्ण, नष्ट अथवा रक्त होने पर उसको धारण करने वाला मनुष्य जिस प्रकार आत्मा को—अपने को—सघन, जीर्ण, नष्ट अथवा रक्त नहीं मानता है उसी प्रकार शरीर के भी सघन, जीर्ण, नष्ट, अथवा रक्त होने पर विद्वान् मनुष्य आत्मा को सघन, जीर्ण, नष्ट अथवा रक्त नहीं मानता है । इसका कारण यही है कि जिस प्रकार आत्मा से भिन्न वस्त्र है उसी प्रकार उससे भिन्न शरीर भी है[3] । आगे गीता के समान उसी वस्त्र का उदाहरण देते हुए फिर से यह कहा गया है कि जो विवेकी जीव आत्मा को ही आत्मा मानता है—शरीर में आत्मबुद्धि नहीं रखता—वह अपने शरीर की अन्य गति को—एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर के ग्रहण को—निर्भयतापूर्वक एक वस्त्र को छोड़कर दूसरे वस्त्र के ग्रहण के समान ही मानता है, इसीलिए उसे मरण का कुछ भय नहीं रहता[4] ।

४ गीता में यह निर्देश किया गया है कि जो असत् है उसका कभी सद्भाव नहीं रहता और जो सत् है उसका कभी अभाव नही होता[5] ।

इसी प्रकार जैन दर्शन के अन्तर्गत पंचास्तिकायादि ग्रन्थों में भी कहा गया है कि भाव का—सद्भूत पदार्थ का—कभी नाश (अभाव) नहीं होता और अभाव (असत्) की कभी उत्पत्ति नहीं होती[6] ।

---

१. नि. सा. गा. १०२ व वरांगचरित श्लोक ३१-१०१ भी द्रष्टव्य हैं ।
२. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २-२२.
३. समाधि. ६३-६६.
४. आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम् ॥ समाधि. ७७.
५. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ २-१६.
६. भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुण-पज्जयेसु भावा उप्पाद-वये पकुव्वंति ॥ पंचा. १५.
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति ॥ स्व. स्तो. ५-४.

५ गीता में संयमी व असंयमी की विशेषता को प्रगट करते हुए कहा गया है कि अन्य सब प्राणियों (असंयमियों) के लिए जो रात्रि है—आत्मावबोध से रहित अज्ञानजनित अवस्था है—उसमें संयमी जागता है—वह उससे अलिप्त होकर प्रबुद्ध रहता है—और जिसमें अन्य प्राणी जागते हैं—व्यवहार में संलग्न रहते हैं—वह विवेकी मुनि के लिये रात्रि है—रात्रि के समान है, अर्थात् रात्रि में जिस प्रकार समस्त व्यवहार कार्य को छोड़कर अन्य प्राणी सो जाते हैं उसी प्रकार संयमी मुनि सोते हुए के समान उस सब लोकव्यवहार से अलिप्त रहता है[1]।

लगभग इसी अभिप्राय को प्रगट करते हुए समाधिशतक में भी कहा गया है कि जो व्यवहार में सोता है—विषयसुख से विमुख रहता है—वह आत्मा के विषय में जागता है—प्रबुद्ध रहता है, और जो व्यवहार में जागता है—शरीर आदि की क्रियाओं में उद्यत रहता है—वह आत्मा के विषय में सोता है—आत्मस्वरूप से विमुख रहता है[2]।

६ गीता में श्रद्धा व ज्ञान पर बल देते हुए कहा गया है कि जो जितेन्द्रिय पुरुष श्रद्धा से युक्त होता है वह ज्ञान को प्राप्त करता है और फिर उस ज्ञान को पाकर वह शीघ्र ही उत्कृष्ट शान्ति को प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत जो ज्ञान और श्रद्धा से रहित होकर संशयालु होता है वह इस लोक और परलोक के भी सुख से वंचित रहता है[3]।

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मुक्ति का कारण माना गया है[4]। गीता का पूर्वोक्त निर्देश भी इसी अभिप्राय को प्रगट करता है। वहां जो सर्वप्रथम श्रद्धा का निर्देश किया गया है उसे जैन पारिभाषिक शब्द से सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है। कारण यह कि जैन दर्शन में तत्त्वश्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है[5]। आगे ज्ञान का निर्देश दोनों में समान है। जैन दर्शन में जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के बाद ही ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) की प्राप्ति मानी गई है उसी प्रकार गीता में भी श्रद्धा के बाद ज्ञान की प्राप्ति का निर्देश किया गया है। गीतागत श्लोक ४-३९ में जो 'संयतेन्द्रियः' पद है वह सम्यक्चारित्र का द्योतक है, क्योंकि इन्द्रियों को नियन्त्रित करके विषयों से निवृत्त होने का नाम ही तो चारित्र है।

७ गीता में कहा गया है कि आत्महितैषी जीव को स्वयं अपने ही द्वारा अपना उद्धार करना चाहिए और आत्मा को संकट में नहीं डालना चाहिए। कारण यह कि आत्मा ही आत्मा का बन्धु है

---

१. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ २-६९.
(यह श्लोक 'उक्तं च' आदि के निर्देश के विना ज्ञानार्णव में पृ. १९४ पर ज्यों का त्यों उपलब्ध होता है, वहां केवल 'सर्वभूतानां' के स्थान में 'सर्वभूतेषु' पाठ है)

२. (क) व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८.
(ख) स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वमार्य ! नक्तं-दिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ॥ स्व. स्तो. १०-३.

३. श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ४-३९.
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४-४०.

४. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। त. सू. १-१.

५. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। त. सू. १-२.

और वही अपना शत्रु है—दूसरा कोई अपना बन्धु और शत्रु नहीं है[1]।

जैन दर्शन के अन्तर्गत समाधितन्त्र में भी प्रकारान्तर से यही कहा गया है कि अपनी आत्मा ही अपने लिए जन्म को—जन्म-मरणरूप संसार को—प्राप्त कराती है और वही निर्वाण को—मुक्तिसुख को—भी प्राप्त कराती है। इसीलिए वास्तव में अपनी आत्मा ही अपना गुरु—हित की शिक्षा देने वाला बन्धु है, अन्य कोई गुरु नहीं है[2]।

८ गीता में योग की स्थिरता के लिए दीपक की उपमा देते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार वायु से रहित दीपक स्थिर रहता है उसी प्रकार चित्त की चंचलता से रहित योगी का योग भी स्थिर रहता है[3]।

ध्यानशतक में उक्त दीपक की उपमा देते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार घर में स्थित वायु-विहीन दीपक अतिशय स्थिर रहता है उसी प्रकार एकत्व-वितर्क-अविचार नाम का दूसरा शुक्लध्यान उत्पाद, स्थिति (ध्रुतता) और व्यय से किसी एक ही पर्याय में स्थिर रहता है—वह एक अर्थ से अर्थान्तर में, शब्द से शब्दान्तर में और एक योग से योगान्तर में संक्रमण नहीं करता है[4]।

९ गीता में कहा गया है कि जो योगी स्थिर होकर शरीर, शिर और ग्रीवा को समान और निश्चल धारण करता हुआ दिशाओं को नहीं देखता है, किन्तु अपनी नासिका के अग्रभाग का अवलोकन करता है वह निर्वाणस्वरूप परम शान्ति को प्राप्त करता है। यथा—

समं काय-शिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ ६-१३.

लगभग यही भाव वरांगचरित, तत्त्वानुशासन और अमितगति-श्रावकाचार के निम्न श्लोकों में उपलब्ध होता है—

मध्ये ललाटस्य मनो निधाय नेत्रभ्रुवोर्या खलु नासिकाग्रे।
एकाग्रचिन्ता प्रणिधानसंस्था समाधये ध्यानपरो बभूव॥ वरांगच. ३१-९९.
नासाग्रन्यस्तनिष्पन्दलोचनो मन्दमुच्छ्वसन्।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः॥ तत्त्वानु. ९३.
स्थित्वा प्रदेशे विगतोपसर्गे पर्यङ्कबन्धस्थितपाणि-पद्मः।
नासाग्रसंस्थापितदृष्टिपातो मन्दीकृतोच्छ्वासविवृद्धवेगः॥ अमित. श्रा. १५-९१.

जैन दर्शन के साथ योगसूत्र की समानता

महर्षि पतञ्जलि विरचित योगसूत्र यह योगविषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमें संक्षेप से योग के महत्त्व को प्रगट करते हुए उसकी सांगोपांग प्ररूपणा की गई है। वह समाधि, साधना, विभूति और

---

१. उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥६-५.
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६-६.

२. नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥७५.
लगभग यही अभिप्राय इष्टोपदेश के ३४वें श्लोक में भी प्रगट किया गया है।

३. यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥६-१९.

४. ध्या. श. ७९-८०.

कैवल्य इन चार पादों में विभक्त है। समस्त सूत्रसंख्या उसकी १९५ (५१+५५+५५+३४) है। उसके प्रथम पाद में चित्तवृत्तिनिरोध को योग का स्वरूप बतलाकर उसके उपाय को दिखलाते हुए प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पांच वृत्तियों को क्लिष्ट व अक्लिष्ट बतलाया है। आगे संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात समाधि के स्वरूप के साथ ईश्वर के स्वरूप को भी प्रगट किया गया है।

द्वितीय पाद में क्रियायोग का निर्देश करते हुए हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय इन चार के स्वरूप को प्रगट किया गया है। इसी से भाष्यकार ने उसे चतुर्व्यूहरूप शास्त्र कहा है[1]। साथ ही वहां यम-नियम आदि आठ योगांगों का निर्देश करते हुए वहां उनमें प्रथम पांच योगांगों का विचार किया गया है। प्रथम यम योगांग के प्रसंग में अहिंसा व सत्य आदि के तथा द्वितीय नियम योगांग के प्रसंग में शौच व सन्तोष आदि के स्वरूप को दिखलाते हुए उनके पृथक् पृथक् फल को भी प्रगट किया है।

तृतीय पाद में धारणा, ध्यान और समाधि इन शेष तीन योगांगों के स्वरूप का निर्देश करते हुए उन तीनों के समुदाय को संयम बतलाया है। आगे अन्य प्रासंगिक कथन के साथ योग के आश्रय से उत्पन्न होने वाली विभूतियों को दिखलाया गया है।

चतुर्थ पाद में उक्त विभूतियों (सिद्धियों) को जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि इन यथासम्भव पांच निमित्तों से उत्पन्न होने वाली बतलाकर आगे शंका-समाधानपूर्वक कुछ अन्य प्रासंगिक चर्चा करते हुए सत्कार्यवाद के साथ परिणामवाद को प्रतिष्ठित और विज्ञानाद्वैत का निराकरण किया गया है। विशेष इतना है कि परिणामवाद को प्रतिष्ठित करते हुए भी पुरुष को अपरिणामी—चित्स्वरूप से कूटस्थ नित्य—स्वीकार किया गया है। अन्त में कैवल्य के स्वरूप को प्रगट करते हुए ग्रन्थ को समाप्त किया गया है।

प्रस्तुत योगसूत्र यद्यपि प्रमुखता से सांख्य सिद्धान्त के आश्रय से रचा गया है, फिर भी उसकी रचना में अन्य दर्शनों की उपेक्षा नहीं की गई है, उनका भी यथावसर आश्रय लिया नया है। महर्षि पतञ्जलि की इस मध्यस्थ वृत्ति के कारण उनका यह योगसूत्र प्रायः सभी सम्प्रदायों में प्रिय रहा है। प्रकृत में हम जैन दर्शन के साथ भी उसकी कितनी समानता रही है, इसका विचार करेंगे। जैन दर्शन के साथ उसकी समानता शब्दों और विषयविवेचन की भी अपेक्षा दृष्टिगोचर होती है।

शब्दसाम्य—

योगसूत्र मूल और उसके व्यास विरचित भाष्य में भी ऐसे अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं जो प्रायः जैन दर्शन को छोड़कर अन्य दर्शनों में प्रचलित नहीं हैं। यथा—

वितर्क, विचार—ये दो शब्द निम्न योगसूत्र में प्रयुक्त हुए हैं—**वितर्क-विचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः** (१-१७)[2]। ये दोनों शब्द जैन दर्शन के अन्तर्गत तत्त्वार्थसूत्र (९, ४१-४४) और स्थानांग (४-२४७) आदि अनेक ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

भवप्रत्यय—यह शब्द योगसूत्र में इस प्रकार उपयुक्त हुआ है—**भवप्रत्ययो विदेह-प्रकृतिलयानाम्** (१-१९)। यह षट्खण्डागम (५, ५, ५३), तत्त्वार्थसूत्र (१-२१); नन्दीसूत्र हरि. वृ. (पृ २९) और धवला (पु. १३, पृ. २९०) आदि अनेक जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा—इन चार शब्दों का उपयोग योगसूत्र में इस प्रकार हुआ है—मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् (१-३३)। भगवती आराधना

१. यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः, प्रधान-पुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्, हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। यो. सू. भा. २-१५. (लगभग यही अभिप्राय तत्त्वानुशासन श्लोक ३-५ में भी प्रगट किया गया है)।

२. आगे समापत्ति के चार भेदों का उल्लेख करते हुए सूत्र १, ४२-४४ में भी उनका उपयोग हुआ है।

(१६९६); तत्त्वार्थसूत्र (७-११), ज्ञानार्णव (४, पृ. २७२) और योगशास्त्र (४-११७) आदि अनेक जैन ग्रन्थों में उक्त मैत्री आदि भावनाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। तत्त्वार्थसूत्र में मुदिता के स्थान में प्रमोद और उपेक्षा के स्थान में माध्यस्थ्य शब्दों का उपयोग हुआ है, जिनके अर्थ में कुछ भेद नहीं है।

अविद्या—योगसूत्र (२-३) में क्लेश के इन पांच भेदों का निर्देश किया गया है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इनमें अविद्या यह अस्मिता आदि उत्तर चार क्लेशों की जनक है। उसका स्वरूप आगे इस प्रकार कहा गया है—अनित्याशुचि-दुःखानात्मसु नित्य-शुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या (२-५)। आगे (२-२४) मोहरूप इस अविद्या को विवेकख्यातिरूप संयोग का कारण कहा गया है। यह शब्द समाधिशतक (१२ व ३७) तथा तत्त्वार्थवार्तिक आदि अनेक जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। अभिप्राय भी उसका उभय सम्प्रदायों में समान है[1]। अविद्या के स्थान में अधिकांश जैन ग्रन्थों में अज्ञान[2] और मोह[3] शब्दों का भी व्यवहार हुआ है।

राग, द्वेष—पूर्वोक्त क्लेश के भेदभूत राग और द्वेष का स्वरूप योगसूत्र में इस प्रकार कहा गया है—सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः (२, ७-८)। इन दोनों शब्दों का उपयोग षट्खण्डागम (४, २, ८, ८—पु. १२, पृ. २८३), कषायप्राभृत (३ व १३), श्रावकप्रज्ञप्ति टीका (३९३) और ध्यानशतक (१० व ४९) आदि जैन ग्रन्थों में प्रचुरता से हुआ है।

यम—इस शब्द का उपयोग योगसूत्रगत निम्न सूत्र में किया गया है—अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः (२-३०)। जैन दर्शन में इस शब्द का उपयोग रत्नकरण्डक (८७), स्थानांग (२-३) और उपासकाध्ययन (७६१) आदि ग्रन्थों में हुआ है।

महाव्रत—इस शब्द का उपयोग इस योगसूत्र में हुआ है—जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् (२-३१)। उसका उपयोग चारित्रप्राभृत (३१), मूलाचार (१-४ व ५-९७), दशवैकालिक (४-३), पाक्षिकसूत्र (पृ. १८) और तत्त्वार्थसूत्र (७-२) आदि अनेक जैन ग्रन्थों में हुआ है।

नियम—इसका उपयोग योगसूत्र में इस प्रकार किया गया है—शौच-सन्तोष-तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः (२-३२)। इस शब्द का उपयोग नियमसार (३). रत्नकरण्डक (८७) और उपासकाध्ययन (७६१) आदि जैन ग्रन्थों में किया गया है।

कृत, कारित, अनुमोदित—इन शब्दों का व्यवहार योगसूत्र में इस प्रकार किया गया है—वितर्काः हिंसादयः कृत-कारितानुमोदिता लोभ-क्रोध-मोहपूर्वका मृदु-मध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् (२-३४)। इनका उपयोग तत्त्वार्थसूत्र (६-८) व श्रावकप्रज्ञप्ति (३३१) आदि जैन ग्रन्थों में हुआ है। विशेष इतना है कि तत्त्वार्थसूत्र में अनुमोदित के स्थान में अनुमत तथा श्रावकप्रज्ञप्ति में क्रम से करोति, कारयति और अनुजानाति इन क्रियापदों का उपयोग हुआ है। परन्तु अभिप्राय उनका दोनों में समान ही है।

सोपक्रम, निरुपक्रम—इन दो शब्दों का उपयोग योगसूत्र में इस प्रकार किया गया है—स्वोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत् संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा (३-२२)। इनमें मूल शब्द **उपक्रम** है,

---

१. अविद्या विपर्ययात्मिका सर्वभावेष्वनित्यानात्माशुचि-दुःखेषु नित्य-सात्मक-शुचि-सुखाभिमानरूपा। त. वा. १, १, ४६; अविद्या कर्मकृतो बुद्धिविपर्यासः। आव. नि. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ५३.

२. इष्टोप. ११ व २३; ध्या. श. हरि. वृ. ५० ('अज्ञानं खलु कष्टं' इत्यादि उद्धृत पद्य); ज्ञानमेव मिथ्यादर्शनसहचरितमज्ञानम्, कुत्सितत्वात् कार्याकरणादशीलवदपुत्रवद्वा। त. भा. सिद्ध. वृ. २-५.; किमज्ञानम् ? मोह-भ्रम-सन्देहलक्षणम्। इष्टोप. टी. २३.

३. अज्ञानलक्षणश्च मोहः। ध्या. श. हरि. वृ. ४९.; क्रोध-मान-माया-लोभ-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुंनपुंसकवेद-मिथ्यात्वानां समूहो मोहः। धव. पु. १२, पृ. २८३.

उससे सहित का नाम सोपक्रम और रहित का नाम निरुपक्रम है। यह उपक्रम शब्द तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (२-५२) व उसकी हरि. व सिद्ध. वृत्तियों (२, ५१-५२) आदि अनेक जैन ग्रन्थों में व्यवहृत हुआ है। सोपक्रम और निरुपक्रम शब्दों का भी उपयोग तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (२, ५१-५२)। उसकी हरिभद्र व सिद्धसेन विरचित वृत्तियों (२-५२) और षट्खण्डागम की धवला टीका (पु. ९, पृ. ८९ व पु. १०, पृ. २३३-३४ व २३८) आदि में हुआ है।

प्रकाशावरण—इसका उपयोग योगसूत्र के इन सूत्रों में हुआ है—ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् (२-५२), बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः (३-४३)। षट्खण्डागम (१, ९-१, ५—पु. ६, पृ. ६ आदि) व तत्त्वार्थसूत्र (८-४) आदि अनेक जैन ग्रन्थों में इसके समानार्थक ज्ञानावरण व ज्ञानावरणीय शब्दों का उपयोग हुआ है।

अणिमा—इसका उपयोग योगसूत्र में इस प्रकार हुआ है—ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पद्धर्मानभिघातश्च (३-४५)। अणिमा व महिमा आदि ऐसे शब्दों का व्यवहार तिलोयपण्णत्ती (४-१०२६), तत्त्वार्थवार्तिक (३, ३६, २) और धवला टीका (पु. ९, पृ. ७५) आदि जैन ग्रन्थों में बहुतायत से हुआ है।

वज्रसंहननत्व—इसका उपयोग योगसूत्र में इस प्रकार हुआ है—रूप-लावण्य-बल-वज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् (३-४६)। वज्रर्षभनाराचसंहनन और वज्रनाराचसंहनन जैसे शब्दों का उपयोग षट्खण्डागम (१, ९-१, ३६- पु. ६, पृ. ७३) व सर्वार्थसिद्धि (८-११) आदि अनेक जैन ग्रन्थों में हुआ है।

कैवल्य—इसका उपयोग योगसूत्र के इन सूत्रों में किया गया है—तदभावात् संयोगाभावो हानम्, तद् दृशेः कैवल्यम् (२-२५), तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् (३-५०), सत्त्व-पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् (३-५५), पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति (४-३४)। 'केवलस्य भावः कैवल्यम्' इस निरुक्ति के अनुसार 'केवल' शब्द से कैवल्य बना है। जैन दर्शन में सर्वज्ञ व सर्वदर्शी के ज्ञान को केवलज्ञान स्वीकार किया गया है। केवलज्ञान शब्द का उपयोग षट्खण्डागम (५, ५, ८१—पु. १३, पृ. ३४५), तत्त्वार्थसूत्र (१०-१), तिलोयपण्णत्ती (४-९७४) और पंचसंग्रह (दि. १-१२६) आदि अनेक जैन ग्रन्थों में हुआ है। केवलज्ञान से सम्पन्न अरहन्त को केवली और उनकी उस अवस्था को कैवल्य कहा गया है। कैवल्य इस शब्द का उपयोग भी स्वयम्भूस्तोत्र,[1] समाधिशतक[2], आत्मानुशासन[3] और सिद्धिविनिश्चय (७-२१) व उसकी टीका[4] आदि में किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह भली भांति विदित हो जाता है कि जैन दर्शन में व्यवहृत बहुत से शब्द योगसूत्र में भी उसी रूप में व्यवहृत हुए हैं तथा अभिप्राय भी उनका प्रायः दोनों दर्शनों में समान रहा है।

विषय की समानता—

जिस प्रकार जैन दर्शन और योगसूत्र में अनेक शब्दों का समान रूप में व्यवहार हुआ है उसी प्रकार दोनों की विषयविवेचनप्रक्रिया में भी बहुत कुछ समानता पायी जाती है। जैसे—

वितर्क, विचार—जैन दर्शन में शुक्लध्यान के जिन चार भेदों का निरूपण किया गया है उनमें प्रथम शुक्लध्यान वितर्क व विचार से सहित तथा द्वितीय शुक्लध्यान वितर्क से सहित होकर भी विचार

---

१. एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिन्यायेषुभिर्मोह-रिपुं निरस्य।
असि स्म **कैवल्य**-विभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥११-५.

२. समीक्ष्य **कैवल्य**सुखस्पृहाणां × × ×॥ समाधि. ३.

३. × × × कैवल्यालोकितार्थे × × × ॥ आत्मानु. १४.

४. केवलस्य कर्मविकलस्य आत्मनो भावः कैवल्यम्। सिद्धिवि. टी. ७-२१, पृ. ४९१.

से रहित माना गया है। उनमें श्रुतज्ञान—विशेषरूप से ऊहापोह करने—का नाम वितर्क है। द्रव्य को छोड़कर पर्याय का और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का चिन्तन करना, एक आगमवाक्य को ग्रहण कर अन्य आगमवाक्य का व उसको भी छोड़कर वाक्यान्तर का चिन्तन करना, तथा एक योग को छोड़कर दूसरे योग का व उसको भी छोड़कर योगान्तर का चिन्तन करना; इसका नाम विचार है[1]।

उधर योगसूत्र में योग के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। जिस समाधि के द्वारा संशय-विपर्ययादि से रहित भाव्य (ईश्वर और पच्चीस तत्त्व) का स्वरूप जाना जाता है उसे सम्प्रज्ञात समाधि और जिसमें किसी ज्ञेय का ज्ञान नहीं होता उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है। दूसरे शब्दों में उन्हें क्रम से सबीज (सालम्ब) समाधि और निर्बीज[2] (निरालम्ब) समाधि भी कहा गया है। उनमें सम्प्रज्ञात समाधि वितर्कादि से अन्वित होने के कारण सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित के भेद से चार प्रकार की है। जब स्थूल महाभूतों (आकाशादि) और इन्द्रियों को विषयरूप से ग्रहण करके पूर्वापर के अनुसन्धानपूर्वक शब्द व अर्थ के उल्लेखभेद के साथ भावना की जाती है तब सवितर्क समाधि होती है। इसी आलम्बन में जब पूर्वापर के अनुसन्धान और शब्दोल्लेख के विना भावना प्रवृत्त होती है तब निर्वितर्क समाधि होती है। तन्मात्रा (शब्दादि) और अन्तःकरणरूप सूक्ष्म विषय का आलम्बन लेकर जब तद्विषयक देश, काल व धर्म के अवच्छेदपूर्वक भावना प्रवृत्त होती है तब सविचार समाधि होती है। इसी आलम्बन में जो देश, काल व धर्म के अवच्छेद के विना धर्मी मात्र को प्रकाशित करने वाली भावना की जाती है उसे निर्विचार समाधि कहा जाता है[3]।

इस प्रकार जैसे जैन दर्शन प्ररूपित प्रथम शुक्लध्यान में द्रव्य-पर्यायादि के ज्ञानपूर्वक शब्द व अर्थ के परिवर्तन के साथ चिन्तन होता है, जिससे कि उसे सवितर्क व सविचार कहा गया है; वैसे ही योगसूत्र प्ररूपित सम्प्रज्ञात समाधि में भी पूर्वापरानुसन्धानपूर्वक शब्द व अर्थ के विकल्प के साथ स्थूल (आकाशादि महाभूतों व इन्द्रियों) और सूक्ष्म (तन्मात्रा व अन्तःकरण) तत्त्वों का चिन्तन होता है, इसीलिए उसे सवितर्क व सविचार समाधि कहा गया है।

जिस प्रकार जैन दर्शन प्ररूपित द्वितीय शुक्लध्यान में शब्द, अर्थ और योग का संक्रमण (परस्पर में परिवर्तन) न होने के कारण उसे अविचार—उक्त विचार से रहित—कहा गया है उसी प्रकार योगदर्शन में तन्मात्रा और अन्तःकरण रूप सूक्ष्म विषय का आलम्बन लेने वाली चतुर्थ (निर्विचार) समाधि में भी देश, काल और धर्म के अवच्छेद से रहित धर्मी मात्र का प्रतिभास होने के कारण उसे निर्विचार कहा गया है।

जैन दर्शन के अनुसार मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घाति कर्मों का जब विनाश हो जाता है तब केवलज्ञान के प्रगट हो जाने पर केवली के तीसरा और चौथा शुक्लध्यान होता है। ये दोनों ध्यान मन के विनष्ट हो जाने के कारण समस्त चित्तवृत्तियों से रहित होते हैं। इसीलिए उनमें ज्ञान-ज्ञेय आदि का विकल्प नहीं रहता।

यही अवस्था प्रायः योगसूत्रोपदिष्ट असम्प्रज्ञात समाधि की है। वहां भी समस्त चित्तवृत्तियों का विनाश हो जाने के कारण पूर्णतया चित्त का निरोध हो जाता है। इसलिए वहां भी कुछ ज्ञेय नहीं रहता। इसी कारण उसकी 'असम्प्रज्ञात' यह संज्ञा सार्थक है[4]।

हरिभद्र सूरि ने अपने योगबिन्दु में पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार इन दो शुक्लध्यानों को सम्प्रज्ञात समाधि तथा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति इन दो शुक्लध्यानों

---

१. त. सू. ९, ४१-४४.

२. सबीज और निर्बीज ध्यान का उल्लेख उपासकाध्ययन (६२२-२३) में भी हुआ है।

३. योगसूत्र भोजदेव विरचित वृत्ति १-१७.

४. स निर्बीजः समाधिः। न तत्र किंचित् संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः (यो. सू. भाष्य १-२); न तत्र किंचिद् वेद्यं संप्रज्ञायत इति असंप्रज्ञातो निर्बीजः समाधिः। यो. सू. भोज. वृ. १-१८.

को असंप्रज्ञात समाधि जैसा कहा है[1]।

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा—जैन दर्शन में अहिंसादि व्रतों के दृढ़ीकरण तथा धर्मध्यान की सिद्धि के लिए मैत्री आदि चार भावनाओं के चिन्तन का उपदेश दिया गया है[2]। इसी प्रकार योगसूत्र में भी समाधि की सिद्धि में अन्तरायभूत चित्तविक्षेपों के निषेधार्थ प्रथमतः किसी एक अभिमत तत्त्व के अभ्यास का—चित्त को पुनः पुनः उसमें संलग्न करने का—उपदेश दिया गया है और तत्पश्चात् उक्त चित्त की प्रसन्नता के लिए उपर्युक्त मैत्री आदि के चिन्तन की प्रेरणा की गई है[3]। तत्त्वार्थसूत्र आदि जैन ग्रन्थों में जहां मैत्री शब्द के साथ कारुण्य, प्रमोद और माध्यस्थ्य शब्दों का उपयोग किया गया है वहां योगसूत्र में उक्त मैत्री शब्द के साथ करुणा, मुदिता और उपेक्षा शब्दों का उपयोग किया गया है। यह केवल शब्दभेद है, अर्थभेद कुछ भी नहीं है। हरिभद्र सूरि ने तो अपने षोडशक प्रकरण में योगसूत्रगत उन चार शब्दों का उसी रूप में उपयोग किया है[4]। विशेष इतना है कि तत्त्वार्थसूत्र आदि जैन ग्रन्थों में जहां मैत्री को प्राणिमात्रविषयक, करुणा या कारुण्य को क्लेशयुक्त (दुखी) जीवविषयक, प्रमोद या मुदिता को गुणी जीवविषयक और माध्यस्थ्य (उपेक्षा या उदासीनता) को अविनेय (विपरीतवृत्ति) जीवविषयक निर्दिष्ट किया गया है वहां योगसूत्र में मैत्री को सुखी जीवविषयक, करुणा को तत्त्वार्थसूत्र के ही समान दुखी जीवविषयक, मुदिता (प्रमोद) को पुण्ययुक्त जीवविषयक और उपेक्षा को पुण्यहीन (धर्म-विहीन या प्रतिकूल) जीवविषयक निर्दिष्ट किया गया है[5]। इस प्रकार चित्त की स्थिरता की प्रमुख कारण होने से दोनों ही दर्शनों में उपर्युक्त चार भावनाओं पर जोर दिया गया है। उनके आश्रय से जहां अहिंसादि व्रतों में दृढ़ता होती है वहां समाधि या ध्यान में स्थिरता भी होती है।

तत्त्वार्थसूत्र में उपर्युक्त मैत्री आदि भावनाओं के निर्देश के पूर्व में अहिंसादि पांच व्रतों की पृथक् पृथक् पांच भावनाओं का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि हिंसादि पापों में उभय लोकों से सम्बन्धित अपाय (अनर्थ) और अवद्य (पाप या निन्दा) के दर्शन का चिन्तन करना चाहिए। अनन्तर अगले सूत्र में तो वहां यहां तक कह दिया है कि आत्महितैषी जीव को उपर्युक्त हिंसादि महा पापों को दुख ही समझना चाहिए[6]।

अब योगसूत्र को भी देखिये। वहां जाति (मनुष्यादि), आयु और भोग (इन्द्रियविषयादि) को शुभाशुभ कर्मों का फल बतलाकर यह कहा गया है कि उनमें जो पुण्य के आश्रय से उत्पन्न होते हैं वे प्राणियों को सुखप्रद होते हैं तथा जो पाप के आश्रय से उत्पन्न होते हैं वे उन्हें दुखप्रद होते हैं। अन्त में विवेकी योगी को लक्ष्य करके यही कह दिया है कि विषमिश्रित भोजन के समान उक्त जाति आदि जहां परिणाम में दुखप्रद होते हैं वहां वे तृष्णा के बढ़ाने वाले होने से सन्ताप के जनक भी होते हैं। इसके अतिरिक्त अभीष्ट विषयों की प्राप्ति में जो सुख का अनुभव होता है तथा अनिष्ट विषयों की प्राप्ति में

---

१. समाधिरेष एवान्यैः सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते ।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥४१९.
असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः ।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादितत्स्वरूपानुवेधतः ॥ ४२१. (इनकी स्वोपज्ञवृत्ति द्रष्टव्य है)

२. त. सू. ७-११; ज्ञानार्णव ४, पृ. २७२ (आगे श्लोक १६-१९ भी द्रष्टव्य हैं); योगशास्त्र (४-११७).

३. यो. सू. १, ३२-३३.

४. परहितचिन्ता मैत्री परदुःखविनाशिनी तथा करुणा ।
परसुखतुष्टिर्मुदिता परदोषेक्षणमुपेक्षा ॥ ४-१५.

५. यो. सू. भोज. वृ. १-३३.

६. हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् । दुःखमेव वा । त. सू. ७, ९-१०.

जो दुख का अनुभव होता है वह ऐसे संस्कार को उत्पन्न करता है कि जिससे संसार का कभी विनाश नहीं हो सकता। इन सब कारणों से योगी को उक्त जाति आदि दुख ही प्रतीत होते हैं[1]।

इस प्रकार से जैन दर्शन के समान योग दर्शन में भी हिंसादि पापों अथवा उन्हीं जैसे जाति, आयु एवं भोगों के विषय में दुःखरूपता के ही अनुभव करने की प्रेरणा की गई है।

महाव्रत—जैन दर्शन के अन्तर्गत चारित्रप्राभृत (२९-३०), मूलाचार (१, ४-९ व ५, ९१ से ९७), तत्त्वार्थसूत्र (७, १-२), दशवैकालिक (४-७, पृ. १४८-४९) और पाक्षिकसूत्र (पृ. १८-२६) आदि अनेक ग्रन्थों में अहिंसादि महाव्रतों का विधान किया गया है। इन व्रतों का परिपालन चूंकि जीवन पर्यन्त किया जाता है, इसलिए उन्हें यम कहा जाता है[2]।

इसी प्रकार से उक्त पांच महाव्रतों का विधान योगसूत्र में भी किया गया है। यहां योग के जिन आठ अंगों का वर्णन किया गया है उनमें प्रथम योगांग यम ही है। हिंसा के अभावरूप अहिंसा, सत्य, परकीय द्रव्य के अपहरण के अभाव रूप अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का वहां (२-३०) यमरूप से निर्देश करते हुए आगे (२-३१) यह कहा गया है कि जाति, देश, काल और समय के अवच्छेद से रहित उक्त अहिंसादि पांच सार्वभौम महाव्रत माने जाते हैं। सार्वभौम कहने का कारण यही है कि उनके परिपालन में जाति व देश आदि की कोई मर्यादा नहीं रहती। उदाहरणार्थ "मैं ब्राह्मण का घात नहीं करूंगा, तीर्थ पर किसी प्राणी का घात नहीं करूंगा, चतुर्दशी के दिन किसी जीव की हत्या नहीं करूंगा, अथवा देव व ब्राह्मण के प्रयोजन को छोड़कर अन्य किसी भी प्रयोजन के वश जीवहिंसा न करूंगा" इस प्रकार से जो अहिंसा का परिपालन किया जाता है उसे क्रमशः जाति, देश, काल और समय की अपेक्षा रखने के कारण सार्वभौम नहीं कहा जा सकता। किन्तु उक्त जाति आदि की मर्यादा से रहित जो पूर्णरूप से हिंसा का परित्याग किया जाता है उसे ही सार्वभौम अहिंसामहाव्रत माना जाता है। यही अभिप्राय सत्यमहाव्रत आदि के विषय में भी ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार से उक्त अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का स्वरूप जैसा जैन दर्शन में प्ररूपित है ठीक उसी रूप में उनका स्वरूप योगसूत्र में भी निर्दिष्ट किया गया है।

कृत, कारित, अनुमत—जैन दर्शन में आस्रव व उसके भेद-प्रभेदों का निर्देश करते हुए उनके आधार जीव और अजीव बतलाये गये हैं। संरम्भ, समारम्भ व आरम्भ; मन, वचन व काय ये तीन योग; कृत, कारित व अनुमत; तथा क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें; इनका परस्पर सम्बन्ध रहने से उक्त जीवाधिकरण के १०८ (=३×३×३×४) भेद माने गये हैं। वह आस्रव कषाय के वश होकर मन, वचन अथवा काय के आश्रय से हिंसादि के स्वयं करने, अन्य से कराने अथवा करते हुए अन्य का अनुमोदन करने पर जीव के होता है। उसमें तीव्र या मन्द एवं ज्ञात या अज्ञात भाव की अपेक्षा विशेषता हुआ करती है[3]।

प्रकारान्तर से यही भाव योगसूत्र में भी प्रगट किया गया है। वहां उपर्युक्त महाव्रतों के प्रसंग में यह कहा गया है कि वितर्क स्वरूप—योग के प्रतिकूल माने जाने वाले—जो हिंसादि पाप हैं वे क्रोध, लोभ अथवा मोह के वश होकर स्वयं किये जाते हैं, अन्य से कराये जाते हैं, अथवा उनमें प्रवृत्त अन्य की अनुमोदना के विषय होते हैं। साथ ही वे मृदु (मन्द), मध्य अथवा अधि (तीव्र) मात्रा में हुआ करते हैं। उनका फल अपरिमित दुख व अज्ञान होता है। इसलिए योगी को उक्त हिंसादि के स्वरूप व

---

१. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। ते ह्लाद-परितापफला पुण्यापुण्यहेतुत्वात्। परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। यो. सू. २, १३-१५.

२. नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते॥ रत्नक. ८७.

३. त. सू. ६, ६-८.; स. सि. ६, ६-८; त. वा. ६, ८, ७-९.

कारण आदि को जानकर प्रतिकूल भावना के आश्रय से उनका परित्याग करना चाहिए[1]।

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि उक्त हिंसादि के परित्याग के विषय में जो पद्धति जैन दर्शन में अपनायी गई हे लगभग वही पद्धति योगसूत्र में भी स्वीकार की गई है।

अहिंसा का महत्त्व—तिलोयपण्णत्ती, हरिवंशपुराण और ज्ञानार्णव आदि अनेक जैन ग्रन्थों में यह निर्देश किया गया है कि जो महात्मा हिंसा एवं राग-द्वेषादि को छोड़कर वीतरागता की परमकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है उसके समक्ष स्वभावतः जातिविरोधी जीव भी—जैसे सर्प व न्योला, बिल्ली व चूहा एवं सिंह व हिरण आदि भी—अपने उस स्वाभाविक वैर को छोड़कर आनन्दपूर्वक साथ साथ विचरण करते हैं[2]।

यही अभिप्राय योगसूत्र में "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः (२-३५)" इस सूत्र के द्वारा प्रगट किया गया है।

सोपक्रम-निरुपक्रम—अनेक जैन ग्रन्थों में आयु के ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सोपक्रम और निरुपक्रम। जिस आयु का विघात—प्राणी का असमय में मरण—विष व शस्त्रादि के निमित्त से हो सकता है वह सोपक्रम आयु कहलाती है तथा जिस आयु का विघात असमय में नहीं हो सकता है—जैसे देवों की आयु का—उसे निरुपक्रम आयु कहा जाता है[3]। तत्त्वार्थसूत्र में उन्हें अपवर्त्य और अनपवर्त्य आयु कहा गया है। जिस कारणकलाप के द्वारा दीर्घ काल की स्थिति वाली आयु को अल्प काल की

---

१. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। वितर्का हिंसादयः कृत-कारितानुमोदिता लोभ-मोहपूर्वका मृदु-मध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। यो. सू. २, ३३-३४

२. ति. प. (४-८९९) में कहा गया है कि तीर्थंकर के केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने पर जो ग्यारह अतिशय प्रगट होते हैं उनमें तीसरा अहिंसा—हिंसा का अभाव है। आगे वहां यह भी कहा गया है कि वीतराग जिनके माहात्म्य से उनकी समवसरण सभा में आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, वैरभाव, कामबाधा और भूख-प्यास की पीडा नहीं होती। यथा—
आतंक-रोग-मरणुप्पत्तीओ वैर-कामबाहाओ।
तण्हा-छुहपीडाओ जिणमाहप्पेण ण हवंति॥ ४-९३३.
यही अभिप्राय हरिवंशपुराण में भी प्रगट किया गया है—
ततोऽहि-नकुलेभेन्द्र-हर्यश्व-महिषादयः।
जिनानुभावसम्भूतविश्वासा शमिनो बभुः॥ २-८७.
अविद्या-वैर-मायादिदोषापायाप्ततद्गुणाः।
हरीभाद्या विभान्त्यन्ये तिर्यञ्चस्तादृशो यथा॥ ह. पु. ५७-१६०.
ज्ञानार्णव में भी कहा गया है—
सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्॥ ज्ञानार्णव २६, पृ. २५०.

३. द्विविधान्यायूंषि—अपवर्तनीयानि अनपवर्तनीयानि च। अनपवर्तनीयानि पुनर्द्विविधानि सोपक्रमाणि निरुपक्रमाणि च। अपवर्तनीयानि तु नियतं सोपक्रमाणीति। त. भा. २-५१; औपपातिकाश्चासंख्येयवर्षायुषश्च निरुपक्रमाः। चरमदेहाः सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चेति। एभ्य औपपातिक-चरमदेहासंख्येयवर्षायुर्भ्यः शेषा मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाः सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। × × × उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम्। त. भा. २-५२. (शेष आगे के पृष्ठ पर)

स्थिति से युक्त किया जाता है उसका नाम उपक्रम है[1]। इस प्रकार के उपक्रम से युक्त आयु को सोपक्रम और उससे रहित आयु को निरुपक्रम कहा जाता है।

योगसूत्र में भी योग के आश्रय से उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की सिद्धियों का निरूपण करते हुए उस प्रसंग में यह कहा गया है कि सोपक्रम और निरुपक्रम के भेद से कर्म दो प्रकार का है। जो योगी उसके विषय में ध्यान, धारणा और समाधिरूप संयम को करता है कि कौन कर्म शीघ्र विपाक वाला और कौन दीर्घकालीन विपाकवाला है उसके ध्यान की दृढ़ता से अपरान्तज्ञान—शरीर के छूटने का ज्ञान—उत्पन्न होता है कि अमुक देश व काल में शरीर छूट जाने वाला है। यह ज्ञान आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक रूप तीन प्रकार के अरिष्ट से भी उत्पन्न होता है[2]।

उक्त योगसूत्र के भाष्य और टीकाओं में प्रकृत उपक्रम को स्पष्ट करते हुए ये दो उदाहरण दिये गये हैं—१ जिस प्रकार गीले वस्त्र को फैला देने पर वह शीघ्र ही सूख जाता है उसी प्रकार सोपक्रम कर्म भी कारणकलाप के आश्रय से शीघ्र विनष्ट हो जाता है। इसके विपरीत जिस प्रकार उक्त वस्त्र को संकुचित रूप में रखने पर वह दीर्घ काल में सूख पाता है यही अवस्था निरुपक्रम कर्म की भी समझना चाहिए। २ जिस प्रकार सूखे वन में छोड़ी गई अग्नि वायु से प्रेरित होकर शीघ्र ही उसे जला देती है तथा इसके विपरीत तृणसमूह में क्रम से छोड़ी गई वही अग्नि उस तृणराशि को दीर्घ काल में जला पाती है उसी प्रकार सोपक्रम और निरुपक्रम कर्म के विषय में भी जानना चाहिए।

ये दोनों उदाहरण तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (२-५२) में अपवर्तन के प्रसंग में दिये गये हैं। विशेषता यह है कि वहां प्रथमतः तृणराशि का उदाहरण देकर मध्य में एक गणित का भी उदाहरण दिया गया है और तत्पश्चात् वस्त्र का उदाहरण दिया गया है। गणित का उदाहरण देते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार कोई गणितज्ञ किसी संख्याविशेष को लाने के लिए विवक्षित राशि को गुणकार और भागहार के द्वारा खण्डित करके अपवर्तित करता है उसी प्रकार करणविशेष के आश्रय से कर्मविशेष का भी अववर्तन (ह्रस्वीकरण) होता है। इस प्रकार सोपक्रम और निरुपक्रम का विचार दोनों ही दर्शनों में समानरूप से किया गया है।

उत्पादादित्रय—जैन दर्शन में द्रव्य का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त सत् माना गया है[1]। उसका अभिप्राय यह है कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ उक्त उत्पादादि तीन से सहित है। वस्तु में पूर्व पर्याय को छोड़कर जो नवीन पर्याय उत्पन्न होती है उसका नाम उत्पाद और पूर्व पर्याय के विनाश का नाम व्यय है। इन दोनों के साथ वस्तु में जो अनादि स्वाभाविक परिणाम सदा विद्यमान रहता है उसे ध्रौव्य कहा जाता है। उदाहरणार्थ जब सुवर्णमय कड़े को तोड़कर उसकी सांकल बनवायी जाती है तब सांकल रूप अवस्था का उत्पाद और कड़ेरूप अवस्था का व्यय होता है। इन दोनों के होते हुए भी जो उनमें सुवर्णरूपता सदा विद्यमान रहती है, यह उसका ध्रौव्य है। जैन दर्शन का यह एक

तत्रोपक्रमणमुपक्रमः प्रत्यासन्नीकरणकारणमुपक्रमशब्दाभिधेयम्, अतिदीर्घकालस्थित्यप्यायुर्येन कारणविशेषेणाध्यवसानादिनाऽल्पकालस्थितिकमापद्यते स कारणकलाप उपक्रमः, तेन तादृशोपक्रमेण सोपक्रमाण्यनपवर्तनीयान्यायूंषि भवन्ति। निर्गतोपक्रमाणि निरुपक्रमाण्यध्यवसानादिकारणकलापाभावात्। त. भा. सिद्ध. वृ. २-५१.; धवला पु. ९, पृ. ८९ तथा पु. १०, पृ. २३३-३४ व पृ. २३८ भी द्रष्टव्य है।

१. स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६ पृ. २१०.

२. यो. सू. ३-२२.

३. त. सू. ५, २९-३०.

प्रमुख सिद्धान्त है[1]।

इस प्रकार की परिणमनशीलता योगसूत्र में भी स्वीकार की गई है। वहां चित्त की एकाग्रतारूप परिणाम के प्रसंग में आकाशादि भूतों व श्रोत्रादि इन्द्रियों में धर्म, लक्षण और अवस्था रूप तीन परिणामों का व्याख्यान करते हुए धर्मी के लक्षण में यह कहा गया है कि जो शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मों से अन्वित होता है उसे धर्मी कहा जाता है[2]। जो धर्म अपने अपने व्यापार को करके अतीत अध्वान में प्रविष्ट होते हैं—व्यय या विनाश को प्राप्त होते हैं—वे शान्त कहलाते हैं तथा जो अनागत अध्वान को छोड़कर वर्तमान अध्वान में अपने व्यापार को किया करते हैं उन्हें उदित—उत्पाद अवस्था से सहित—कहा जाता है। साथ ही जो धर्म उक्त दोनों अवस्थाओं में शक्तिरूप से विद्यमान रहते हुए कहने में नहीं आते हैं उन्हें अव्यपदेश्य (ध्रौव्य) कहते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए योगसूत्र की भोजदेव विरचित वृत्ति में यह उदाहरण दिया गया है—सुवर्ण रुचकरूप धर्म को छोड़कर स्वस्तिक रूप धर्मान्तर को जब ग्रहण करता है तब वह सुवर्णरूपता से अन्वित रहता है—दोनों ही अवस्थाओं में वह उसे नहीं छोड़ता है। इस प्रकार वह सुवर्ण कथंचित् भिन्नरूपता को प्राप्त उन धर्मों में सामान्य (धर्मी) व विशेष (धर्म) रूप से अवस्थित होता हुआ अन्वयी रूप से प्रतिभासित होता है[3]।

आगे कहा गया है कि पूर्वोक्त धर्मों का जो क्रम है—जैसे मिट्टी के चूर्ण से उसका पिण्ड, उससे कपाल और उनसे घट; उसकी भिन्नता पूर्व धर्म को छोड़कर धर्मान्तर के ग्रहणरूप धर्मी के परिणाम की भिन्नता में हेतु है—उसकी अनुमापक है। उक्त तीन परिणामों के धारणा, ध्यान और समाधिरूप संयम से—धर्म-धर्मी आदिरूप उपर्युक्त विकल्पों के निरोध से—योगी के अतीत व अनागत का ज्ञान प्रादुर्भूत होता है[4]।

आगे कैवल्यपाद में भी सत्कार्यवाद[5] का समर्थन व विज्ञानवाद वा निराकरण करते हुए परिणामवाद को प्रतिष्ठित किया गया है। विशेष इतना है कि पुरुष को अरिणामी (कूटस्थ नित्य) स्वीकार किया गया है[6]।

---

१. न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥
कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥
घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोह-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ आ. मी. ५७-६०.
स्थिति-जनन-निरोधलक्षणं चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्।
इति जिन सकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतां वरस्य ते ॥ स्व. स्तो. २०-४.

२. शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः। एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्म-लक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः। शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपात धर्मी। यो. सू. ३, १२-१४.

३. ततः पुनः यथा सुवर्णं रुचकरूपधर्मपरित्यागेन स्वस्तिकरूपधर्मान्तरपरिग्रहे सुवर्णरूपतयाऽनुवर्तमानं तेषु धर्मेषु कथंचिद्भिन्नेषु धर्मिरूपतया सामान्यात्मना धर्मरूपतया विशेषात्मना स्थितमन्वयित्वेन अवभासते। यो. सू. भोज. वृत्ति ३-१४.

४. क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः। परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। यो. सू. ३, १५-१६.

५. तस्मात् सतामभावासम्भवादसतां चोत्पत्त्यसम्भवात्तैस्तैर्धर्मैर्विपरिणममानो धर्मी सदैवैकरूपतयाऽवतिष्ठते। यो. सू. भोज. वृ. ४-१२.

६. यो. सू. ४, १२-१७

इस प्रकार जैन दर्शन में स्वीकृत उत्पादादि तीन के आश्रय से जैसे वस्तु को कथंचित् परिणामी स्वीकार किया गया है लगभग उसी प्रकार योगदर्शन में भी शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मों के आश्रय से वस्तु को परिणामी स्वीकार किया गया है। वहां उत्पाद का समानार्थक शब्द उदित, व्यय का समानार्थक शान्त और ध्रौव्य का समानार्थक अव्यपदेश्य है।

कैवल्य— जैन दर्शन के अनुसार मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय हो जाने पर जीव के जब केवलज्ञान प्रगट हो जाता है तब उसे केवली कहा जाता है। केवली समस्त पदार्थों का ज्ञाता-द्रष्टा (सर्वज्ञ) होता हुआ वीतराग—राग-द्वेष से पूर्णतया रहित—होकर आत्मस्वरूप में अवस्थित होता है[1]। केवली की इस अवस्था का नाम ही कैवल्य है। केवली के उपर्युक्त स्वरूप को मूलाचार (७-६७), आवश्यक निर्युक्ति (८९ व १०७९), सर्वार्थसिद्धि (६-१३), तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (१०, ५-६, पृ. ३१९) और तत्त्वार्थवार्तिक (६, १३, १ व ९, १, २३) आदि अनेक ग्रन्थों में प्रगट किया गया है।

योगसूत्र में कैवल्य का उल्लेख चार सूत्रों में हुआ है[2]। सर्वप्रथम वहां सूत्र २-२५ में यह कहा गया है कि सम्यग्ज्ञान के द्वारा अविद्या का अभाव हो जाने से जो द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (बुद्धिसत्त्व) के संयोग का अभाव हो जाता है उसे हान कहते हैं। यही हान—दुःखरूप संसार का नाश—केवल पुरुष का कैवल्य कहलाता।

आगे योग से प्रादुर्भूत होने वाली अनेक प्रकार की विभूतियों का निर्देश करते हुए सूत्र ३-५०. में यह कहा गया है कि रजोगुण के परिणामस्वरूप शोक के विनष्ट हो जाने पर चित्त की स्थिरता की कारणभूत जो विशोका सिद्धि[3] प्रगट होती है उसके प्रगट हो जाने पर जब योगी के वैराग्य उत्पन्न होता है तब उसके समस्त रागादि दोषों की कारणभूत अविद्या (मोह या मिथ्याज्ञान) के विनष्ट हो जाने से दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्तिरूप कैवल्य प्रादुर्भूत होता है। उस समय सत्त्वादि गुणों के अधिकार के समाप्त हो जाने पर पुरुष (आत्मा) स्वरूपप्रतिष्ठित हो जाता है[4]।

तत्पश्चात् सूत्र ३-५५ में प्रकारान्तर से फिर यह कहा गया है कि सत्त्व और पुरुष दोनों की शुद्धि के समानता को प्राप्त हो जाने पर पुरुष के कैवल्य उत्पन्न होता है—वह मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। समस्त कर्तृत्वविषयक अभिमान के निवृत्त हो जाने पर सत्त्व गुण का जो अपने कारण में प्रवेश होता है, इसका नाम सत्त्वशुद्धि तथा उपचरित भोक्तृत्व का जो अभाव हो जाता है, इसका नाम पुरुषशुद्धि है[5]।

आगे कैवल्य पाद में दस (४, २४-३३) सूत्रों द्वारा कैवल्य का विवेचन करते हुए कहा गया है कि योग और अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के समाप्त हो जाने पर जो सत्त्वादि गुणों का प्रतिप्रसव—प्रतिपक्षभूत परिणाम के समाप्त हो जाने से विकार की अनुत्पत्ति है—उसे कैवल्य कहा जाता है, अथवा चितिशक्ति का जो स्वरूप मात्र में अवस्थान है उसे कैवल्य समझना चाहिये[6]।

---

१. स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्॥ तत्त्वानु. २३४.

२. देखो पीछे 'कैवल्य' शब्द, पृ. ३७.

३. विशोका विगतः सुखमयसत्त्वाभ्यासवशाच्छोको रजःपरिणामो यस्याः सा विशोका चेतसः स्थितिनिबन्धिनी। यो. सू. भोज. वृत्ति १-३६.

४. यो. सू. (भोज. वृत्ति ३-५०)

५. सत्त्व-पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। यो. सू. ३-५५। (सत्त्वस्य सर्वकर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणेऽनुप्रवेशः शुद्धिः, पुरुषस्य शुद्धिरुपचरितभोगाभावः, इति द्वयोः समानायां शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यमुत्पद्यते। भोज. वृत्ति)

६. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति। यो. सू. ४-३३।

इस प्रकार जैसे जैन दर्शन में केवलीकी कैवल्य अवस्था को राग, द्वेष, मोह एवं अज्ञानता आदि दोषों से रहित स्वात्मस्थिति स्वरूप माना गया है वैसे ही योगदर्शन में भी राग-द्वेषादि दोषों की बीजभूत अविद्या के विनष्ट हो जाने पर आविर्भूत होने वाली उक्त कैवल्य अवस्था को आत्यन्तिकी दुखनिवृत्तिरूप स्वीकार किया गया है। वही पुरुष, आत्मा अथवा चेतना शक्ति की स्वरूपप्रतिष्ठा है। जैन दर्शन में उसे आत्यन्तिक स्वास्थ्य कहा गया है[1]।

जिस प्रकार सिद्धिविनिश्चय की टीका (७-२१) में **'केवलस्य कर्मविकलस्य आत्मनो भावः कैवल्यम्'** इस निरुक्ति के अनुसार कैवल्य का स्वरूप प्रगट किया गया है उसी प्रकार योगसूत्र की भोजदेव विरचित वृत्ति में (२-२५) 'यदेव च संयोगस्य हानं तदेव नित्यं **केवलस्यापि पुरुषस्य कैवल्यं व्यपदिश्यते**' यह निर्देश करते हुए उसका स्वरूप प्रगट किया गया है।

भाष्यगत शब्दसाम्य—

जिस प्रकार जैन दर्शन के अन्तर्गत उपर्युक्त कितने ही शब्द मूल योगसूत्र में प्रयुक्त हुए हैं उसी प्रकार उसके व्यास विरचित भाष्य व भोजदेव विरचित वृत्ति आदि में भी ऐसे अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं जो जैन दर्शन में यत्र तत्र व्यवहृत हुए हैं। यथा—

सर्वज्ञ— यह शब्द योगसूत्र में इस प्रकार व्यवहृत हुआ है—तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् (१-२५)। इसके भाष्य में सर्वज्ञ के स्वरूप को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि त्रिकालवर्ती अतीन्द्रिय पदार्थों का जो हीनाधिक रूप में बोध होता है, यह सर्वज्ञ का बीज (हेतु) है। यह क्रम से वृद्धि को प्राप्त होकर जहां निरतिशय—उस वृद्धि रूप अतिशय से रहित—होकर परम काष्ठा को प्राप्त हो जाता है—वह सर्वज्ञ कहलाता है[2]।

जैन दर्शन के अन्तर्गत समयसार (२६), पंचास्तिकाय (१५१), आप्तमीमांसा (५) और आप्तपरीक्षा (१०७-६) आदि अनेक ग्रन्थों में उस शब्द का व्यवहार हुआ है तथा उसके लक्षण का निर्देश जैसा पूर्वोक्त योगसूत्र के भाष्य में किया गया है लगभग वैसा ही उसका लक्षण उन जैन ग्रन्थों में भी पाया जाता है। वहां उसके समानार्थक आप्त, अर्हत्, जिन व केवली आदि अनेक शब्दों का उपयोग किया गया है।

जिस प्रकार योगसूत्र के भाष्य में उसकी सिद्धि "अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात् परिमाणवत्" इस अनुमान के द्वारा की गई है—उसी प्रकार जैन दर्शन के अन्तर्गत आप्तमीमांसा में उसकी सिद्धि ज्ञान के अतिशय के स्थान में अज्ञानादि दोषों की अतिशयित हानि के द्वारा की गई है। यथा—दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥ आ. मी. ४.

कुशल, चरमदेह—योगसूत्र में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पांच क्लेशों का निर्देश करते हुए उनमें अविद्या को शेष अस्मितादि चार का क्षेत्र—उत्पत्तिस्थान—कहा गया है। प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार स्वरूप उन अविद्या आदि का विवेचन करते हुए उसके भाष्य (२-४) में कहा गया है कि चित्त में शक्ति मात्र से स्थित उक्त अविद्या आदि का, बीज रूप में अवस्थित रहकर भी प्रबोधक के अभाव में अपने कार्य को न कर सकना, इसका नाम प्रसुप्त है। इस प्रसंग में भाष्य में कहा गया है कि जिसका क्लेशरूप बीज दग्ध हो चुका है उसके अवलम्बन के सन्मुख होने पर भी उन

---

१. स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेव पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा.
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्वः॥ स्व. स्तो. ७-१.

२. यदिदमतीतानागत-प्रत्युत्पन्न-प्रत्येक-समुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञ-बीजमेतद् विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। भाष्य,

अविद्या आदि क्लेशों के अंकुरित होने की सम्भावना नहीं रहती। इसीलिए क्षीणक्लेश को कुशल[1] व चरमदेह कहा गया है (चरमदेह शब्द का उपयोग आगे सूत्र ४-७ के भाष्य में भी किया गया है)।

आगे योगसूत्र २-२७ के भाष्य में केवली पुरुष के स्वरूप को दिखलाते हुए कुशल का लक्षण इस प्रकार प्रगट किया गया है—एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः **केवली** पुरुष इति। एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन् पुरुषः **कुशल** इत्याख्यायते। प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति, गुणातीतत्वादिति।

उपर्युक्त कुशल शब्द आगे सूत्र २-१३, ४-१२ और ४-३३ के भाष्य में भी व्यवहृत हुआ है। ४-१२ के भाष्य में तो उसके साथ अनुष्ठान भी जुड़ा हुआ है। योगसूत्र २-१४ की भोज-वृत्ति में कुशल कर्म को पुण्य कहा गया है। प्रकृत में उसका अर्थ क्षीणमोह जैसा है।

जैन दर्शनगत आप्तमीमांसा (८) आदि ग्रन्थों में कुशल शब्द प्रायः पुण्य कर्म —सदाचरण—के लिये व्यवहृत हुआ है[2]। सर्वार्थसिद्धि (९-७) आदि में निर्जरा के प्रसंग में उसे कुशलमूला निर्दिष्ट किया गया है। **चरमदेह** शब्द का उपयोग तत्त्वार्थसूत्र (२-५३) हरिवंशपुराण (६१-९२) और तत्त्वानुशासन (२२४) आदि में तद्भवमोक्षगामी जीव के लिये—जिसे आगे नवीन शरीर नहीं धारण करना पड़ेगा—किया गया है[3]। योगसूत्रगत चरमदेह शब्द का भी अभिप्राय वही है।

प्रक्षीणमोहावरण, क्षीणक्लेश—योगसूत्र १-२ के भाष्य में प्रक्षीणमोहावरण और सूत्र २-४ के भाष्य में क्षीणक्लेश शब्दों का उपयोग हुआ है। जैन दर्शन में इनके समानार्थक क्षीणमोह व क्षीणकषाय शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। जैसे—समयसार (३८), तत्त्वार्थसूत्र (९-४५) और दि. पंचसंग्रह (१-२५) आदि। आप्तमीमांसा[4] में अरहन्त अवस्था में दोष और आवरण की हानि सिद्ध की गई है। दोष से अभिप्राय वहां राग, द्वेष, मोह एवं अज्ञानादि का तथा आवरण से अभिप्राय ज्ञानावरण व दर्शनावरण आदि का रहा है। योगसूत्र के भाष्य में उपर्युक्त प्रक्षीणमोहावरण का भी प्रायः वैसा ही अभिप्राय रहा है। वहां प्रक्षीणमोहावरण यह चित्त के विशेषणरूप से प्रयुक्त हुआ है[5]।

सम्यग्दर्शन—योगसूत्र के भाष्य में यह कहा गया है कि अनादि दुःखरूप प्रवाह से प्रेरित योगी आत्मा और भूतसमूह को देखकर समस्त दुःखों के क्षय के कारणभूत **सम्यग्दर्शन** की शरण में जाता है—दुःखनिवृत्ति का कारण मानकर वह उसे स्वीकार करता है। यहीं पर आगे उसे संसार के हान का —उससे मुक्ति पाने का—उपाय भी कहा गया है[6]।

---

१. तदेवमीदृश्यां सप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञायामुपजातायां पुरुषः कुशलः (इसके स्थान में 'केवलः' पाठ भी पाया जाता है) इत्युच्यते। यो. सू. भोज. वृ. २-२७।

२. योगसूत्र १-२४ के भाष्य में भी कुशल व अकुशल के भेद से कर्म को दो प्रकार निर्दिष्ट किया गया है। यथा—**कुशलाकुशलानि कर्माणि**।

३. चरमं संसारान्तर्वर्ति तद्भवमोक्षकारणं रत्नत्रयाराधकजीवसम्बन्धि शरीरं वज्रवृषभनाराचसंहनन-युक्तं यस्यासौ चरमशरीरः। गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टीका ३७४।

४. दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तरमलक्षयः ॥४॥

५. तदेव (प्रख्यारूपमेव चित्तसत्त्वम्) **प्रक्षीणमोहावरणं** सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्म-ज्ञान-वैराग्यैश्वर्योपगं भवति। यो. सू. भाष्य. १-२.

६. तदेवमनादिना दुःख-स्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं **सम्यग्दर्शनं** शरणं प्रपद्यत इति। × × × हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। यो. सू. भाष्य २-१५.; आगे सूत्र ४ १५ के भाष्य में भी उक्त सम्यग्दर्शन शब्द इस प्रकार उपलब्ध होता है—सम्यग्दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्यज्ञानमिति।

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वहां तत्त्वार्थसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों में उसे हेयस्वरूप संसार की हानि का—उससे मुक्त होने का—प्रमुख कारण कहा गया है[1]। उसकी इस प्रमुखता का कारण यह है कि उसके विना ज्ञान-चारित्र भी यथार्थता को नहीं प्राप्त होते[2]।

सम्यग्ज्ञान—यह शब्द योगसूत्र २-२८ के भाष्य में उपलब्ध होता है। जैन दर्शन के अन्तर्गत उक्त तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन के साथ इसे भी मोक्ष का कारण कहा गया है। योगसूत्र २-४ की भोजदेव विरचित वृत्ति में यह कहा गया है कि सम्यग्ज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञानरूप अविद्या के हट जाने पर दग्धबीज के समान हुए क्लेश अंकुरित नहीं होते[3]। आगे सूत्र २-१६ की उत्थानिका में भी उक्त वृत्ति में उसी अभिप्राय को व्यक्त किया गया है[4]।

केवली—योगसूत्र ३-५५ के भाष्य में कहा गया है कि जब पुरुष के कैवल्य प्रगट हो जाता है तब वह स्वरूपमात्र-ज्योति निर्मल केवली हो जाता है। कैवल्य के स्वरूप को दिखलाते हुए वहां यह निर्देश किया गया है कि ज्ञान से अदर्शन हट जाता है, अदर्शन के हट जाने से अस्मिता आदि आगे के क्लेश नहीं रहते, तथा उन क्लेशों के विनष्ट हो जाने से कर्मविपाक का अभाव हो जाता है। इस प्रकार इस अवस्था में सत्त्वादि गुणों का अधिकार समाप्त हो जाने से वे दृश्यत्वेन उपस्थित नहीं रहते। यही पुरुष का कैवल्य है[5]।

मूलाचार (७-५७), आवश्यक निर्युक्ति (८९ व १०७९), सर्वार्थसिद्धि (६-१३) और तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (का. ६, पृ. ३१९) आदि अनेक जैन ग्रन्थों में उक्त केवल शब्द व्यवहार हुआ है। अज्ञान, अदर्शन, राग, द्वेष एवं मोह आदि के हट जाने से पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) होकर स्वरूप में स्थित होना; यह जो केवली का स्वरूप है वह प्रायः दोनों दर्शनों में समान है।

जैन दर्शन, भगवद्गीता और योगदर्शन आदि में प्रतिपादित ध्यान अथवा योग के विषय में परस्पर कितनी समानता है; इसके विषय में यहां कुछ तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। यद्यपि यह कुछ अप्रासंगिक सा दिखता है, फिर भी जो पाठक अन्य सम्प्रदाय के ध्यानविषयक ग्रन्थों से परिचित नहीं हैं वे कुछ उससे परिचित हो सकें, इस विचार से यह प्रयत्न किया गया है। जैन दर्शन के समान अन्य दर्शनों में भी योगविषयक महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध है। उसमें योगवाशिष्ठ आदि कुछ ग्रन्थ प्रमुख हैं।

अब आगे हम प्रस्तुत ध्यानशतक पर पूर्ववर्ती कौन से जैन ग्रन्थों का कितना प्रभाव रहा है, इसका कुछ विचार करेंगे—

ध्यानशतक और मूलाचार

आचार्य वट्टकेर (सम्भवतः प्र.-द्वि. शती) विरचित मूलाचार यह एक मुनि के आचारविषयक

---

१. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। त. सू. १-१.

२. विद्या-वृत्तस्य सम्भूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ रत्नक. ३२.

३. तस्यां च मिथ्यारूपायामविद्यायां सम्यग्ज्ञानेन निवर्तितायां दग्धबीजकल्पानां येषां न क्वचित् प्ररोहोऽस्ति। यो. सू. भोज. वृत्ति २-४.

४. तदेवमुक्तस्य क्लेश-कर्म-विपाकराशेरविद्याप्रभवत्वादविद्यायाश्च मिथ्याज्ञानरूपतया सम्यग्ज्ञानोच्छेद्यत्वात् सम्यग्ज्ञानस्य च साधनहेयोपादेयावधारणरूपत्वात्तदभिधानायाह—

५. परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते, तस्मिन् निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः, क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावः। चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणाः न पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते। तत् पुरुषस्य कैवल्यम्। तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवतीति। भा. ३-५५.

महत्त्वतूर्ण ग्रन्थ है। वह बारह अधिकारों में विभक्त है। उसके पंचाचार नामक पांचवें अधिकार में तप आचार की प्ररूपणा करते हुए अभ्यन्तर तप के जो छह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें पांचवां ध्यान है। इस ध्यान की वहां संक्षेप में (गा. १९७-२०८) प्ररूपणा की गई है। वहाँ सर्वप्रथम ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार भेदों का निर्देश करने हुए उनमें आर्त और रौद्र इन दो को अप्रशस्त तथा धर्म और शुक्ल इन दो को प्रशस्त कहा गया है (१९७)। आगे उन चार ध्यानों के स्वरूप को यथाक्रम से प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि अमनोज्ञ (अनिष्ट) के संयोग, इष्ट के वियोग, परीषह (क्षुधादि की वेदना) और निदान के विषय में जो कषाय सहित ध्यान (चिन्तन) होता है उसे आर्त-ध्यान कहते हैं (१९८)। चोरी, असत्य, संरक्षण—विषयभोगादि के साधनभूत धनादि के संरक्षण—और छह प्रकार के आरम्भ के विषय में जो कषायपूर्ण चिन्तन होता है उसे रौद्रध्यान कहा जाता है (१९९)। उपर्युक्त आर्त और रौद्र ये दोनों ध्यान चूंकि सुगति—देवगति व मुक्ति -की प्राप्ति में बाधक हैं, अतएव यहां उन्हें छोड़कर व धर्म और शुक्ल ध्यान में उद्यत होकर मन की एकाग्रतापूर्वक उनके चिन्तन की प्रेरणा की गई है (२००-२०१)।

आगे क्रमप्राप्त धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार भेदों का निर्देश करते हुए पृथक् पृथक् उनके स्वरूप को भी प्रगट किया गया है। अन्तिम संस्थान-विचय के प्रसंग में यह भी कहा गया है कि धर्मध्यानी यहां अनुगत अनुप्रेक्षाओं का भी विचार करता है। तदनन्तर उन बारह अनुप्रेक्षाओं के नामों का निर्देश भी किया गया है (२०१-२०६)।

तत्पश्चात् शुक्लध्यान के प्रसंग में यहां इतना मात्र कहा गया है कि उपशान्तकषाय पृथक्त्व-वितर्क-वीचार ध्यान का, क्षीणकषाय एकत्व-वितर्क-अवीचार ध्यान का, सयोगी केवली तीसरे सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यान का और अयोगी केवली समुच्छिन्नक्रिय शुक्लध्यान का चिन्तन करता है (२०७-२०८)।

मूलाचार में जहां प्रसंगप्राप्त इस ध्यान की संक्षेप में प्ररूपणा की गई है वहां ध्यानविषयक एक स्वतंत्र ग्रन्थ होने से ध्यानशतक में उसकी विस्तार से प्ररूपणा की गई है। दोनों में जो कुछ समानता व असमानता है वह इस प्रकार है—

मूलाचार में सामान्य से चार ध्यानों के नामों का निर्देश करते हुए आर्त व रौद्र को अप्रशस्त और धर्म व शुक्ल को प्रशस्त कहा गया है (५-१९७)। इसी प्रकार ध्यानशतक में भी उक्त चार ध्यानों के नाम का निर्देश करते हुए उनमें अन्तिम दो ध्यानों को मुक्ति के साधनभूत तथा आर्त व रौद्र इन दो को संसार का कारणभूत कहा गया है (५)। यही उनकी अप्रशस्तता और प्रशस्तता है।

मूलाचार में आर्तध्यान के चार भेदों का नामनिर्देश न करके सामान्य से उसका स्वरूप मात्र प्रगट किया गया है। उस स्वरूप को प्रगट करते हुए अमनोज्ञ के योग, इष्ट के वियोग, परीषह और निदान इस प्रकार से उसके चिन्तनीय विषय के भेद का जो दिग्दर्शन कराया गया है उससे उसके चार भेद स्पष्ट हो जाते हैं (५-१९८)। तत्त्वार्थसूत्र (९-३२) में जहां उसके तृतीय भेद को वेदना के नाम से निर्दिष्ट किया गया है वहां प्रकृत मूलाचार में उसका निर्देश परीषह के नाम से किया गया है।

ध्यानशतक में भी उसके चार भेदों का नामनिर्देश नहीं किया गया, फिर भी उसके चार भेदों का स्वरूप जो पृथक् पृथक् चार गाथाओं (६-९) के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है उससे उसके चार भेद प्रकट हैं (१९-२२)। यहां उनका कुछ क्रमव्यत्यय अवश्य है। जैसे प्रथम भेद में अमनोज्ञ के वियोग, द्वितीय भेद में शूल रोगादि की वेदना के वियोग, तृतीय भेद में अभीष्ट विषयों की वेदना (अनुभवन) के अवियोग और चतुर्थ भेद में निदान के विषय में चिन्तन। इस प्रकार मूलाचार में जो द्वितीय है वह ध्यानशतक में तृतीय है तथा मूलाचार में जो तृतीय है वह ध्यानशतक में द्वितीय है। इसके अतिरिक्त दोनों में वियोग और अवियोग विषयक भी कुछ विशेषता रही है। जैसे—मूलाचार में अमनोज्ञ का योग (संयोग) होने पर जो उसके विषय में संक्लेशरूप परिणति होती है उसे प्रथम आर्तध्यान कहा गया है।

पर ध्यानशतक में अमनोज्ञ विषयों के वियोग के लिए तथा उनका वियोग हो जाने पर भविष्य में पुनः उनका संयोग न होने के विषय में जो चिन्तन होता है उसे प्रथम आर्तध्यान कहा गया है। यह केवल उक्तिभेद है, अभिप्राय में कुछ भेद नहीं है।

मूलाचार में आर्तध्यान के समान रौद्रध्यान के भी स्वरूप का सामान्य से निर्देश किया गया है, उसके भेदों का नामनिर्देश नहीं किया गया (५-१९९)। फिर भी विषयक्रम के निर्देश से उसके चार भेद स्पष्ट दिखते हैं। यहां चतुर्थ भेद का विषय जो छह प्रकार का आरम्भ निर्दिष्ट किया गया है उसे हिंसा का ही द्योतक समझना चाहिए।

ध्यानशतक में भी यद्यपि रौद्रध्यान के उन चार भेदों का नामनिर्देश तो नहीं किया, फिर भी आगे वहां चार (१९-२२) गाथाओं द्वारा उनके लक्षणों का जो पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है उससे उसके चार भेद स्पष्ट हो जाते हैं। आगे (२३) उनकी चार संख्या का भी निर्देश कर दिया गया है।

मूलाचार में धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार भेदों का स्पष्टतया नामनिर्देश करते हुए उनके पृथक् पृथक् लक्षण भी कहे गये हैं (२०१-५)।

ध्यानशतक में उसके उन चार भेदों का नामनिर्देश तो नहीं किया गया, किन्तु उसके प्ररूपक भावना आदि बारह द्वारों के अन्तर्गत ध्यातव्य द्वार की प्ररूपणा (४५-६२) में जो आज्ञा, अपाय, विपाक और द्रव्यों के लक्षण व संस्थान आदि के स्पष्टीकरणपूर्वक उनके चिन्तन की प्रेरणा की गई है उससे उसके वे नाम स्पष्ट हो जाते हैं[1]।

विशेष इतना है कि मूलाचार में उसके द्वितीय भेद के लक्षण में जहां कल्याणप्रापक उपायों, जीवों के अपायों और उनके सुख-दुख को चिन्तनीय कहा गया है (५-२०३) वहां ध्यानशतक में राग-द्वेषादि में वर्तमान जीवों के उभय लोकों से सम्बद्ध अपायों को चिन्तनीय निर्दिष्ट किया गया है (५०)। इसके अतिरिक्त मूलाचार में धर्मध्यान के चतुर्थ भेद के लक्षण को प्रगट करते हुए उसमें ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक के आकारादि के चिन्तन के साथ अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन की भी आवश्यकता प्रगट की गई है तथा आगे उन अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं के नामों का निर्देश भी कर दिया गया है (५, २०५-६)। परन्तु ध्यानशतक में व्यापक रूप में उसका व्याख्यान करते हुए यह कहा गया है कि धर्मध्यानी को उसमें द्रव्यों के लक्षण, संस्थान, आसन, विधान, मान (प्रमाण) और उनकी उत्पादादि पर्यायों के साथ ऊर्ध्वादि भेदों में विभक्त लोक के स्वरूप का भी चिन्तन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यहां यह भी कहा गया है कि जीव के स्वरूप, उसके संसार परिभ्रमण के कारण, और उससे उद्धार होने के उपाय का भी विचार करना आवश्यक है (५२-६२)। यहां अनुप्रेक्षा द्वार एक पृथक् ही है जहां यह कहा गया है कि ध्यान के विनष्ट होने पर मुनि अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन में उद्यत होता है (६५)। यहां उन अनित्यादि भावनाओं की संख्या और नामों का कोई निर्देश नहीं किया गया[2]।

मूलाचार में शुक्लध्यान के प्रसंग में इतना मात्र कहा गया है कि उपशान्तकषाय पृथक्त्व-वितर्क-वीचार ध्यान का, क्षीणकषाय एकत्व-वितर्क-अवीचार ध्यान का, सयोगी केवली तीसरे सूक्ष्मक्रिय ध्यान का और अयोगी केवली समुच्छिन्नक्रिय ध्यान का चिन्तन करता है (२०७-८)। परन्तु ध्यान-शतक में उसके आलम्बन व क्रम (योगनिरोधक्रम) आदि की चर्चा करते हुए ध्यातव्य के प्रसंग में पृथक्त्व-वितर्क-सविचार आदि चार प्रकार के शुक्लध्यान के पृथक् पृथक् लक्षणों का भी निर्देश किया गया है

---

१. तत्त्वार्थसूत्र में (९-३६) भी उसके इन चार भेदों की सूचना विषयभेद के अनुसार ही की गई है।

२. टीकाकार हरिभद्र सूरि ने उसके स्पष्टीकरण में अनित्य, अशरण, एकत्व और संसार इन चार भावनाओं का निर्देश किया है (इसका आधार स्थानांग का ध्यान प्रकरण रहा है—सूत्र २४७, पृ. १८८)। इसी प्रसंग में आगे हरिभद्र सूरि ने प्रशमरतिप्रकरण से बारह भावनाओं के प्ररूपक पद्यों को भी उद्धृत किया है।

(७७-८२)। उनके स्वामियों का निर्देश धर्मध्यान के प्रसंग (६४) में किया गया है।

मूलाचार में शुक्लध्यान को छोड़कर अन्य आर्त आदि किसी भी ध्यान के स्वामियों का निर्देश नहीं किया गया, जब कि ध्यानशतक में पृथक् पृथक् उन चारों ही ध्यानों के स्वामियों का निर्देश यथास्थान किया गया है (१८, २३, ६३, व ६४)।

इन दोनों ग्रन्थों में ध्यान के वर्णन में जहां कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है वहां कुछ उसमें विशेषता भी उपलब्ध होती है। इसको देखते हुए भी एक ग्रन्थ का दूसरे की रचना में कुछ प्रभाव रहा है, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

ध्यानशतक व भगवती-आराधना

भगवती-आराधना आचार्य शिवार्य (सम्भवतः २-३री शती) के द्वारा रची गई है। आराधक को लक्ष्य करके उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन चार आराधनाओं की प्ररूपणा की गई है। उनमें भी समाधिमरण के प्रमुख होने के कारण क्षपक के आश्रय से मरण के १७ भेदों में पण्डित-पण्डितमरण, पण्डित-मरण, बाल-पण्डितमरण, बालमरण और बाल-बालमरण इन पांच मरण-भेदों का कथन किया गया है। वहां भक्तप्रत्याख्यान के भेदभूत सविचार भक्तप्रत्याख्यान के प्रसंग में यह कहा गया है कि जो संसार परिभ्रमण के दुःखों से डरता है वह संक्लेश के विनाशक चार प्रकार के धर्म और चार प्रकार के शुक्लध्यान का ही चिन्तन किया करता है। वह परीषहों से सन्तप्त होकर भी कभी आर्त और रौद्र इन दुर्ध्यानों का चिन्तन नहीं करता (१६६६-७०)। इसी प्रसंग में वहां दो गाथाओं द्वारा क्रम से चार प्रकार के आर्त और चार प्रकार के रौद्रध्यान की संक्षेप में सूचना की गई है और तत्पश्चात् यह कहा गया है कि इन दोनों को उत्तम गति का प्रतिबन्धक जानकर क्षपक उनसे दूर रहता हुआ निरन्तर धर्म और शुक्ल इन दोनों ध्यानों में अपनी बुद्धि को लगाता है (१७०२-४)।

• पश्चात् शुभ ध्यान में प्रवृत्त रहने की उपयोगिता को प्रगट करते हुए संक्षेप में ध्यान के परिकर की सूचना की गई है। तदनन्तर धर्मध्यान के लक्षण व आलम्बन का निर्देश करते हुए उसके आज्ञाविचयादि चारों भेदों का पृथक् पृथक् लक्षण कहा गया है (१७०५-१४)।

धर्मध्यान के चतुर्थ भेदभूत संस्थानविचय के स्वरूप को दिखलाते हुए यहां भी मूलाचार के समान इस संस्थानविचय में अनुगत अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन की आवश्यकता प्रगट की गई है। प्रसंगवश यहां उन अध्रुवादि बारह अनुप्रेक्षाओं का नामनिर्देश करके उनमें किस प्रकार क्या चिन्तन करना चाहिए, इसकी विस्तार से प्ररूपणा की गई है (१७१४-१८७३)।

आगे यह कहा गया है कि उक्त बारह अनुप्रेक्षायें धर्मध्यान की आलम्बनभूत हैं। ध्यान के आलम्बनों के आश्रय से मुनि उस ध्यान से च्युत नहीं होता। वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा ये उक्त धर्मध्यान के आलम्बन हैं। लोक धर्मध्यान के आलम्बनों से भरा हुआ है, ध्यान का इच्छुक क्षपक मन से जिस ओर देखता है वही उस धर्मध्यान का आलम्बन हो जाता है (१८७४-७६)।

इस प्रकार से क्षपक जब धर्मध्यान का अतिक्रमण कर देता है तब वह अतिशय विशुद्ध लेश्या से युक्त होकर शुक्लध्यान को ध्याता है। आगे उस शुक्लध्यान के चार भेदों का निर्देश करके उनका पृथक् पृथक् स्वरूप भी प्रगट किया गया है (१८७७-८६)।

आगे कहा गया है कि इस प्रकार से क्षपक जब एकाग्रचित्त होता हुआ ध्यान का आश्रय लेता है तब वह गुणश्रेणि पर आरूढ़ होकर बहुत अधिक कर्म की निर्जरा करता है। अन्त में ध्यान के माहात्म्य को दिखलाते हुए इस प्रकरण को समाप्त किया गया है।

भगवती-आराधना में आर्जव, लघुता (निःसंगता), मार्दव और उपदेश इनको धर्म्यध्यान का लक्षण—परिचायक लिंग—कहा गया है। ये धर्म्यध्यानी के स्वभावतः हुआ करते हैं। अथवा उसकी

सूत्र में—आगमविषयक उपदेश में—स्वभावतः रुचि हुआ करती है[1]।

प्रस्तुत ध्यानशतक (६७) में भी धर्मध्यान के परिचायक लिंग का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि आगम, उपदेश, आज्ञा और निसर्ग (स्वभाव) से जो धर्मध्यानी के जिनोपदिष्ट पदार्थों का श्रद्धान हुआ करता है, वह धर्मध्यान का लिंग (हेतु) है।

दोनों ग्रन्थगत उन गाथाओं में शब्द व अर्थ से यद्यपि बहुत कुछ समानता दिखती है, फिर भी ध्यानशतक में उक्त अभिप्राय भगवती-आराधना से न लेकर सम्भवतः स्थानांग से लिया गया है। उसके साथ समानता भी अधिक है[2]।

इसी प्रकार भगवती-आराधना में धर्मध्यान के जिन आलम्बनों का निर्देश किया गया है[3] उनका उल्लेख यद्यपि ध्यानशतक (४२) में किया गया है, फिर भी वहां उनका उल्लेख भगवती-आराधना के आश्रय से न करके उक्त स्थानांग से ही किया गया दिखता है[4]।

भगवती-आराधनागत इस ध्यान प्रकरण की समानता पूर्वोक्त मूलाचार के उस प्रकरण के साथ अवश्य कुछ रही है। दोनों ग्रन्थों में विषयविवेचन की पद्धति ही समान नहीं दिखती, बल्कि कुछ गाथायें भी दोनों ग्रन्थों में समान रूप से उपलब्ध होती हैं। यथा—मूला. ५, १९८-२०० व भ. आ. १७०२-४. तथा मूला. २०२-६ व भ. आ. १७११-१५.

ध्यानशतक और तत्त्वार्थसूत्र

आचार्य उमास्वाति (वि. द्वि.-तृ. शती) विरचित तत्त्वार्थसूत्र १० अध्यायों में विभक्त है। उसमें मुक्ति के प्रयोजनीभूत जीवादि सात तत्त्वों की संक्षेप में प्ररूपणा की गई है। उसके नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा के कारणभूत तप का वर्णन करते हुए अभ्यन्तर तप के छठे भेदभूत ध्यान का संक्षेप में व्याख्यान किया गया है—उसका प्रभाव ध्यानशतक पर विशेषरूप में रहा दिखता है। यथा—

१ तत्त्वार्थसूत्र में सर्वप्रथम ध्यान के स्वरूप, उसके स्वामी और काल का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि एकाग्रचिन्तानिरोध का नाम ध्यान है। वह उत्तम संहनन वाले जीव के अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है[5]।

ध्यानशतक में उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए जो यह कहा गया है कि स्थिर अध्यवसान को ध्यान कहते हैं, उसका अभिप्राय तत्त्वार्थसूत्र जैसा ही है। कारण यह कि स्थिर का अर्थ निश्चल और अध्यवसान का अर्थ एकाग्रता का आलम्बन लेने वाला मन है। तदनुसार इसका भी यही अभिप्राय हुआ कि मन की स्थिरता या एक वस्तु में चिन्ता के निरोध को ध्यान कहते हैं। आगे उसे स्पष्ट करते हुए यही कहा गया है कि एक वस्तु में जो चित्त का अवस्थान—चिन्ता का निरोध है—उसे ध्यान कहा जाता है और वह अन्तर्मुहूर्त मात्र रहता है। तत्त्वार्थसूत्र में जहां उसके स्वामी का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि वह उत्तम संहनन वाले के होता है वहां ध्यानशतक में उसे और अधिक स्पष्ट करते

---

१. धम्मस्स लक्खणं से अज्जव-लहुगत्त-मद्दवोवसमा।
उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥ भ. आ. १७०९.

२. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पं० तं०—आणारुई णिसग्गरुई सुत्तरुई ओगाढरुती। स्थानांग २४७, पृ. १८८.

३. आलंबणं च वायण पुच्छण परियट्टणाणुपेहाओ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥ भ. आ. १७१० व १८७५.

४. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पं० तं०—वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुप्पेहा। स्थानांग २४७, पृ. १८८.

५. त. सू. ९-२७.

हुए यह कहा गया है कि इस प्रकार का वह ध्यान छद्मस्थों के—केवली से भिन्न अल्पज्ञ जीवों के—ही होता है। केवलियों का वह ध्यान स्थिर अध्यवसानरूप न होकर योगों के निरोधस्वरूप है। इसका कारण यह है कि उनके मन का अभाव हो जाने से चिन्तानिरोधरूप ध्यान सम्भव नहीं है[1]। अब रह जाती है संहनन के निर्देश की बात, सो उसका निर्देश ध्यानशतक में आगे जाकर शुक्लध्यान के प्रसंग में किया गया है[2]।

२ तत्त्वार्थसूत्र में जो अन्तिम दो ध्यानों को—धर्म और शुक्ल ध्यान को—मोक्ष का कारण निर्दिष्ट किया गया है उससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि पूर्व के दो ध्यान—आर्त और रौद्र—मोक्ष के कारण नहीं हैं, किन्तु संसार के कारण हैं[3]।

यह सूचना ध्यानशतक में स्पष्टतया शब्दों द्वारा ही कर दी गई है[4]।

३ तत्त्वार्थसूत्र में जहां अमनोज्ञ पदार्थ का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए होने वाले चिन्ताप्रबन्ध को प्रथम आर्तध्यान कहा गया है वहां ध्यानशतक में उसे कुछ और भी विकसित करते हुए यह कहा गया है कि अमनोज्ञ शब्दादि विषयों और उनकी आधारभूत वस्तुओं के वियोगविषयक तथा भविष्य में उनका पुनः संयोग न होने विषयक भी जो चिन्ता होती है, यह प्रथम आर्तध्यान का लक्षण है[5]। इसी प्रकार से यहां शेष तीन आर्तध्यानों के भी लक्षणों को विकसित किया गया है[6]।

४ तत्त्वार्थसूत्र में सर्वार्थसिद्धिसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार मनोज्ञ पदार्थों का वियोग होने पर उनके संयोगविषयक चिन्तन को दूसरा और वेदनाविषयक चिन्तन को तीसरा आर्तध्यान सूचित किया गया है[7]। इसके विपरीत ध्यानशतक में शूलरोगादि वेदनाविषयक आर्तध्यान को दूसरा और इष्ट विषयादिकों की वेदना (अनुभवन) विषयक चिन्तन को तीसरा आर्तध्यान कहा गया है[8]। यह कथन तत्त्वार्थाधिगमसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार उसके विपरीत नहीं है[9]।

५ अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत इन गुणस्थानों में उक्त आर्तध्यान की सम्भावना जैसे तत्त्वार्थसूत्र में प्रगट की गई है वैसे ही वह ध्यानशतक में भी इन्हीं गुणस्थानों में प्रगट की गई है[10]।

६ तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा ध्यानशतक में प्रकृत आर्तध्यान से सम्बन्धित कुछ अन्य बातों की भी चर्चा की गई है। जैसे—वह किस प्रकार के जीव के होता है, कौनसी गति का कारण है, वह संसार का बीज क्यों है, आर्तध्यानी के लेश्यायें कौनसी होती हैं, तथा उसकी पहिचान किन हेतुओं के द्वारा हो सकती है; इत्यादि[11]।

७ तत्त्वार्थसूत्र में जहां एक ही सूत्र के द्वारा रौद्रध्यान के भेदों व स्वामियों का निर्देश करते हुए उसके प्रकरण को समाप्त कर दिया गया है[12] वहां ध्यानशतक में तत्त्वार्थसूत्रोक्त उन चार भेदों के स्वरूप

---

१. ध्या. श. २-३.
२. ध्या. श. ६४.
३. त. सू. ९-२९ (परे मोक्षहेतू इति वचनात् पूर्वे आर्त-रौद्रे संसारहेतू इत्युक्तं भवति—स. सि. ९-२९.)
४. ध्या. श. ५.
५. त. सू. ९-३०.; ध्या. श. ६.
६. त. सू. ९, ३१-३३.; ध्या. श. ७-९.
७. विपरीतं मनोज्ञस्य । वेदनायाश्च । त. सू. ९, ३१-३२.
८. ध्या. श. ७-८.
९. वेदनायाश्च । विपरीतं मनोज्ञानाम् । त. सू. ९, ३२-३३.
१०. त. सू. ९-३४.; ध्या. श. १८.
११. ध्या. श. १०-१७.
१२. त. सू. ९-३५.

को स्पष्ट करते हुए उसके स्वामियों का भी निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त वहां आर्तध्यान के समान रौद्रध्यान के भी फल व लेश्या आदि की चर्चा की गई है[1]।

८ तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र द्वारा धर्मध्यान के चार भेदों का निर्देश मात्र करके उसके प्रकरण को समाप्त कर दिया गया है[2]। पर ध्यानशतक में उसकी प्ररूपणा भावना, देश, काल, आसनविशेष, आलम्बन, क्रम, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल इन बारह अधिकारों के आश्रय से विस्तारपूर्वक की गई है[3]। तत्त्वार्थसूत्रोक्त उसके चार भेदों की सूचना यहां ध्यातव्य अधिकार में करके उनके पृथक् पृथक् स्वरूप को भी प्रगट किया गया है[4]।

९ जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है तत्त्वार्थसूत्र में सर्वार्थसिद्धिसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार धर्मध्यान के चार भेदों का निर्देश मात्र किया गया है, उसके स्वामियों का निर्देश वहां नहीं किया गया[5]। पर उसकी टीका सर्वार्थसिद्धि में उसके स्वामियों का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि वह अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इनके होता है[6]। उक्त तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमत तत्त्वार्थवार्तिक में पृथक् से उसके स्वामियों का उल्लेख तो नहीं किया गया, किन्तु इस सम्बन्ध में जो वहां शंका-समाधान है उससे सिद्ध है कि वह, जैसा कि सर्वार्थसिद्धि में निर्देश किया गया है तदनुसार, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवों के होता है[7]।

पर उक्त तत्त्वार्थसूत्र में ही तत्त्वार्थाधिगमसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार उस धर्मध्यान के भी स्वामियों का उल्लेख किया गया है। वहां यह कहा गया है कि वह चार प्रकार का धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत के साथ उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के भी होता है[8]। जैसा कि यहां उसके स्वामियों का निर्देश किया गया है, तदनुसार ही ध्यानशतक (६३) में भी यह कहा गया है कि धर्मध्यान के ध्याता सब प्रमादों से रहित मुनि जन, उपशान्तमोह और क्षीणमोह निर्दिष्ट किए गए हैं[9]। इसकी टीका में हरिभद्र सूरि ने उपशान्तमोह का अर्थ उपशामक निर्ग्रन्थ और क्षीणमोह का अर्थ क्षपक निर्ग्रन्थ प्रगट किया है।

१० तत्त्वार्थसूत्र में शुक्लध्यान की प्ररूपणा करते हुए उसके चार भेदों में प्रथम दो का सद्भाव श्रुतकेवली के और अन्तिम दो का सद्भाव केवली के बतलाया गया है। पश्चात् योग के आश्रय से उनके स्वामित्व को दिखलाते हुये यह कहा गया है कि प्रथम शुक्लध्यान तीन योग वाले के, दूसरा तीनों योगों में से किसी एक ही योगवाले के, तीसरा काययोगी के और चौथा योग से रहित हुए अयोगी के होता है। आगे यह सूचित किया गया है कि श्रुतकेवली के जो पूर्व के दो शुक्लध्यान होते हैं उनमें प्रथम वितर्क व वीचार से सहित और द्वितीय वितर्क से सहित होता हुआ वीचार से रहित है। आगे प्रसंगप्राप्त वितर्क और वीचार का लक्षण भी प्रगट किया गया है।

---

१. ध्या. श. १९-२७.
२. त. सू. ९-३६.
३. ध्या. श. २८-६८.
४. आज्ञाविचय ४५-४९, अपायविचय ५०, विपाकविचय ५१, संस्थानविचय ५२-६२.
५. आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम्। त. सू. ९-३६. (यहां मूल सूत्रों में आर्तध्यान (९-३४), रौद्रध्यान (९-३५) और शुक्लध्यान (९, ३७-३८) के स्वामियों का निर्देश करके भी धर्मध्यान के स्वामियों का उल्लेख क्यों नहीं किया गया, यह विचारणीय है।)
६. तदविरत-देशविरत-प्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति। स. सि. ९-३६.
७. त. वा. ९, ३६, १४-१६. (देखो पीछे पृ. १३)
८. आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। उपशान्त-कषाययोश्च। त. सू. ९, ३७-३८.
९. गाथा ६३ में उपयुक्त 'निद्दिट्ठा' पद से यह प्रगट है कि ग्रन्थकार के समक्ष उक्त प्रकार धर्मध्यान के स्वामियों का प्ररूपक तत्त्वार्थसूत्र जैसा कोई ग्रन्थ रहा है।

यह सभी शुक्लध्यानविषयक विवेचन ध्यानशतक में यथास्थान किया गया है। उससे सम्बन्धित तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र और ध्यानशतक की गाथायें इस प्रकार हैं—

त. सू.—९, ३७-३८; ९-४०; ९, ४१-४४.

ध्या. श.—६४; ८३; ७७-८०.

ध्यानशतक और स्थानांग

आचारादि बारह अंगों में स्थानांग तीसरा है। वर्तमान में वह जिस रूप में उपलब्ध है उसका संकलन वलभी वाचना के समय देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के तत्त्वावधान में वीरनिर्वाण के बाद ९८० वर्ष के आस पास हुआ है। उसमें दस अध्ययन या प्रकरण हैं, जिनमें यथाक्रम से १, २, ३ आदि १० पर्यन्त पदार्थों व क्रियाओं का निरूपण किया गया है। उदाहरण स्वरूप प्रथम स्थानक में एक आत्मा है, एक दण्ड है, एक क्रिया है, एक लोक है; इत्यादि[1]। इसी प्रकार द्वितीय स्थानक में लोक में जो भी वस्तु विद्यमान है वह दो पदावतार युक्त है। जैसे —जीव-अजीव, त्रस-स्थावर, इत्यादि[2]। इसी क्रम से अन्तिम दसम स्थान में १०-१० पदार्थों का संकलन किया गया है।

प्रकृत में चौथे अध्ययन या स्थानक में ४-४ पदार्थों का निरूपण किया गया है। वहां चार प्रकार का ध्यान भी प्रसंगप्राप्त हुआ है। उसका निरूपण करते हुए वहां सामान्य से ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार भेदों का निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् उनमें से प्रत्येक के भी चार-चार भेदों का निर्देश करते हुए यथासम्भव उनके चार-चार लक्षणों, चार चार आलम्बनों और चार चार अनुप्रेक्षाओं का भी निर्देश किया गया है।

स्थानांग प्ररूपित यह सब विषय प्रकारान्तर से ध्यानशतक में आत्मसात् कर लिया गया है। साथ ही उसे स्पष्ट करते हुए यहां कुछ अधिक विस्तृत भी किया गया है। यथा—

१ आर्तध्यान—

स्थानांग में चार प्रकार के आर्तध्यान में से प्रथम आर्तध्यान के स्वरूप को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि अमनोज्ञ विषयों के सम्बन्ध से सम्बद्ध हुआ प्राणी जो उनके वियोगविषयक चिन्ता को प्राप्त होता है, इसे आर्तध्यान (प्रथम) कहा जाता है[3]।

इसे कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए ध्यानशतक में यह कहा गया है कि द्वेष के वश मलिनता को प्राप्त हुए प्राणी के जब अमनोज्ञ इन्द्रियविषयों और उनकी आधारभूत वस्तुओं का संयोग होता है तब वह उनके वियोग के लिए जो अधिक चिन्तातुर होता है कि किस प्रकार से ये मुझसे पृथक् होंगे इसे, तथा उनका वियोग हो जाने पर भी भविष्य में उनका पुनः संयोग न होने के लिए भी जो चिन्ता होती है उसे, प्रथम आर्तध्यान कहते हैं[4]।

इसी प्रकार से स्थानांग में निर्दिष्ट द्वितीय और तृतीय आर्तध्यान के लक्षणों को भी यहां अधिक स्पष्ट किया गया है[5]। विशेष इतना है कि स्थानांग में जिसे दूसरा आर्तध्यान कहा गया है वह ध्यानशतक में तीसरा है तथा जिसे स्थानांग में तीसरा आर्तध्यान कहा गया है वह ध्यानशतक में दूसरा है।

---

१. एगे आया। एगे दंडे। एगा किरिया। एगे लोए। स्थानक १, सूत्र १-४.

२. जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओवआरं, तं जहा—जीवच्चेव अजीवच्चेव। तसे चेव थावरे चेव। स्थानक २, सूत्र ८०.

३. अमणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति। स्थाना. ४-२४७, पृ. १८७.

४. ध्या. श. ६.

५. मणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति २, आयंकसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति ३। स्थाना. पृ. १८७-८८; ध्या. श. ८ व ७.

स्थानांग में परिजुषित (अनुभूत) कामभोगों से संयुक्त होने पर प्राणी को जो उनके अवियोग-विषयक चिन्ता होती है उसे चतुर्थ आर्तध्यान कहा गया है[1]। परन्तु ध्यानशतक में इन्द्र व चक्रवर्ती आदि की गुण-ऋद्धियों की प्रार्थनारूप निदान को चौथा आर्तध्यान कहा गया है[2]।

इस परिवर्तन का कारण यह प्रतीत होता है कि स्थानांगगत उक्त चतुर्थ आर्तध्यान का लक्षण द्वितीय आर्तध्यान से भिन्न नहीं दिखता। स्थानांग के टीकाकार अभयदेव सूरि ने अपनी टीका में इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि द्वितीय आर्तध्यान अभीष्ट धनादि से जहां सम्बद्ध है वहां चतुर्थ आर्तध्यान उस धनादि से प्राप्त होने वाले शब्दादि भोगों से सम्बद्ध है, इस प्रकार उन दोनों में यह भेद समझना चाहिए। शास्त्रान्तर में द्वितीय और चतुर्थ के एक होने से—उनमें भेद न रहने से—उन्हें तीसरा आर्तध्यान माना गया है तथा चतुर्थ आर्तध्यान निदान को स्वीकार किया गया है[3]। यह कहते हुए उन्होंने आगे ध्यान-शतक की आर्तध्यान से सम्बद्ध चारों गाथाओं को (६-९) को भी उद्धृत कर दिया है। इस प्रकार शास्त्रान्तर—से उनका अभिप्राय तत्त्वार्थसूत्र[4] और ध्यानशतक का ही रहा दिखता है।

स्थानांग में जो प्रकृत आर्तध्यान के चार लक्षण (लिंग) निर्दिष्ट किये गये हैं[5] उनमें क्रन्दनता, शोचनता और परिदेवनता इन तीन को ध्यानशतक में प्रायः उसी रूप में ले लिया गया है, किन्तु 'तेपनता' के स्थान में वहां ताडन आदि को ग्रहण किया गया है[6]। अभयदेव सूरि ने 'तिपि' धातु को क्षरणार्थक मानकर तेपनता का अर्थ अश्रुविमोचन किया है[7]।

रौद्रध्यान—

स्थानांग में रौद्रध्यान का निरूपण करते हुए उसके चार भेद गिनाये गये हैं—हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी[8]। ध्यानशतक में उनका इस प्रकार से नामोल्लेख तो नहीं किया गया, किन्तु वहां जो उनका स्वरूप कहा गया है उससे इन नामों का बोध हो जाता है[9]।

स्थानांग में रौद्रध्यान के ये चार लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं—ओसन्नदोष, बहुदोष, अज्ञानदोष, और आमरणान्तदोष[10]। ध्यानशतक में वे इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—उस्सण्ण (उत्सन्न) दोष, बहुल-दोष, नानाविधदोष और आमरणदोष[11]। इनमें ओसण्ण और उस्सण्ण, बहु और बहुल तथा आमरणान्त और आमरण इनमें अर्थतः कोई भेद नहीं है। केवल अण्णाण और णाणाविह (नानाविध) में कुछ भेद

१. परिजुसितकामभोगसंपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवइ ४। स्थाना. पृ. १८८.
२. ध्या. श. ९.
३. द्वितीयं वल्लभधनादिविषयम्, चतुर्थं तत्संपाद्यशब्दादिभोगविषयमिति भेदोऽनयोर्भावनीयः। शास्त्रान्तरे तु द्वितीय-चतुर्थयोरेकत्वेन तृतीयत्वम्, चतुर्थं तु तत्र निदानमुक्तम्। उक्तं च—(ध्या. श. ६-९)। स्थाना. टीका २४७, पृ. १८९.
४. निदानं चं। त. सू. ९-३३.
५. अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पं० (पण्णत्ता) तं० (तं जहा)—कंदणता सोचणता तिप्पणता परिदेवणता। स्थाना. पृ. १८९.
६. ध्या. श. १५.
७. तेपनता—तिपेः क्षरणार्थत्वादश्रुविमोचनम्। स्थाना. टीका.
८. रोद्दे झाणे चउव्विहे पं० तं०—हिंसाणुबन्धि मोसाणुबंधि तेणाणुबंधि सारक्खणाणुबंधि। स्थाना. पृ. १८८.
९. ध्यानशतक १९-२२.
१०. रुद्दस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पं० तं०—ओसण्णदोसे बहुदोसे अन्नाणदोसे आमरणदोसे। स्थाना. पृ. १८८.
११. ध्या. श. २६.

हो गया दिखता है। फिर भी दोनों ग्रन्थों के टीकाकार क्रम से अभयदेव सूरि और हरिभद्र सूरि ने उनका जो अभिप्राय व्यक्त किया है वह प्रायः समान ही है[1]।

३ धर्मध्यान—

स्थानांग में धर्मध्यान के ये चार भेद निर्दिष्ट किए गए हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय[2]। ध्यानशतक में उसके इन नामों का निर्देश नहीं किया गया है। किन्तु वहां उसके भावनादि बारह अधिकारों में से ध्यातव्य अधिकार के प्रसंग में आज्ञा एवं अपाय आदि का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है उससे उसके वे चार भेद स्पष्ट हो जाते हैं[3]।

स्थानांग में धर्मध्यान के ये चार लक्षण कहे गए हैं—आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और अवगाढरुचि[4]। ध्यानशतक में प्रकारान्तर से उनका निर्देश इस प्रकार किया गया है—आगम, उपदेश, आज्ञा और निसर्ग से जिनप्ररूपित तत्त्वों का श्रद्धान[5]। इनमें श्रद्धान शब्द 'रुचि' का समानार्थक है। आज्ञा और निसर्ग ये दोनों ग्रन्थों में शब्दशः समान ही हैं। सूत्र के पर्यायवाची आगम शब्द का यहां उपयोग किया गया है। स्थानांग में चौथा लक्षण जो अवगाढरुचि कहा गया है उसमें अवगाढ का अर्थ द्वादशांग का अवगाहन है, उससे होने वाली रुचि या श्रद्धा का नाम अवगाढरुचि है। इसके स्थान में ध्यानशतक में जो 'उपदेश' पद का उपयोग किया गया है उसका भी अभिप्राय वही है। कारण यह कि आगम के अनुसार तत्त्व के व्याख्यान का नाम ही तो उपदेश है। इस प्रकार अवगाढरुचि और उपदेशश्रद्धा में कुछ भेद नहीं है।

स्थानांग में धर्मध्यान के ये चार आलम्बन कहे गए हैं—वाचना, प्रतिप्रच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा[6]। इनमें से वाचना, प्रच्छना और परिवर्तना ये तीन ध्यानशतक में शब्दशः समान ही हैं। स्थानांग में चौथा आलम्बन जो अनुप्रेक्षा कहा गया है उसके स्थान में ध्यानशतक में अनुचिन्ता को ग्रहण किया गया है। वह अनुप्रेक्षा का ही समानार्थक है[7]। दोनों का ही अर्थ सूत्रार्थ का अनुस्मरण है।

स्थानांग में धर्मध्यान की ये चार अनुप्रेक्षायें कही गई हैं—एकानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और संसारानुप्रेक्षा[8]।

ध्यानशतक में धर्मध्यान से सम्बद्ध एक अनुप्रेक्षा नाम का पृथक् प्रकरण है। उसके सम्बन्ध में वहां इतना मात्र कहा गया है कि धर्मध्यान के समाप्त हो जाने पर मुनि सर्वदा अनित्यादि भावनाओं के

---

१. अज्ञानात्—कुशास्त्रसंस्कारात् हिंसादिष्वधर्मस्वरूपेषु नरकादिकारणेषु धर्मबुद्ध्याऽभ्युदयार्थं वा प्रवृत्तिस्तल्लक्षणो दोषोऽज्ञानदोषः। स्थाना. टी. पृ. १९०.; नानाविधेषु त्वक्त्वक्षण-नयनोत्खननादिषु हिंसाद्युपायेष्वसकृदप्येवं प्रवर्तते इति नानाविधदोषः। ध्या. श. टीका २६.

२. धम्मे झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पं० तं०—आणाविजते अवायविजते विवागविजते संठाणविजते। स्थानां. पृ. १८८.

३. ध्या. श.—आज्ञा ४५-४९, अपाय ५०, विपाक ५१, संस्थान ५२-६२.

४. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पं० तं०—आणारुई णिसग्गरुई सुत्तरुई ओगाढरुती। स्थानां. पृ. १८८.

५. ध्या. श. ६७.

६. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पं० तं०—वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुप्पेहा। स्थानां. पृ. १८८.

७. ध्या. श. ४२.

८. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पं० तं०—एगाणुप्पेहा अणिच्चाणुप्पेहा असरणाणुप्पेहा संसाराणुप्पेहा। स्थानां. पृ. १८८.

चिन्तन में तत्पर होता है। वहां अनित्यादि भावनाओं की संख्या का कोई निर्देश नहीं किया गया[1]। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने उसको स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि 'अनित्यादि' में जो आदि शब्द है उससे अशरण, एकत्व और संसार भावनाओं को ग्रहण किया गया है। साथ ही आगे उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि मुनि को 'इष्टजनसम्प्रयोगर्द्धिविषयसुखसम्पदः' इत्यादि ग्रन्थ के आश्रय से बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना चाहिए[2]।

स्थानांग में चतुर्थ स्थान का प्रकरण होने से सम्भवतः वहां चार ही अनुप्रेक्षाओं की विवक्षा रही है; पर ध्यानशतक में ऐसा कुछ नहीं रहा। इससे वहां उनकी संख्या का निर्देश न करने पर भी 'अनित्यादि' पद से तत्त्वार्थसूत्र एवं प्रशमरतिप्रकरण आदि में निर्दिष्ट बारहों अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन का अभिप्राय रहा दिखता है। सम्भवतः यही कारण है जो ध्यानशतककार ने 'अणिच्चाइभावणापरमो' ऐसा कहा है। यदि उन्हें पूर्वोक्त चार अनुप्रेक्षाओं का ही ग्रहण अभीष्ट होता तो वे 'अनित्यादि' के साथ 'चार' संख्या का भी निर्देश कर सकते थे[3]। पर वैसा यहां नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र (९-७) और प्रशमरतिप्रकरण आदि ग्रन्थों में सर्वप्रथम अनित्यानुप्रेक्षा उपलब्ध होती है। पर स्थानांग में निर्दिष्ट उन चार अनुप्रेक्षाओं में प्रथमतः एकानुप्रेक्षा का निर्देश किया गया है। अतः तदनुसार यहां अनित्यादि के स्थान में 'एकत्वादि' ऐसा निर्देश करना कहीं उचित था।

४ शुक्लध्यान—

स्थानांग में शुक्लध्यान के ये चार भेद निर्दिष्ट किए गये हैं—पृथक्त्ववितर्क सविचारी, एकत्ववितर्क अविचारी, सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ती और समुच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाती[4]।

ध्यानशतक में शुक्लध्यान के इन चार भेदों की सूचना उनके विषय का निरूपण करते हुए ध्यातव्य प्रकरण में की गई है[5]।

स्थानांग में शुक्लध्यान के जिन चार लक्षणों का निर्देश किया गया है[6] उनको ध्यानशतककारने उसी रूप में ग्रहण कर लिया है[7]। विशेषता यह है कि यहां दो गाथाओं के द्वारा उनके स्वरूप को भी स्पष्ट कर दिया गया है[8]।

स्थानांग में शुक्लध्यान के जिन चार आलम्बनों का निर्देश किया गया है[9] उन्हीं का संग्रह ध्यानशतक में भी कर लिया गया है[10]।

---

१. ध्या. श. ६५.

२. हरिभद्र सूरि ने इस प्रारम्भिक वाक्य के द्वारा प्रशमरतिप्रकरण नामक ग्रन्थ की ओर संकेत किया है। वहां 'इष्टजनसम्प्रयोगर्द्धिगुणसम्पदः' इत्यादि १२ श्लोकों में बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया गया है। उन सब श्लोकों को यहां प्रकृत वाक्यांश के आगे प्रशमरतिप्रकरण से चौकोण [ ] कोष्ठक में ले लिया है।

३. जैसे कि शुक्लध्यान के प्रसंग में 'णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपण्णो' वाक्य के द्वारा चार संख्या का निर्देश किया गया है। ध्या. श. ८७.

४. सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोआरे पं० तं०—पुहुत्तवितक्के सवियारी १, एकत्तवितक्के अवियारी २, सुहुमकिरिते अणियट्टी ३, समुच्छिन्नकिरिये अप्पडिवाती ४। स्थानां. पृ. १८८.

५. पृथक्त्ववितर्क-सविचारी ७७-७८, एकत्ववितर्क-अविचारी ७९-८०, सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ती ८१, व्युच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाती ८२.

६. सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पं० तं०—अव्वहे असम्मोहे विवेगे विउस्सग्गे। स्थानां. पृ. १८८.

७. ध्या. श. ९०. ८. ध्या. श. ९१-९२.

९. सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पं० तं०—खंती मुत्ती मद्दवे अज्जवे। स्थानां पृ. १८८.

१०. ध्या. श. ९९.

स्थानांग में शुक्लध्यान की ये चार अनुप्रेक्षायें निर्दिष्ट की गई हैं—अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा और अपायानुप्रेक्षा[1]। इन्हीं चारों का संकलन कुछ स्पष्टीकरण के साथ ध्यानशतक में भी किया गया है[2]। भेद केवल उनके क्रम में रहा है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन को देखते हुए इसमें सन्देह नहीं रहता कि स्थानांग के अन्तर्गत ध्यानविषयक उस सभी सन्दर्भ को ध्यानशतक में यथास्थान गर्भित कर लिया गया है।

प्रकृत स्थानांग में ध्यान के भेद-प्रभेदों का निर्देश करते हुए उनमें से चार प्रकार के आर्त और चार प्रकार के रौद्रध्यान के स्वरूप को दिखला कर उनके लक्षणों (लिंगों) का भी निर्देश किया गया है तथा धर्म और शुक्लध्यान के चार चार भेदों के स्वरूप को प्रगट करते हुए उनके चार चार लक्षणों, आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं की भी प्ररूपणा की गई है। पर वहां न तो ध्यानसामान्य का लक्षण कहा गया है और न उसके काल का भी निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त उक्त चार ध्यान किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक सम्भव हैं, जीव किस ध्यान के आश्रय से कौन सी गति को प्राप्त होता है, तथा प्रत्येक के आश्रित कौनसी लेश्या आदि होती हैं; इत्यादि का विचार भी वहां नहीं किया गया। किन्तु ध्यानशतक में उन सबका भी विचार किया गया है। इससे यह समझना चाहिए कि ध्यानशतक की रचना का प्रमुख आधार स्थानांग तो रहा है, पर साथ ही उसकी रचना में तत्त्वार्थसूत्र आदि अन्य ग्रन्थों का भी आश्रय लिया गया है।

ध्यानशतक और भगवतीसूत्र व औपपातिकसूत्र

पूर्वोक्त ध्यानविषयक जो सन्दर्भ स्थानांग में पाया जाता है वह सब प्रायः शब्दशः उसी रूप में भगवतीसूत्र और औपपातिकसूत्र में भी उपलब्ध होता है[3]। अतः पुनरुक्त होने से उनके आश्रय से यहां कुछ विचार नहीं किया गया। उनमें जो साधारण शब्दभेद व क्रमभेद है वह इस प्रकार है—

स्थानांग और भगवतीसूत्र में आर्तध्यान के लक्षणों में जहां चौथा 'परिदेवनता' है वहां औपपातिकसूत्र में वह 'विलपनता' है। इन दोनों के अभिप्राय में कुछ भेद नहीं है।

स्थानांग और भगवतीसूत्र में जहां धर्मध्यान के चार लक्षणों में तीसरा सूत्ररुचि और चौथा अवगाढरुचि है वहां औपपातिकसूत्र में तीसरा उपदेशरुचि और चौथा सूत्ररुचि है। ध्यानशतक में भी दूसरा लक्षण उपदेशश्रद्धान कहा गया है। परन्तु जैसा कि ऊपर स्पष्टीकरण किया जा चुका है, तदनुसार उन दोनों में अभिप्रायभेद कुछ नहीं रहा।

स्थानांग और भगवतीसूत्र के अन्तर्गत धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाओं में जहां प्रथमतः एकत्वानुप्रेक्षा है वहां औपपातिक में प्रथमतः अनित्यानुप्रेक्षा का निर्देश किया गया है, एकत्वानुप्रेक्षा का स्थान यहां तीसरा है। ध्यानशतक में भी 'अनित्यादिभावना' के रूप में निर्देश किया गया है, संख्या की कुछ सूचना वहां नहीं की गई है।

स्थानांग और भगवतीसूत्र में निर्दिष्ट शुक्लध्यान के चार भेदों में तीसरा सूक्ष्मक्रियानिवर्ती और चौथा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती है। पर औपपातिकसूत्र में अनिवर्ती और अप्रतिपातीमें क्रमव्यत्यय होकर वे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती के रूप में निर्दिष्ट हुए हैं।

इसी प्रकार औपपातिकसूत्र में शुक्लध्यान के लक्षणों, आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं में भी कुछ थोड़ासा शब्दभेद व क्रमभेद हुआ है।

---

१. सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पं० तं०—अणंतवत्तियाणुप्पेहा विप्परिणामाणुप्पेहा असुभाणुप्पेहा अवायाणुप्पेहा। स्थानां. पृ. १८८.

२. ध्या. श. ८७-८८.

३. भगवतीसूत्र (अमदाबाद) २५, ७, पृ. २८१-८२.; औपपातिक २०, पृ. ४३.

ध्यानशतक और धवला का ध्यानप्रकरण

आचार्य भूतबलि-पुष्पदन्त (प्रायः प्रथम शताब्दी) विरचित षट्खण्डागम पर आ. वीरसेन स्वामी (९वीं शताब्दी) द्वारा एक धवला नामक विस्तृत टीका रची गई है। षट्खण्डागम के वर्गणा नामक पांचवें खण्ड में एक कर्म अनुयोगद्वार है। उसमें १० कर्मभेदों के अन्तर्गत ८वें तपःकर्म का निर्देश करते हुए उसे छह अभ्यन्तर और छह बाह्य तप के भेद से बारह प्रकार का कहा गया है[1]। उसकी व्याख्या करते हुए आ. वीरसेन ने अपनी उस टीका में अभ्यन्तर तप के पांचवें भेदभूत ध्यान की प्ररूपणा इन चार अधिकारों के द्वारा की है—ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानफल। तदनुसार वहां प्रथमतः ध्याता का विचार करते हुए उसमें कौन कौनसी विशेषतायें होना चाहिए, इसे स्पष्ट करने के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषणों का उपयोग किया गया है। इस प्रसंग में उन्होंने 'एत्थ गाहा' या 'गाहाओ' कहकर ध्यानशतक की इन गाथाओं को उद्धृत किया है[2]—२, ३९-४०, ३७, ३५-३६, ३८, ४१-४३ और ३०-३४। कुछ गाथायें यहां भगवती आराधना से भी उद्धृत की गई हैं।

आगे धवला में क्रमप्राप्त ध्येय की प्ररूपणा में अनेक विशेषणों से विशिष्ट अरहन्त, सिद्ध और जिनप्ररूपित नौ पदार्थों आदि को ध्येय—ध्यान के योग्य—कहा गया है[3]।

तत्पश्चात् ध्यान का निरूपण करते हुए उसके धर्म और शुक्ल इन दो भेदों का ही वहां निर्देश किया गया है, तपःकर्म का प्रकरण होने से वहां सम्भवतः आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों को ग्रहण नहीं किया गया[4]। वह धर्मध्यान ध्येय के भेद से चार प्रकार का कहा गया है—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।

आज्ञा, आगम, सिद्धान्त और जिनवचन ये समानार्थक शब्द हैं। इस आज्ञा के अनुसार प्रत्यक्ष व अनुमानादि प्रमाणों के विषयभूत पदार्थों का जो चिन्तन किया जाता है उसका नाम आज्ञाविचय है। इस प्रसंग में यहां 'एत्थ गाहाओ' कहकर ध्यानशतक की ४५-४९ गाथायें उद्धृत की गई हैं[5]। इसके आगे एक गाथा (३८) और उद्धृत की गई है जो मूलाचार (५-२०२) में उपलब्ध होती है।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से उत्पन्न होने वाले जन्म, जरा और मरण की पीडा का अनुभव करते हुए उनसे होने वाले अपाय का विचार करना, इसे अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं। इस प्रसंग में यहां ध्यानशतक की ५०वीं गाथा उद्धृत की गई है[6]। इसके साथ वहां कुछ पाठभेद को लिए हुए एक गाथा मूलाचार[7] की भी उद्धृत की गई है, जिसका अभिप्राय यह है कि अपायविचय में ध्याता कल्याणप्रापक उपायों—तीर्थंकरादि पद की प्राप्ति की कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं—का चिन्तन करता है, अथवा जीवों के जो शुभ-अशुभ कर्म हैं उनके अपाय (विनाश) का चिन्तन करता है।

विपाकविचय धर्मध्यान के स्वरूप को बतलाते हुए यहां यह कहा गया है कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग

---

१. ष. खं. ५, ४, २५-२६—पु. १३, पृ. ५४.

२. धवला में इनकी क्रमिकसंख्या इस प्रकार है—१२, १४-१५, १६, १७-१८, १९, २०-२२ और २३-२७. (पु. १३, पृ. ६४-६८).

३. धवला पु. १३, पृ. ६९-७०.

४. हेमचन्द्र सूरि विरचित योगशास्त्र में भी इन दो दुर्ध्यानों को ध्यान में सम्मिलित नहीं किया गया है (४-११५)।

५. धवला में इनकी क्रमिकसंख्या ३३-३७ है (पृ. ७१)।

६. धवला में उसकी क्रमिकसंख्या ३९ है (पृ. ७२)।

७. मूलाचार ५-२०३. (यह गाथा भगवती आराधना (१७११) में भी उपलब्ध होती है); धवला में उसकी क्रमिकसंख्या ४० (पृ. ७२)।

और प्रदेश के भेद से चार प्रकार के शुभ-अशुभ कर्मों के विपाक का स्मरण करना, इसका नाम विपाक-विचय है। इस प्रसंग में यहां ध्यानशतक की ५१वीं गाथा उद्धृत की गई है[1]। इसके साथ ही वहां मूलाचार की भी एक गाथा उद्धृत की गई है[2]।

धवला में संस्थानविचय धर्मध्यान के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि तीनों लोकों के आकार, प्रमाण एवं उनमें वर्तमान जीवों की आयु आदि का विचार करना; यह संस्थानविचय धर्मध्यान कहलाता है। इस प्रसंग में वहां ध्यानशतक की ५ (५२-५६) गाथायें उद्धृत की गई हैं[3]। इसके आगे वहां एक गाथा ऐसी है जो क्रम से ध्यानशतक की ५८वीं और ५७वीं गाथाओं के उत्तरार्धों के योग से निष्पन्न हुई है[4]। तदनन्तर इसी प्रसंग में वहां ध्यानशतक की ६२, ६५, ३-४, ६६-६८, ९३ और १०२ ये गाथायें क्रम से उद्धृत की गई हैं[5]।

अन्त में धवला में जो शुक्लध्यान की प्ररूपणा की गई है[6] वह प्रायः तत्त्वार्थसूत्र और ध्यानशतक के ही समान है। इस प्रसंग में यहां ध्यानशतक की ६९, १०१, १००, ९०-९२, १०३, १०४ (पू.), ७५ और ७१-७२ ये गाथायें क्रम से उद्धृत की गई हैं[7]। साथ ही वहां भगवती आराधना की भी १८८०-८८ गाथायें उद्धृत की गई हैं[8]।

दोनों में कुछ पाठभेद—

इस प्रकार धवला (पुस्तक १३) में जो ध्यानशतक की लगभग ४६-४७ गाथायें उद्धृत की गई हैं उनमें ऐसे कुछ पाठभेद भी हैं, जिनके कारण वहां कुछ गाथाओं का अनुवाद भी असंगत हो गया है[9]। यहां हम 'होइ—होज्ज, भूदोव—भूओव, ट्ठियो—ठिओ, लाहं—लाभं' ऐसे कुछ पाठभेदों को छोड़कर अन्य जो महत्त्वपूर्ण पाठभेद उक्त दोनों ग्रन्थों में रहे हैं, और जिनके कारण अर्थभेद होना भी सम्भव है, उनकी एक तालिका दे रहे हैं। सम्भव है उससे पाठकों को कुछ लाभ हो सके। इसके अतिरिक्त भविष्य में यदि धवला पु. १३ के द्वितीय संस्करण की आवश्यकता हुई तो उसमें तदनुसार कुछ संशोधन भी किया जा सकता है।

---

१. धवला में उसकी क्रमिकसंख्या ४१ है (पृ. ७२)।
२. मूलाचार ५-२०४.; यह गाथा भगवती आराधना (१७१३) में भी पायी जाती है।
३. धवला में इनकी क्रमिकसंख्या ४३-४७ (पृ. ७३) है।
४. धवला में उसकी क्रमिकसंख्या ४८ (पृ. ७३) है।
५. धवला में उनकी क्रमिकसंख्या ४९, ५०, ५१-५२, ५३-५५, ५६, ५७, (पृ. ७६-७७) है।
६. धवला पु. १३, पृ. ७७-८८.
७. धवला में उनकी क्रमिकसंख्या इस प्रकार है—६४, ६५, ६६, ६७-६९, ७०, ७१, ७४, ७५-७६.
८. धवला में उनकी क्रमिकसंख्या इस प्रकार है—५८-६३, ७२-७४.
९. जैसे—पृ. ६७, गा. २१ व २२; पृ. ६८ गा. २४ व २७; पृ. ७१ गा. ३५-३७। पृ. ७३, गा. ४८ का पाठभेद सम्भवतः प्रतिलेखक की असावधानी से हुआ है—ध्यानशतक की गा. ५८ और ५७ के क्रमशः उत्तरार्धों के मेल से यह गाथा बनी है। इस अवस्था में वह प्रकरण से सर्वथा असम्बद्ध हो गई है। ध्यानशतक के अन्तर्गत गा. ५६-५७ में संसार-समुद्र का स्वरूप दिखलाया गया है तथा आगे वहां गा. ५८-५९ में उक्त संसार-समुद्र से पार करा देने वाली नौका का स्वरूप प्रगट किया गया है। वहां गा. ५८ के उत्तरार्ध में उपयुक्त 'णाणमयकण्णधारं (ज्ञानरूप कर्णधार से संचालित)', यह विशेषण वहां चारित्ररूप महती नौका का रहा है, वह धवला में हुए इस पाठभेद के कारण संसार-समुद्र का विशेषण बन गया है। यह एक वहां सोचनीय असंगति हो गई है।

धव. पु. १३, पृ.	गाथांक	पाठ	ध्या. श. गा.	पाठ
६४	१२	चलंतयं	२	चलं तयं
६६	१४	जया ण ज्झाणावरोहिणी	२	जिया ण झाणोवरोहिणी
,,	१५	खविय	४०	समिय
,,	१६	तो जत्थ	३७	जो[तो] जत्थ[1]
६७	१८	झाणेसु णिच्चल	३६	झाणे सुणिच्चल
,,	२०	तहा पयइयव्वं	४१	तहा[प][2] यइयव्वं
,,	२१	णाणुपेहाओ	४२	णाणुचिंताओ
,,	,,	सव्वमावासयाइं	,,	सद्धम्मावस्सयाइं
,,	२२	इ दव्वालंबणो	४३	इ दढदव्वालंबणो
६८	२३	वेरग्गजणियाओ	३०	वेरग्गनियताओ[3]
,,	२४	मणोवारणं	३१	मणोधारणं
,,	,,	ज्झायइ णिच्चल	,,	झाइ सुनिच्चल
,,	२५	संकाइसल्लरहियो	३२	संकाइदोसरहिओ
,,	,,	पसमत्थेयादिगुणगणोवईयो	,,	पसमत्थेज्जादिगुणगणोवेओ
,,	२६	पोराणवि णिज्जरा	३३	पोराणविणिज्जरं
,,	२७	णिब्भवो	३४	णिब्भओ
७१	३३	-णमणग्घं	४५	-णमह[ण]ग्घं[4]
,,	३४	ज्झाएज्जो	४६	झाइज्जा
,,	३५	तत्थ मइदुब्बलेण य तव्विज्जाइरियविरहदो	४७	तत्थ य मइदोब्लेणं तव्वि-हायरियविरहओ
,,	,,	णाणावरणादिएणं	,,	णाणावरणोदएणं
,,	३६	य सरि-सुट्ठुज्जाणबुज्झेज्जो	४८	य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा
,,	,,	-मवितत्थं तहाविहं	,,	-मवितहं तहावि तं
,,	३७	अणुवगय	४९	अणुवकय
,,	,,	-मोहा ण अण्णहा	,,	-मोहा य णण्णहा
७२	३९	-लोगावाए ज्झाएज्जो	५०	-लोयावाओ झाइज्जा
७३	४४	लोगभागादि	५३	लोयभेयाइं
,,	४५	णयर	५४	णरय
,,	४६	भोइं	५५	भोयं
,,	४७	सयसावमीणं	५६	सयसावयमणं
,,	४८	णाणमयकण्णहारं वर-चारित्तमयमहापोयं।	५७	अण्णाण-मारुएरियसंजोग-विजोगवीइसंताणं।

१. ध्या. श. में यहां 'जो' पद के असम्बद्ध होने से कोष्ठक में उसके स्थान में 'तो' पद की सम्भावना प्रगट की गई है। पर धवला के निर्देशानुसार वह मूल में ही पाठ रहा है।

२. यहां कोष्ठक में जो [प] पाठ की सम्भावना प्रगट की गई है वह भी धवला के उक्त पाठ से सिद्ध है।

३. गा. ३० की टीका में 'जनितः' यह पाठान्तर भी प्रगट किया गया है।

४. यहां अर्थ की संगति बैठाने के लिए जो 'ह' के स्थान में 'ण' की कल्पना की गई है वह धवला के इस पाठ से सुसंगत है।

७३	४८	विचिंतेज्जो	५७	विचिंतेज्जा
,,	४९	किं बहुसो	६२	किं बहुणा
,,	५०	-मणिच्चादिचिंतणापरमो	६५	-मणिच्चाइभावणापरमो
,,	,,	धम्मज्झाणे जिह व पुव्वं	,,	धम्मज्झाणेण जो पुव्वि
७६	५१	चिंतावत्थाण	३	चित्तावत्थाण
,,	५२	चिंता-ज्झाणंतरं	४	चिंता झाणंतरं
,,	५४	तल्लिगं	६७	तं लिगं
,,	५५	संपण्णा	६८	संपण्णो
,,	,,	संजमरदा × × × मुणेयव्वा	,,	संजमरओ × × × मुणेयव्वो
७७	५६	संवर-णिज्जरा	९३	संवर-विणिज्जरा
,,	५७,	ज्झाणप्पवणोवहया	१०२	झाण-पवणावहूया
८०	६४	आलंबणेहिं	६९	आलंबणाइं
८२	६५	पवणुग्गदो धुवं	१०१	पवणसहिओ दुयं
,,	६७	अभयासंमोहविवेगविसग्गा	९०	अवहाऽसंमोह-विवेग-विउस्सग्गा
,,	६८	वीहेइ	९१	बीभेइ
,,	६९	देहविचित्तं × × × सव्वदो	९२	देहविवित्तं × × × सव्वहा
,,	७०	वि	१०३	य
,,	७१	सीयायवादिएहि मि सारी-रेहि बहुप्पयारेहिं ।	१०४	सीयाऽऽयवाइएहि य सारीरेहिं सुबहुप्पगारेहिं ।
८६	७४	कमेण तहा जोगजलं ज्झाणजलणेण ।।	७५	कमेण जहा तह जोगिमणोजलं जाण ।।
८७	७५	पहाणज्झरमंत	७१	पहाणयरमंत
,,	७६	तह बादरतणुविसयं जोग-विसं ज्झाणमंतबलजुत्तो । अणुभावम्मि णिरुंभदि	७२	तह तिहुयण-तणुविसयं मणोविसं जोग-मंतबलजुत्तो । परमाणुंमि णिरुंभइ

ध्यानशतक व आदिपुराण का ध्यानप्रकरण

आचार्य जिनसेन (९वीं शती) द्वारा विरचित महापुराण एक पौराणिक ग्रन्थ है। वह आदि-पुराण और उत्तरपुराण इन दो भागों में विभक्त है। राजा श्रेणिक के प्रश्न पर गौतम गणधर ने जो उसके लिए ध्यान का व्याख्यान किया था उसकी चर्चा करते हुए आदिपुराण के २१वें पर्व में जो विस्तार से ध्यान का निरूपण किया गया है वह ध्यानशतक से काफी प्रभावित दिखता है। इन दोनों की विवेचनपद्धति में बहुत कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। इतना ही नहीं, आदिपुराण में वहां ऐसे कितने ही श्लोक भी उपलब्ध होते हैं जो ध्यानशतक की गाथाओं के छायानुवाद जैसे हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे यथाप्रसंग किया जाने वाला है। यथा—

ध्यानशतक में मंगल के पश्चात् सर्वप्रथम ध्यान का स्वरूप दिखलाते हुए यह कहा गया है कि जो स्थिर अध्यवसान या एकाग्रता युक्त मन है उसका नाम ध्यान है। इसके विपरीत जो अनवस्थित (अस्थिर) चित्त है वह भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता के भेद से तीन प्रकार का है। एक वस्तु में चित्त के अवस्थानरूप वह ध्यान अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है और वह छद्मस्थों के ही होता है।

जिनों का—सयोग केवली और अयोग केवली का—ध्यान स्थिर अध्यवसानरूप न होकर योगों के निरोधस्वरूप है। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ध्यानकाल के समाप्त हो जाने पर चिन्ता अथवा ध्यानान्तर—अनुप्रेक्षा या भावनारूप चिन्तन—होता है। इस प्रकार से बहुत वस्तुओं में संक्रमण के होने पर ध्यान का प्रवाह चलता रहता है[1]।

यही बात आदिपुराण में भी इस प्रकार से कही गई है—एक वस्तु में जो एकाग्रतारूप से चिन्ता का निरोध होता है वह ध्यान कहलाता है और वह जिसके वज्रर्षभनाराचसंहनन होता है उसके अन्तर्मुहुर्त काल तक ही होता है। जो स्थिर अध्यवसान है उसका नाम ध्यान है और इसके विपरीत जो चलाचल चित्त है—चित्त की अस्थिरता है—उसका नाम अनुप्रेक्षा, चिन्ता अथवा भावना है। पूर्वोक्त लक्षणरूप वह ध्यान छद्मस्थों के होता है तथा विश्वदृश्वा—सर्वज्ञ जिनों के—जो योगास्रव का निरोध होता है उसे उपचार से ध्यान माना गया है[2]। समानता के लिए दोनों के इन पद्यों को देखिये—

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता॥ ध्या. श. २.
स्थिरमध्यवसानं यत् तद् ध्यानं यच्चलाचलम्।
सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा॥ आ. पु. २१-९

ध्यान के भेद—

आगे ध्यानशतक में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन ध्यान के चार भेदों का निर्देश करते हुए उनमें अन्तिम दो ध्यानों को निर्वाण का साधक तथा आर्त व रौद्र इन दो को संसार का कारण कहा गया है[3]।

आदिपुराण में आगे सामान्य ध्यान से सम्बद्ध कुछ अन्य प्रासंगिक चर्चा करते हुए यह कहा गया है कि प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से ध्यान दो प्रकार का है। इस भेद का कारण शुभ व अशुभ अभिप्राय (चिन्तन) है। उक्त प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यानों में से प्रत्येक दो दो प्रकार का है। इस प्रकार से ध्यान चार प्रकार का कहा गया है—आर्त व रौद्र ये दो अप्रशस्त तथा धर्म और शुक्ल ये दो प्रशस्त। इनमें प्रथम दो संसारवर्धक होने से हेय और अन्तिम दो योगी जनों के लिए उपादेय हैं[4]।

१ आर्तध्यान—

आगे ध्यानशतक में चार प्रकार के आर्तध्यान का स्वरूप दिखलाते हुए उसके फल, लेश्या, लिंग (अनुमापक हेतु) और स्वामियों का निर्देश किया गया है[5]।

इसी प्रकार आदिपुराण में भी उक्त चार प्रकार के आर्तध्यान के स्वरूप को प्रगट करते हुए उसके स्वामी, लेश्या, काल, आलम्बन, भाव, फल और परिचायक हेतुओं का निर्देश किया गया है[6]।

२ रौद्रध्यान—

आर्तध्यान के पश्चात् ध्यानशतक में पृथक् पृथक् चार प्रकार के रौद्रध्यान के स्वरूप को दिखलाते हुए उसके स्वामियों, फल, उसमें सम्भव लेश्याओं और परिचायक लिंगों का विवेचन किया गया है[7]।

आदिपुराण में भी इस प्रसंग में प्रथमतः 'प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः, तत्र भवं रौद्रम्' इस निरुक्ति के साथ उसके हिंसानन्द आदि चार भेदों का नामनिर्देश करते हुए यह कहा गया है कि वह प्रकृष्टतर तीन दुर्लेश्याओं के प्रभाव से वृद्धिगत होकर छठे गुणस्थान से पूर्व पांच गुणस्थानों में सम्भव है। काल उसका अन्तर्मुहूर्त है। तदनन्तर उसके उपर्युक्त चार भेदों का पृथक् पृथक् स्वरूप बतलाकर उसके परिचायक लिंगों

१. ध्या. श. २-४.
२. आ. पु. २१, ८-१०.
३. ,, ,, ५.
४. आ. पु. २१, ११-२९.
५. ,, ,, ६-१८.
६. आ. पु. २१, ३१-४१.
७. ,, ,, १९-२७.

और फल का निर्देश किया गया है। हिंसानन्द के प्रसंग में वहां सिक्थ्य मत्स्य और अरविन्द नामक विद्याधर का उदाहरण दिया गया है[1]।

आदिपुराण में कुछ विशेष कथन—

पश्चात् इस प्रसंग में यहां यह कहा गया है कि अनादि वासना के निमित्त से ये दोनों अप्रशस्त ध्यान बिना किसी प्रयत्नविशेष के होते हैं। मुनि जन इन दोनों दुर्ध्यानों को छोड़कर अन्तिम दो ध्यानों का अभ्यास करते हैं। उत्तम ध्यान की सिद्धि के लिये यहां ध्यानसामान्य की अपेक्षा उसके कुछ परिकर्म[2] —देश, काल व आसन आदिरूप सामग्रीविशेष—को अभीष्ट बतलाया है[3]।

परिकर्म का यह विवेचन यद्यपि सामान्य ध्यान को लक्ष्य में रखकर किया गया है, फिर भी इस प्रसंग में कुछ ऐसा भी कथन किया गया है जो यथास्थान ध्यानशतकगत धर्मध्यान के प्रकरण में उपलब्ध होता है और जिससे वह विशेष प्रभावित भी है। उदाहरणार्थ उक्त दोनों ग्रन्थों के इन पद्यों का मिलान किया जा सकता है—

निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसग-कुसीलवज्जियं जइणो।
ठाणं वियणं भणियं विसेसओ झाणकालंमि ॥ ध्या. श. ३५.
स्त्री-पशु-क्लीब-संसक्तरहितं विजनं मुनेः।
सर्वदैवोचितं स्थानं ध्यानकाले विशेषतः ॥ आ. पु. २१-७७.

× × ×

जच्चिय देहावत्था जिया ण झाणोवरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ॥ ध्या. श. ३९.
देहावस्था पुनर्यैव न स्याद् ध्यानोपरोधिनी।
तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत् स्थित्वाऽऽसित्वाऽधिशय्य वा ॥ आ पु. २१-७५.

× × ×

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल-चेट्ठासु।
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा ॥ ध्या. श. ४०.
यद्देस-काल-चेष्टासु सर्वास्वेव समाहिताः।
सिद्धाः सिद्धयन्ति सेत्स्यन्ति नात्र तन्नियमोऽस्त्यतः ॥ आ. पु. २१-८२.

आदिपुराणगत उक्त तीनों श्लोकों में ध्यानशतक की गाथाओं का भाव तो पूर्णतया निहित है ही, साथ ही उनके प्राकृत शब्दों के संस्कृत रूपान्तर भी ज्यों के त्यों लिए गए हैं।

इस प्रकार परिकर्म की प्ररूपणा करके तत्पश्चात् वहां ध्याता, ध्येय, ध्यान और उसके फल के कहने की प्रतिज्ञा की गई है और तदनुसार आगे उनकी क्रमशः प्ररूपणा भी की गई है[4]।

ध्येय की प्ररूपणा के बाद वहां क्रमप्राप्त ध्यान का कथन करते हुए यह कहा गया है कि एक वस्तुविषयक प्रशस्त प्रणिधान का नाम ध्यान है। वह धर्म्य और शुक्ल के भेद से दो प्रकार का है। यह प्रशस्त प्रणिधान रूप ध्यान मुक्ति का कारण है[5]।

यह कथन यद्यपि आदिपुराण में सामान्य ध्यान के आश्रय से किया गया है, फिर भी जैसा कि पाठक ऊपर देख चुके हैं; उसमें जो देश, काल एवं आसन आदि की प्ररूपणा की गई है वह ध्यानशतक के अन्तर्गत धर्मध्यान के प्रकरण से काफी प्रभावित है।

---

१. आ. पु. २१, ४२-५३.
२. ध्यान के परिकर्म का विचार त. वा. (९-४४) और भ. आ. (१७०६-७) में भी किया गया है।
३. आ. पु. २१, ५४-८४.
४. ध्याता २१, ८५-१०३; ध्येय १०४-३१, ध्यान १३२, फल धर्मध्यान १६२-६३ और शुक्लध्यान १८६.
५. आ. पु. २१-१३२.

पूर्वोक्त ध्याता की प्ररूपणा में वहां यह कहा गया है कि जिन ज्ञान-वैराग्य भावनाओं का पूर्व में कभी चिन्तन नहीं किया गया है उनका चिन्तन करने वाला मुनि ध्यान में स्थिर रहता है। वे भावनायें ये हैं—ज्ञानभावना, दर्शनभावना, चारित्रभावना और वैराग्यभावना। इन चारों भावनाओं के स्वरूप का भी वहां पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है[1]।

इस कथन का आधार भी ध्यानशतक रहा है। वहां धर्मध्यान के बारह अधिकारों में प्रथम अधिकार भावना ही है। इस प्रसंग में निम्न गाथा और श्लोक की समानता देखिये—

पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य णाण-दंसण-चरित्त-वेरग्गजणियाओ॥ ध्या. श. ३०.

भावनाभिरसंमूढो मुनिर्ध्यानस्थिरीभवेत्।
ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्योपगताश्च ताः॥ आ. पु. २१-९५.

इस प्रसंग में आदिपुराणकार ने वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षण, परिवर्तन और सद्धर्मदेशन इनको ज्ञानभावना कहा है[2]। ध्यानशतककार ने इन्हें धर्मध्यान के आलम्बनरूप से ग्रहण किया है[3]। ज्ञानभावना का स्वरूप दिखलाते हुए ध्यानशतक में यह कहा गया है कि ज्ञान के विषय में किया जाने वाला नित्य अभ्यास मन के धारण—अशुभ व्यापार को रोककर उसके अवस्थान—को तथा सूत्र व अर्थ की विशुद्धि को भी करता है। जिसने ज्ञान के आश्रय से जीव-अजीवादि सम्बन्धी गुणों की यथार्थता को जान लिया है वह अतिशय स्थिरबुद्धि होकर ध्यान करता है[4]।

३ धर्मध्यान—

ध्यानशतक में धर्मध्यान की प्ररूपणा करते हुए उस पर आरूढ होने के पूर्व मुनि को किन किन बातों का जान लेना आवश्यक है, इसका निर्देश करते हुए प्रथमतः भावना आदि बारह अधिकारों की सूचना की गई है।

उनमें से आदिपुराण में ध्यानसामान्य से सम्बद्ध परिकर्म के प्रसंग में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; देश[5], काल[6], आसनविशेष[7] और आलम्बन[8] की जो प्ररूपणा की गई है वह ध्यानशतक से बहुत कुछ प्रभावित है।

ध्यानशतक में ध्यातव्य का निरूपण करते हुए ध्यान के विषयभूत (ध्येयस्वरूप) आज्ञा, अपाय, विपाक और द्रव्यों के लक्षण-संस्थानादि इन चार की प्ररूपणा की गई है[9]।

ध्यातव्य या ध्येय के भेद से जो धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद निष्पन्न होते हैं उनकी प्ररूपणा आदिपुराण में भी यथाक्रम से की गई है[10]।

ध्यानशतक में आज्ञा की विशेषता को प्रगट करते हुए उसके लिए जो अनेक विशेषण दिए गये हैं उनमें अनादिनिधना, भूतहिता, अमिता, अजिता (अजय्या) और महानुभावा इन विशेषणों का उपयोग आदिपुराण में किया गया है[11]।

ध्यातव्य के चतुर्थ भेद (संस्थान) की प्ररूपणा करते हुए ध्यानशतक में द्रव्यों के लक्षण व संस्थान आदि तथा उनकी उत्पादादि पर्यायों के साथ पंचास्तिकायस्वरूप लोक, तद्गत पृथिवियों, वातवलयों

---

१. आ. पु. २१, ९४-९९.
२. आ. पु. २१-९६.
३. ध्या. श. ४२.
४. ध्या. श. ३१.
५. आ. पु. २१, ५७-५८ व ७६-८०.
६. आ. पु. २१, ८१-८३.
७. आ. पु. २१, ५९-७५.
८. आ. पु. २१-८७.
९. ध्या. श.—आज्ञा ४५-४९, अपाय ५०, विपाक ५१, संस्थान ५२-६०.
१०. आ. पु.—आज्ञा २१, १३५-४१, अपाय १४१-४२, विपाक १४३-४७, संस्थान १४८-५४.
११. ध्या. श. ४५.; आ. पु. २१, १३७-३८.

और द्वीप-समुद्रादिकों को चिन्तनीय (ध्येय) बतलाया है। साथ ही उपयोगादिस्वरूप जीव व उसके कर्मोदयजनित संसार-समुद्र के भयावह स्वरूप को दिखलाते हुए उससे पार होने के उपायविषयक विचार करने की भी प्रेरणा की गई है[1]।

इसी प्रकार आदिपुराण में भी संस्थानविचय धर्मध्यान की प्ररूपणा करते हुए लोक के आकार जीवादि तत्त्वों, द्वीप-समुद्रों एवं वातवलयादि को चिन्तनीय कहा गया है[2]। साथ ही वहां यह भी कहा गया है कि जीवभेदों व उनके गुणों का विचार करते हुए उनका जो अपने ही पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से संसार-समुद्र में परिभ्रमण हो रहा है उसका तथा उससे पार होने के उपाय का भी विचार करना चाहिए। तुलना के रूप में इस प्रसंग की निम्न दो गाथायें और श्लोक द्रष्टव्य हैं—

खिइ-वलय दीव-सागर-नरय-विमाण-भवणाइसंठाणं।
वोमाइपइट्ठाणं निययं लोगट्ठिइविहाणं ॥ ध्या. श. ५४.

द्वीपाब्धि-वलयानद्रीन् सरितश्च सरांसि च।
विमान-भवन-व्यन्तरावास-नरकक्षितिः ॥ आ. पु. २१-१४९.

× × ×

किं बहुणा सव्वं चिय जीवाइपयत्थवित्थरोवेयं।
सव्वनयसमूहमयं झाएज्जा समयसब्भावं ॥ ध्या. श. ६२.

किमत्र बहुनोक्तेन सर्वोऽप्यागमविस्तरः।
नय-भङ्गशताकीर्णो ध्येयोऽध्यात्मविशुद्धये ॥ आ. पु. २१-५४.

आगे आदिपुराण में उक्त धर्मध्यान के काल व स्वामी का निर्देश करते हुए कहा गया है कि वह अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है तथा अप्रमत्त दशा का आलम्बन लेकर अप्रमत्तों में परम प्रकर्ष को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उसका अवस्थान आगमपरम्परा के अनुसार सम्यग्दृष्टियों और शेष संयता-संयतों व प्रमत्तसंयतों में भी जानना चाहिए। आगे लेश्या का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि वह प्रकृष्ट शुद्धि को प्राप्त तीन लेश्याओं से वृद्धिगत होता है[3]।

तत्पश्चात् वहां धर्मध्यान में सम्भव क्षायोपशमिक भाव का निर्देश करते हुए उसके अभ्यन्तर व बाह्य चिह्नों (लिंगों) की सूचना की गई है। उसका फल पाप कर्मों की निर्जरा और पुण्योदय से प्राप्त होने वाला देवसुख बतलाया है। साथ ही वहां यह भी कहा गया है कि उसका साक्षात् फल स्वर्ग की प्राप्ति और पारम्परित मोक्ष की प्राप्ति है। इस ध्यान से च्युत होने पर मुनि को अनुप्रेक्षाओं के साथ भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए, जिससे संसार का अभाव किया जा सके[4]।

ध्यानशतक में जिन भावनादि १२ अधिकारों के आश्रय से धर्मध्यान की प्ररूपणा की गई है उनमें उसके स्वामी, लेश्या और फल आदि का भी क्रमानुसार विवेचन किया गया है। स्वामी के विषय में प्रकृत दोनों ग्रन्थों में कुछ मतभेद रहा है। यथा—

ध्यानशतक में प्रकृत धर्मध्यान के ध्याता का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि सब प्रमादों से रहित मुनि तथा उपशान्तमोह और क्षीणमोह उसके ध्याता होते हैं[5]। उपशान्तमोह और क्षीणमोह का अर्थ हरिभद्र सूरि ने उसकी टीका में क्रमशः उपशामक निर्ग्रन्थ और क्षपक निर्ग्रन्थ किया है[6]। अभिप्राय उसका यह प्रतीत होता है कि उक्त धर्मध्यान सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है।

१. ध्या श. ५२-६०. २. आ. पु. २१, १४८-५४.
३. आ. पु. २१, १५५-५६. ४. आ. पु. २१, १५७-६४.
५. ध्या. श. ६३.
६. क्षीणमोहाः क्षपकनिर्ग्रन्थाः, उपशान्तमोहाः उपशामकनिर्ग्रन्थाः।

परन्तु आदिपुराण में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उक्त धर्मध्यान के स्वामित्व का विचार करते हुए उसका सद्भाव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक ही बतलाया गया है[1]। यह अवश्य विचारणीय है कि वहां 'वह अप्रमत्त दशा का आलम्बन लेकर अप्रमत्तों में परम प्रकर्ष को प्राप्त होता है' यह जो कहा गया है उसका अभिप्राय क्या सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से ही रहा है या आगे के कुछ अन्य अप्रमत्तों से भी। आगे वहां यह भी कहा गया है कि आगमपरम्परा के अनुसार वह सम्यग्दृष्टियों, संयतासंयतों और प्रमत्तसंयतों में भी होता है। यह मान्यता सर्वार्थसिद्धिकार और तत्त्वार्थवार्तिककार की रही है[2]।

शुक्लध्यान—

शुक्लध्यान का निरूपण करते हुए आदिपुराण में आम्नाय के अनुसार उसके शुक्ल और परम-शुक्ल ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। उनमें छद्मस्थों के शुक्ल और केवलियों के परमशुक्ल कहा गया है[3]। इन भेदों का संकेत ध्यानशतक में भी उपलब्ध होता है, पर वहां परमशुक्ल से समुच्छिन्नक्रिया-प्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्लध्यान अभीष्ट रहा है[4]।

आगे दोनों ग्रन्थों में जो शुक्लध्यान के पृथक्त्ववितर्क सविचार आदि चार भेदों का निरूपण किया गया है वह बहुत कुछ समान है।

ध्यानशतक में शुक्लध्यानविषयक क्रम का निरूपण करते हुए एक उदाहरण यह दिया गया है कि जिस प्रकार सब शरीर में व्याप्त विष को मंत्र के द्वारा क्रम से हीन करते हुए डंकस्थान में रोक दिया जाता है और तत्पश्चात् उसे प्रधानतर मंत्र के द्वारा उस डंकस्थान से भी हटा दिया जाता है उसी प्रकार तीनों लोकों के विषय करने वाले मन को ध्यान के बल से क्रमशः हीन करते हुए परमाणु में रोका जाता है और तत्पश्चात् जिनरूपी वैद्य उसे उस परमाणु से भी हटाकर उस मन से सर्वथा रहित हो जाते हैं[5]।

यही उदाहरण प्रकारान्तर से आदिपुराण में भी दिया गया है। यथा—वहां कहा गया है कि जिस प्रकार सब शरीर में व्याप्त विष को मंत्र के सामर्थ्य से खींचा जाता है उसी प्रकार समस्त कर्मरूपी विष को ध्यान के सामर्थ्य से पृथक् किया जाता है[6]।

उक्त दोनों ग्रन्थों में एक अन्य उदाहरण मेघों का भी दिया गया है। यथा—

जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति।
झाण-पवणावहूया तह कम्म-घणा विलिज्जंति॥ ध्या. श. १०२.
यद्वद् वाताहताः सद्यो विलीयन्ते घनाघनाः।
तद्वत् कर्म-घना यान्ति लयं ध्यानानिलाहताः॥ आ. पु. २१-२१३.

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों की वर्णनशैली तथा शब्द, अर्थ और भाव की समानता को देखते हुए इसमें सन्देह नहीं रहता कि आदिपुराण के अन्तर्गत वह ध्यान का वर्णन ध्यानशतक से अत्यधिक प्रभावित है। यहां इस शंका के लिए कोई स्थान नहीं है कि सम्भव है आदिपुराण का ही प्रभाव ध्यानशतक पर रहा हो, कारण इसका यह है कि ध्यानशतक पर हरिभद्र सूरि के द्वारा एक टीका लिखी गई है, अतः ध्यानशतक की रचना निश्चित ही हरिभद्र के पूर्व में हो चुकी है और हरिभद्र सूरि निश्चित ही आ. जिनसेन के पूर्ववर्ती हैं। इससे यही समझना चाहिए कि आदिपुराण के रचयिता जिनसेन स्वामी के समक्ष प्रकृत ध्यानशतक रहा है और उन्होंने उसका उपयोग उसमें किये गये ध्यान के वर्णन में किया है।

ध्यानशतक व ज्ञानार्णव

आचार्य शुभचन्द्र (सम्भवतः वि. की ११वीं शती) विरचित ज्ञानार्णव यह एक ध्यानविषयक

१. आ. पु. २१, १५५-५६.
२. स. सि. ९-३६; त. वा. ९, ३६, १३-१५.
३. आ. पु. २१-१६७.
४. ध्या. श. ८९.
५. ध्या. श. ७१-७२.
६. आ. पु. २१-२१४.

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें मुद्रित प्रति (परम श्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई) के अनुसार ४२ प्रकरण हैं। पद्यसंख्या लगभग २२३० है। संस्कृत भाषामय ये पद्य अनुष्टुभ्, आर्या, इन्द्रवज्रा, इन्द्रवंशा, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, वसन्ततिलका, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित, शालिनी, शिखरिणी और स्रग्धरा जैसे छन्दों में रचे गये हैं। ग्रन्थ की भाषा, कविता और पदलालित्य आदि को देखते हुए ग्रन्थकार की प्रतिभाशालिता का पता सहज में लग जाता है। सिद्धान्त के मर्मज्ञ होने के साथ वे एक प्रतिभासम्पन्न उत्कृष्ट कवि भी रहे हैं। ग्रन्थ में उक्त ४२ प्रकरण स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा विभक्त किये गये हैं, ऐसा प्रतीत नहीं होता। मूल ग्रन्थ में कहीं किसी भी प्रकरण का प्रायः निर्देश नहीं किया गया है। विषयविवेचन भी प्रकरण के अनुसार क्रमबद्ध नहीं है, किसी एक विषय की चर्चा करते हुए वहां बीच बीच में अन्य विषय भी चर्चित हुए हैं। अन्य ग्रन्थों के भी बहुत-से पद्य उसमें 'उक्तं च' आदि के संकेत के साथ और विना किसी संकेत के भी समाविष्ट हुए हैं, भले ही उनका समावेश वहां चाहे स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा किया गया हो अथवा पीछे अन्य अध्येताओं के द्वारा। ग्रन्थ में प्रमुखता से ध्यान की प्ररूपणा तो की ही गई है, पर साथ में उस ध्यान की सिद्धि में निमित्तभूत अनित्यादि भावनाओं, अहिंसादि महाव्रतों और प्राणायामादि अन्य भी अनेक विषय चर्चित हुए हैं। इसीलिए उसके 'ज्ञानार्णव' और 'ध्यानशास्त्र' ये दो सार्थक नाम ग्रन्थकार को अभीष्ट रहे हैं[1]। ग्रन्थ का कुछ भाग सुभाषित जैसा रहा है।

प्रस्तुत ध्यानशतक में ध्यान व उससे सम्बद्ध जिन विषयों का वर्णन किया गया है उन सबका कथन इस ज्ञानार्णव में भी प्रायः यथाप्रसंग किया गया है। पर दोनों की वर्णनशैली भिन्न रही है। ध्यानशतक का विषयविवेचन पूर्णतया क्रमबद्ध व व्यवस्थित है, किन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, ज्ञानार्णव में वह विषयविवेचन का क्रम प्रायः व्यवस्थितरूप में नहीं रह सका है।

इन दोनों ग्रन्थों में कहीं कहीं शब्द व अर्थ की जो समानता दिखती है वह इस प्रकार है—

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥ ध्या. श. २.
एकाग्रचिन्तानिरोधो यस्तद् ध्यानं भावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥ ज्ञाना. १६, पृ. २५६.

× × ×

निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसक-कुसीलवज्जियं जइणो।
ठाणं विजणं भणियं विसेसओ झाणकालंमि ॥ ध्या. श. ३५.
यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम्।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥ ज्ञाना. पृ. ८, २७८.

× × ×

थिरकयजोगाणं पुण मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं।
गामंमि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥ ध्या. श. ३६.
विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा।
यदि धत्ते स्थिरं चित्तं न तदास्ति निषेधनम् ॥ ज्ञाना. २२, पृ. २८०.

× × ×

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल चेट्ठासु।
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा ॥ ४०.

---

१. श्लोक ११, पृ. ७; श्लोक ८८, पृ. ४४७; व श्लो ८७, पृ. ४४६. (प्रत्येक प्रकरण के अन्तिम पुष्पिका-वाक्य में उसके 'योगप्रदीपाधिकार' इस नाम का भी निर्देश किया गया है।)

तो देस-काल-चेट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि ।
जोगाण समाहाणं जह होइ तहा पयइयव्वं ।। ध्या. श. ४१.
वज्रकाया महासत्त्वा निःकम्पाः सुस्थिरासनाः ।
सर्वावस्थास्वलं ध्यात्वा गताः प्राग्योगिनः शिवम् ॥ १३, पृ. २७९.
संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः ।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥ २१, पृ. २८०.

इस प्रकार की समानता को देखते हुए भी ज्ञानार्णव पर ध्यानशतक का कुछ प्रभाव रहा है, यह सम्भावना नहीं की जा सकती है। इसका कारण यह है कि आ. जिनसेन के द्वारा आदिपुराण के २१वें पर्व में जो ध्यान का वर्णन किया गया है उसका प्रभाव ज्ञानार्णव पर अत्यधिक रहा है। अतः यही सम्भव है कि ज्ञानार्णवकार ने ध्यानशतक को आधार न बनाकर आदिपुराण के आश्रय से ही ध्यानविषयक प्ररूपणा की है। ग्रन्थकार आ. शुभचन्द्र ने स्वयं ही ग्रन्थ के प्रारम्भ में आ. जिनसेन के वचनों के महत्त्व को प्रगट करते हुए उनका स्मरण किया है[1]। पूर्वोल्लिखित ज्ञानार्णव के श्लोक १६, ८, २२ तथा १३ और २१ क्रमशः आदिपुराण पर्व २१ के ९, ७७, ८३ और ७३ श्लोकों से प्रभावित हैं। आदिपुराण का वह ध्यान का प्रकरण ध्यानशतक से विशेष प्रभावित है, यह पहिले प्रगट किया ही जा चुका है।

ध्यानशतक व योगशास्त्र

जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही प्रगट है, प्रस्तुत योगशास्त्र यह योगविषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसके रचयिता सुप्रसिद्ध हेमचन्द्र सूरि (वि. की १२वीं शती) हैं। वह १२ प्रकाशों में विभक्त है। उनमें से प्रथम तीन प्रकाशों में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय; तथा चतुर्थ प्रकाश में कषायों, इन्द्रियों एवं राग-द्वेषादि की विजय के साथ समताभाव की प्राप्ति को अनिवार्य बतलाते हुए अनित्यादि बारह और मैत्री आदि चार भावनाओं की भी प्ररूपणा की गई है। यहीं पर ध्यान के योग्य अनेक आसनों का स्वरूप भी दिखलाया गया है। पांचवें प्रकाश में विस्तार से प्राणायाम का निरूपण करते हुए छठे प्रकाश में उससे होने वाली हानि का दिग्दर्शन कराया गया है तथा धर्मध्यान की सिद्धि में निमित्तभूत मनकी स्थिरता की आवश्यकता प्रगट की गई है। सातवें प्रकाश में ध्यान के इच्छुक योगी को पूर्व में ध्याता, ध्येय और फल के जान लेने की प्रेरणा करते हुए ध्येय के प्रसंग में उसके पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार भेदों का निर्देश किया गया है व उनमें से प्रथम पिण्डस्थ ध्येय की प्ररूपणा की गई है। आठवें प्रकाश में पदस्थ और नौवें प्रकाश में रूपस्थ ध्येय का निरूपण किया गया है। दशम प्रकाश में रूपातीत ध्येय का दिग्दर्शन कराते हुए विकल्परूप में उस ध्येय के ये चार भेद भी निर्दिष्ट किये गये हैं—आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान। आगे यथाक्रम से उनके आश्रय से भी धर्मध्यान की प्ररूपणा की गई है। ग्यारहवें प्रकाश में शुक्लध्यान का निरूपण करके बारहवें प्रकाश में अनुभवसिद्ध तत्त्व को प्रकाशित किया गया है।

ध्यानशतक का प्रभाव—

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इस योगशास्त्र के ऊपर ध्यानशतक का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। यथा—

१ जिस प्रकार ध्यानशतक को प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने मंगलस्वरूप योगीश्वर वीर को नमस्कार करके ध्यानशतक के कहने की प्रतिज्ञा की है (१) उसी प्रकार आ. हेमचन्द्र ने योगीश्वर महावीर जिन को नमस्कार करते हुए योगशास्त्र के रचने की प्रतिज्ञा की है (१, १-४)।

२ जिस प्रकार ध्यानशतक में स्थिर अध्यवसान को —मन की स्थिरता को—ध्यान का लक्षण

---

१. जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः ।
योगिभिर्यत् समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥ ज्ञाना. १६, पृ. ८.

बतलाकर उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र कही गई है तथा साथ में यह भी निर्देश किया गया है कि ऐसा ध्यान छद्मस्थों के होता है, केवलियों का ध्यान योगों के निरोधस्वरूप है (२-३); उसी प्रकार से यही भाव योगशास्त्र में भी प्रगट किया गया है (४-११५)। आगे ध्यानशतक में यह भी कहा है कि अन्तर्मुहूर्त मात्र ध्यानकाल के पश्चात् चिन्ता अथवा ध्यानान्तर होता है, इस प्रकार बहुत वस्तुओं में संक्रमण के होने पर ध्यान की सन्तान दीर्घ काल तक चल सकती है। ठीक यही अभिप्राय योगशास्त्र में भी व्यक्त किया गया है। दोनों में शब्दों व अर्थ की समानता द्रष्टव्य है—

अंतोमुहुत्तपरओ चिंता झाणंतरं व होज्जाहि।
सुचिरं पि होज्ज बहुवत्थुसंकमे झाणसंताणो॥ ध्या. श. ४.
मुहूर्त्तात् परतश्चिन्ता यद्वा ध्यानान्तरं भवेत्।
बह्वर्थसंक्रमे तु स्याद् दीर्घापि ध्यानसन्ततिः॥ यो. शा. ४-११६.

इसी प्रकार शुक्लध्यान के प्रसंग में उपयुक्त ध्यानशतक की कुछ गाथाओं का योगशास्त्र में छायानुवाद किया गया जैसा दिखता है। यथा—

निव्वाणगमणकाले केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स।
सुहुमकिरियाऽनियट्टिं तइयं झाणं तणुकायकिरियस्स॥ ८१.
तस्सेव य सेलीसीगयस्स सेलोव्व निप्पकंपस्स।
वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइज्झाणं परमसुक्कं॥ ध्या. श. ८२.
निर्वाणगमनसमये केवलिनो दरनिरुद्धयोगस्य।
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तृतीयं कीर्तितं शुक्लम्॥
केवलिनः शैलेशीगतस्य शैलवदकम्पनीयस्य।
उत्सन्नक्रियमप्रतिपाति तुरीयं परमशुक्लम्॥ यो. शा. ११, ८-९.

इसी प्रकार आगे गा. ८३-८४ का मिलान योगशास्त्र के ११, १०-११ श्लोकों से तथा गा. ८५, ८६, का मिलान योगशास्त्र के ११-१२वें श्लोकों से किया जा सकता है।

कुछ विशेषता—

यहां यह विशेष स्मरणीय है कि आ. हेमचन्द्र ने ग्रन्थ के प्रारम्भ (१-४) में तथा अन्त में (१२-१ व १२-५५) में भी यह सूचना की है कि मैंने श्रुत के आश्रय से और गुरुमुख से जो योगविषयक ज्ञान प्राप्त किया है तदनुसार उसका वर्णन करता हुआ मैं कुछ अपने अनुभव के आधार से भी कथन करूंगा। इससे सिद्ध है कि उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ में आगमपरम्परा के अनुसार तो योग का वर्णन किया ही है, साथ ही उन्होंने अपने अनुभव के आधार से उसमें कुछ विशेषता भी प्रगट की है, जो इस प्रकार है—

१ आगमपरम्परा में ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये चार भेद कहे गये हैं[1]। पर आ. हेमचन्द्र ने उसके भेदों में आर्त और रौद्र इन दो दुर्ध्यानों को सम्मिलित न करके उस ध्यान को धर्म और शुक्ल के भेद से दो प्रकार का ही बतलाया है[2]।

२ ध्यानशतक में धर्मध्यान की प्ररूपणा यथाक्रम से भावना आदि (२८-२९) बारह द्वारों के आश्रय से की गई है, परन्तु आ. हेमचन्द्र ने उसकी उपेक्षा करके ध्याता, ध्येय और फल के अनुसार यहां

---

१. जैसे—स्थानांग २४७, पृ. १८७; मूलाचार ५-१९७ और तत्त्वार्थसूत्र ९-२८ आदि।

२. मुहूर्त्तान्तर्मनःस्थैर्यं ध्यानं छद्मस्थयोगिनाम्।
धर्म्यं शुक्लं च तद् द्वेधा योगरोधस्त्वयोगिनाम्॥ ४-११५.
षट्खण्डागम की आ. वीरसेन विरचित धवला टीका (पु. १३, पृ. ७०) में भी आर्त-रौद्र को सम्मिलित न करके ध्यान के ये ही दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं।

ध्यान का कथन किया है (७-१)।

३ आगमपरम्परा में व ध्यानशतक में भी पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपवर्जित इन चार ध्येय-भेदों के अनुसार चार प्रकार के ध्यान की कहीं कुछ प्ररूपणा नहीं की गई है, पर आ. हेमचन्द्र ने अपने इस योगशास्त्र में ध्यान के इन चार भेदों की विस्तार से प्ररूपणा की है[1]।

४ ध्यानशतक में ध्यातव्य (ध्येय) के प्रसंग में आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन धर्मध्यान के चार भेदों की ही प्ररूपणा की गई है। वहां पिण्डस्थ-पदस्थ आदि चार ध्यानों के विषय में कुछ भी निर्देश नहीं किया गया है। परन्तु योगशास्त्र में इनको प्रमुख स्थान दिया गया है तथा उपर्युक्त आज्ञाविचयादि चार धर्मध्यान के भेदों का विवेचन विकल्परूप में किया गया है[2]।

५ ध्यानशतक में ध्याता का विचार करते हुए समस्त प्रमादों से रहित मुनि, उपशान्तमोह और क्षीणमोह इनको धर्मध्यान का ध्याता कहा गया है (६३)। परन्तु योगशास्त्र में ध्याता की विशेषता को प्रगट करके भी (७, २-७) धर्मध्यान के स्वामियों का कहीं कोई निर्देश नहीं किया गया[3]। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धर्मध्यान के स्वामियों के विषय में कुछ मतभेद रहा है। सम्भव है हेमचन्द्र सूरि ने इसी कारण से उसकी उपेक्षा की है।

६ ध्यानशतक में धर्मध्यान से सम्बन्धित लेश्याओं का निर्देश करके भी उसमें सम्भव क्षायोपशमिक भाव का कोई उल्लेख नहीं किया गया है (६६)। परन्तु योगशास्त्र में धर्मध्यान में सम्भव उन लेश्याओं के निर्देश के पूर्व ही उसमें क्षायोपशमिक आदि भाव का सद्भाव दिखलाया गया है[4]।

७ स्थानांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र एवं ध्यानशतक आदि प्राचीन ग्रन्थों में प्राणायाम को ग्रहण नहीं किया गया है। परन्तु योगशास्त्र में उस प्राणायाम का वर्णन करते हुए विविध प्रकार के वायुसंचार से सूचित शुभाशुभ की विस्तार से चर्चा की गई है। साथ ही वहां परकायप्रवेश आदि का भी कथन किया गया है। हां, यह अवश्य है कि आ. हेमचन्द्र ने वहां महर्षि पतञ्जलि विरचित योगशास्त्र में निर्दिष्ट उस प्राणायाम का विस्तार से वर्णन करते हुए भी उसे अनावश्यक और अहितकर बतलाया है[5] (६, १-५)।

---

१. यहां क्रम से ७वें प्रकाश में पिण्डस्थ (८-२८), ८वें प्रकाश में पदस्थ (१-८१), ९वें प्रकाश में रूपस्थ (१-१६) और १०वें प्रकाश में रूपातीत (१-६) ध्यान का वर्णन किया गया है।

२. एवं चतुर्विधध्यानामृतमग्नं मुनेर्मनः ।
साक्षात्कृतजगत्तत्त्वं विधत्ते शुद्धिमात्मनः ॥
आज्ञापायविपाकानां संस्थानस्य च चिन्तनात् ।
इत्थं वा ध्येयभेदेन धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥ यो. शा. १०, ६-७.

पिण्डस्थ-पदस्थ आदि उक्त चार प्रकार के ध्यान की प्ररूपणा आ. शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव में संस्थानविचय धर्मध्यान के प्रसंग में (पृ, ३८१-४२३) और आ. अमितगति विरचित श्रावकाचार (१५, ३०-५६) में विस्तार से की गई है।

३. तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसम्मत सूत्रपाठ के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के स्वामियों का निर्देश इस प्रकार किया गया है—आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। उपशान्त-क्षीण-कषाययोश्च। ९, ३७-३८.

४. धर्मध्याने भवेद् भावः क्षायोपशमिकादिकः ।
लेश्याः क्रमविशुद्धाः स्युः पीत-पद्म-सिताः पुनः ॥ १०-१६. (क्षायोपशमिक भाव की सूचना आदिपुराण (२१-१५७) व ज्ञानार्णव (श्लोक ३९, पृ. २७०) में की गई है)

५. ज्ञानार्णव में भी उस प्राणायाम का विस्तार से वर्णन करते हुए (श्लोक १-१०२, पृ. २८४-३०३) भी उसे अनिष्टकर सूचित किया गया है (श्लोक १००, पृ. ३०२ व व श्लोक ४-६, पृ. ३०५)।

८ ध्यानशतक में धर्मध्यान के ध्याताओं का उल्लेख करने के अनन्तर यह कहा गया है कि ये ही धर्मध्यान के ध्याता अतिशय प्रशस्त संहनन से युक्त व पूर्वश्रुत के धारक होते हुए पूर्व के दो शुक्लध्यानों के भी ध्याता होते हैं (६३-६४)। योगशास्त्र में इसे कुछ स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि प्रथम संहनन से युक्त पूर्वश्रुत के ज्ञाता शुक्लध्यान के करने में समर्थ होते हैं। कारण यह कि हीन बलवालों का इन विषयों के वशीभूत होने से चूंकि स्थिरता को प्राप्त नहीं होता, इसीलिए वे शुक्लध्यान के अधिकारी नहीं हैं (११, २-३)।

लगभग यही अभिप्राय तत्त्वानुशासन (३५-३६) और ज्ञानार्णव में भी प्रगट किया गया है। इस प्रसंग से सम्बन्धित ज्ञानार्णव और योगशास्त्र के श्लोकों की समानता देखने योग्य है—

चलत्येवाल्पसत्त्वानां क्रियमाणमपि स्थिरम्।
चेतः शरीरिणां शश्वद् विषयैर्व्याकुलीकृतम्॥ ज्ञाना. ५, पृ. ४२५,
न स्वामित्वमतः शुक्ले विद्यतेऽत्यल्पचेतसाम्।
आद्यसंहननस्यैव तत् प्रणीतं पुरातनैः॥ ज्ञाना. ६, पृ. ४२५.
इदमादि[म]संहनना एवालं पूर्ववेदिनः कर्तुम्।
स्थिरतां न याति चित्तं कथमपि यत् स्वल्पसत्त्वानाम्॥
धत्ते न खलु स्वास्थ्यं व्याकुलितं तनुमतां मनोविषयैः।
शुक्लध्याने तस्मान्नास्त्यधिकारोऽल्पसाराणाम्॥ यो. शा. ११, २-३.

यहां ज्ञानार्णव में उपयुक्त 'अत्यल्पचेतसाम्' के समकक्ष जो योगशास्त्र में 'स्वल्पसत्त्वानाम्' पद प्रयुक्त हुआ है वह भाव को अधिक स्पष्ट कर देता है।

इस प्रकार ध्यानशतक के साथ योगशास्त्र की समानता व असमानता को देखकर यह निश्चित प्रतीत होता है कि आ. हेमचन्द्र ने उस ध्यानशतक को हृदयंगम करके उससे यथेच्छ विषय को ग्रहण किया है और उसका उपयोग अपनी रुचि के अनुसार योगशास्त्र की रचना में किया है। पर विषयविवेचन की शैली उनकी ध्यानशतककार से भिन्न रही है।

टीका व टीकाकार हरिभद्र सूरि

टीका—प्रस्तुत ग्रन्थ में मूल के साथ जो संस्कृत टीका मुद्रित है वह बहुश्रुत विद्वान् प्रसिद्ध हरिभद्र सूरि के द्वारा रची गई है। टीका यद्यपि संक्षिप्त है फिर भी शब्दार्थ का बोध कराते हुए मूल ग्रन्थ के भाव को भी उसमें स्पष्ट किया गया है। साथ ही वहां यथाप्रसंग अनेक प्राचीन ग्रन्थों के जो प्रमाण के रूप में उद्धरण दिये गये हैं उनसे भावावबोध अधिक हो जाता है। टीकाकार ने जो कुछ स्थलों पर व्याख्याविषयक मतभेदों की सूचना की है[1] उससे ज्ञात होता है कि इस टीका के पूर्व भी अन्य एक दो टीकायें रची जा चुकी हैं, पर वे उपलब्ध नहीं हैं।

टीकाकार के सामने ग्रन्थगत कुछ पाठभेद भी रहे हैं, जिनका निर्देश उन्होंने यथास्थान अपनी इस टीका में कर भी दिया है[2]।

हरिभद्र सूरि—ये जन्मना वेदानुयायी ब्राह्मण थे। निवासस्थान उनका चित्रकूट रहा है। वे तर्कणाशील विद्वान् थे। उन्होंने वैदिक सम्प्रदाय के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अध्ययन के साथ इतर दर्शनों के भी कितने ही ग्रन्थों का परिशीलन किया था। एक वार उन्हें संयोग से याकिनी-महत्तरा नामक एक विदुषी साध्वी के दर्शन का लाभ हुआ। उसकी धर्मचर्चा से वे अतिशय प्रभावित हुए। तब उन्होंने वैदिक सम्प्रदाय को छोड़कर जैनेश्वरी दीक्षा स्वीकार कर ली। उनके दीक्षादाता गुरु जिनदत्त सूरि थे।

१ देखिये अन्त में परिशिष्ट ८, पृ. ७२.
२ देखिये परिशिष्ट ७, पृ. ७२.

उन्होंने सद्धर्म का उपदेश देने वाली याकिनी-महत्तरा को अपनी धर्ममाता माना। इसी से उन्होंने स्वरचित अधिकांश ग्रन्थों के पुष्पिकावाक्यों में अपने को जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अनुयायी याकिनी-महत्तरा का सूनु घोषित किया है। वे संस्कृत भाषा के तो अधिकारी विद्वान् पूर्व में ही रहे हैं, अब जैन धर्म में दीक्षित होकर उन्होंने जैनागमों का भी गम्भीर अध्ययन कर लिया व प्राकृत भाषा के भी अधिकारी विद्वान् हो गये। हरिभद्र सूरि का समय विक्रम संवत् ७५७ से ८२७ (ई. सन् ७०० से ७७०) माना जाता है। वे कुवलयमाला के कर्ता उद्योतन सूरि के कुछ समकालीन रहे हैं[1]। उनके द्वारा उक्त दोनों ही भाषाओं में जहां अनेक मौलिक ग्रन्थ रचे गये हैं वहां अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर टीका भी की गई है। उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

मूल ग्रन्थ—

१ धर्मसंग्रहणी
२ श्रावकप्रज्ञप्ति (स्वोपज्ञ टीका सहित)
३ पंचाशक प्रकरण
४ पंचवस्तुक प्रकरण (स्वो. टीका सहित)
५ योगविंशिका
६ योगबिन्दु (स्वो. टीका सहित)
७ योगदृष्टिसमुच्चय
८ शास्त्रवार्तासमुच्चय
९ षड्दर्शनसमुच्चय
१० धर्मबिन्दु प्रकरण
११ अष्टक प्रकरण
१२ षोडशक प्रकरण
१३ समराइच्चकहा
१४ उपदेशपद
१५ अनेकान्तजयपताका
१६ अनेकान्तवादप्रवेश
१७ लोकतत्त्वनिर्णय
१८ सम्बोध प्रकरण
१९ सम्बोधसप्तति प्रकरण, इत्यादि

टीकायें—

१ आवश्यकसूत्र
२ दशवैकालिक
३ पाक्षिकसूत्र
४ पंचसूत्र
५ प्रज्ञापनासूत्र
६ अनुयोगद्वार
७ नन्दीसूत्र
८ ललितविस्तरा
९ तत्वार्थवृत्ति, इत्यादि

इन टीकाओं में उन्होंने सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। इससे उनकी बहुश्रुतता का परिचय सहज में मिल जाता है। इनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों और टीकाओं के अन्त में प्रायः उपकार की स्मृतिस्वरूप 'याकिनी-महत्तरासूनु' उपलब्ध होता है। साथ ही उन्होंने अपनी इन कृतियों के अन्त में प्रायः 'भवविरह' शब्द का उपयोग किया है।

---

१. श्री-हरिभद्राचार्यस्य समयनिर्णयः, पृ. १-२३ (जैन साहित्यशोधक समाज, पूना) तथा 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' भाग ३, पृ. ३५९.

प्रस्तावना ध्यानस्तव

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रन्थ का 'ध्यानस्तव' यह एक सार्थक नाम है। ग्रन्थकार श्री भास्करनन्दी ने इसमें १०० श्लोकों के द्वारा जिनस्तुति के रूप में संक्षेप से ध्यान का सुव्यवस्थित व क्रमबद्ध वर्णन किया है। ग्रन्थ यद्यपि संक्षिप्त है, फिर भी उसमें ध्यान के आवश्यक सभी अंगों का समावेश बड़ी कुशलता से किया गया है। ग्रन्थ के संक्षिप्त व सुन्दर विषयविवेचन को देखते हुए ग्रन्थकार की बहुश्रुतता का परिचय सहज में ही मिल जाता है। ध्यानस्तव के अतिरिक्त उनके द्वारा तत्त्वार्थसूत्र पर एक महत्त्वपूर्ण वृत्ति भी लिखी गई है, जो ग्रन्थगत सभी विषयों को सरल और सुबोध भाषा में प्रस्फुटित करती है। इससे उसका 'सुखबोधा वृत्ति' यह सार्थक नाम समझना चाहिए। इस वृत्ति के आधार सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ रहे हैं। ध्यानस्तव में जो नौ पदार्थों, सात तत्त्वों और छह द्रव्यों का विवेचन किया गया है उसका आधार उपर्युक्त तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं के अतिरिक्त मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित द्रव्यसंग्रह भी रहा है[1]।

ग्रन्थकार भास्करनन्दी ने किस स्थान को अपने जन्म से पवित्र किया, माता-पिता उनके कौन थे तथा वे अन्त तक गृहस्थ रहे हैं, मुनिधर्म में दीक्षित हुए हैं, अथवा भट्टारक पद पर आसीन हुए हैं; इत्यादि उनके जीवन सम्बन्धी वृत्त के जानने के लिए कोई साधन-सामग्री उपलब्ध नहीं हैं। ग्रन्थ के अन्त में जो दो श्लोकों में संक्षिप्त प्रशस्ति[2] उपलब्ध है उससे इतना मात्र ज्ञात होता है कि वे सर्वसाधु के प्रशिष्य और जिनचन्द्र के शिष्य थे। सर्वसाधु यह नाम न होकर सम्भवतः उनकी एक प्रशंसापरक उपाधि रही है।

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित ध्यानस्तव की प्रस्तावना में उसकी विदुषी सम्पादिका कुमारी सुजुको ओहिरा के द्वारा यह सम्भावना प्रगट की गई है कि उनका नाम वृषभनन्दी तथा उपनाम चतुर्मुख व सर्वसाधु रहे हैं। उन्होंने वहां यह भी संकेत किया है कि तत्त्वार्थवृत्ति की प्रशस्ति में उपयुक्त 'शिष्यो भास्करनन्दिनामविबुधः' इत्यादि श्लोक में विपरीत क्रम से 'वृषभनन्दी' नाम पढ़ा जा सकता है, पर वह किस प्रकार से पढ़ा जा सकता है, इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया[3]। भास्करनन्दी के समय पर विचार करते हुए कु. ओहिरा ने सम्भावना के रूप में उनका समय १२वीं शताब्दी का आरम्भ (ई. १११० या ११२०) माना है[4]।

---

१. इसे आगे द्रव्यसंग्रह के साथ ध्यानस्तव की तुलना करते हुए स्पष्ट किया जायगा।

२. इसी प्रकार की प्रशस्ति तत्त्वार्थवृत्ति में भी पायी जाती है। प्रशस्तिगत 'नो निष्ठीवेन्न शेते' इत्यादि श्लोक दोनों में समान है (देखिये ध्या. स्त. ९९)।

३. ध्यानस्तव की प्रस्तावना पृ. ३३ (अंग्रेजी) व ३२ (हिन्दी)।

४. ध्यानस्तव की अंग्रेजी प्रस्तावना पृ. ३७, हिन्दी पृ. ३५-३६.

पं. शान्तिराज जी शास्त्री ने तत्त्वार्थवृत्ति की प्रस्तावना में भास्करनन्दी के समय पर विचार करते हुए उन्हें १३-१४वीं शताब्दी का विद्वान् माना है[1]।

जैसी की स्व. पं. मिलापचन्द जी कटारिया के द्वारा सम्भावना व्यक्त की गई है, तदनुसार भास्करनन्दी का समय वि. सं. की सोलहवीं शताब्दी ठहरता है। ध्यानस्तव की प्रशस्ति में जिन सर्वसाधु का उल्लेख किया गया है (९९) उसमें उपयुक्त 'शुभगति' के स्थान में 'शुभयति' पाठकी कल्पना के आधार पर वे उससे उन शुभचन्द्र को ग्रहण करते हैं, जिन्होंने दिल्ली-जयपुर की भट्टारकीय गद्दी चलायी व जिनका समय वि. सं. १४५० से १५०७ रहा है। इन शुभचन्द्र के पट्ट पर जो जिनचन्द्र प्रतिष्ठित हुए वे भास्करनन्दी के गुरु हो सकते हैं। इन जिनचन्द्र का समय वि. सं. १५०७ से १५७१ माना जाता है। इस प्रकार से भास्करनन्दी का समय वि. की १६वीं शताब्दी सम्भावित है[2]।

ध्यानस्तव की रचना के समय ग्रन्थकार के समक्ष निम्न ग्रन्थ रहे हैं व उन्होंने उसकी रचना में यथासम्भव उनका कुछ उपयोग भी किया है—प्रवचनसार, समयसार, पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डक, स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, सर्वार्थसिद्धि, समाधिशतक, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, तत्त्वानुशासन, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, द्रव्यसंग्रह व उसकी ब्रह्मदेव विरचित टीका, अमितगति-श्रावकाचार और ज्ञानार्णव आदि। इनका ध्यानस्तव के ऊपर कितना प्रभाव रहा है, इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा। इनमें पिछले द्रव्यसंग्रह, अमितगति-श्रावकाचार और ज्ञानार्णव ये तीन ग्रन्थ हैं जो प्रायः विक्रम की ११वीं शताब्दी में रचे गये हैं। इससे इतना तो प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ध्यानस्तव के कर्ता भास्करनन्दी ११वीं शताब्दी के बाद हुए हैं, पर वे उसके कितने बाद हुए हैं, इसका निर्णय तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि कुछ उपयुक्त सामग्री सुलभ न हो सके।

ग्रन्थ का विषय परिचय

जैसा कि ग्रन्थ का नाम है 'ध्यानस्तव' तदनुसार ही उसमें जिनस्तुति के रूप में ध्यान की प्ररूपणा की गई है। इस प्रकार का अपना अभिप्राय ग्रन्थकार ने मंगल के रूप में ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही व्यक्त कर दिया है। उन्होंने सर्वप्रथम वहां यही कहा है कि मैं (भास्करनन्दी) आत्मसिद्धि के लिये योग से सम्पन्न स्तवनों के द्वारा अनन्त गुणों से व्याप्त परमात्मा की स्तुति करता हूं (१-२)। आगे उक्त आत्मसिद्धि को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि आसक्ति से रहित सम्यग्दृष्टि जीव के जो सम्यग्ज्ञानपूर्वक निज आत्मा की उपलब्धि होती है उसका नाम सिद्धि है। वह स्वात्मोपलब्धि शुद्ध ध्यान के ही उपयोग से होती है, उसके बिना वह सम्भव नहीं है। प्रकारान्तर से फिर भी उस आत्मसिद्धि के विषय में यह कहा गया है कि अथवा ज्ञानावरणादि कर्मों के विनष्ट हो जाने पर जो अनन्त ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति होती है या स्वात्मसंवेदन होता है उसे हे भगवन्! आप के द्वारा सिद्धि कहा गया है (३-४)। आत्मा जो ज्ञानस्वरूप है उसका प्रतिभास यदि किसी को समाधि में स्थित होने पर नहीं होता है तो मोह स्वभाव (अज्ञानस्वरूप) होने के कारण उसे ध्यान नहीं कहा जा सकता है (५)।

ध्यान के लक्षण को दिखलाते हुए उसके जो आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें प्रथम दो संसार के कारण तथा अन्तिम दो मोक्ष के कारण हैं (६-८)। अनन्तर उक्त आर्त और रौद्र ध्यानों के स्वरूप को दिखलाकर उनके स्वामियों का भी निर्देश किया गया है (९-११)।

धर्म्यध्यान के प्रसंग में प्रथमतः जिनाज्ञा, अपाय, कर्मविपाक और लोकसंस्थान के विचार को धर्म कहकर तत्पश्चात् विकल्प रूप में उत्तम क्षमा आदि को, वस्तुस्वरूप को, सम्यग्दर्शनादि को और मोह-क्षोभ से रहित आत्मा के भाव को धर्म का लक्षण बतलाते हुए उससे अनपेत ध्यान को धर्म्यध्यान कहा गया है।

---

१. त. वृत्ति की प्रस्तावना पृ. ४७-४८.

२. महावीर स्मारिका १९७२, खण्ड २, पृ. २१-२२.

साथ ही वहां यह भी सूचित किया गया है कि मुख्य धर्म्यध्यान उपशमक और क्षपक इन दोनों श्रेणियों के पूर्व अप्रमत्त के, और गौण धर्म्यध्यान प्रमत्तादि तीन के—प्रमत्तसंयत, संयतासंयत और अविरतसम्यग्दृष्टि इन तीन के—होता है (१२-१६)।

शुक्लध्यान के प्रसंग में उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि अतिशय शुद्ध जो धर्म्यध्यान है वही शुक्लध्यान है जो दोनों श्रेणियों में होता है। वह चार प्रकार का है। उन चार भेदों में प्रथम वितर्क, वीचार और पृथक्त्व से सहित तथा इसके विपरीत दूसरा वितर्क से सहित व वीचार से रहित होकर एकत्व से युक्त होता है। वितर्क का अर्थ श्रुतज्ञान और पृथक्त्व का अर्थ विभिन्न अर्थों का प्रतिभास है। योग, शब्द और अर्थ के संक्रम को वीचार कहा जाता है। ये दोनों शुक्लध्यान पूर्ववेदी (श्रुतकेवली) के होते हैं। योग की अपेक्षा वे क्रम से तीनों योग वाले और किसी एक ही योग वाले के होते हैं। तीसरा सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती शुक्लध्यान शरीर की सूक्ष्म क्रिया से युक्त सयोग केवली के होता है। समुच्छिन्नक्रिय-अनिवर्ती नाम का चौथा शुक्लध्यान समस्त आत्मप्रदेशों की स्थिरता से युक्त अयोग केवली के होता है (१६-२१)।

यहां यह शंका उपस्थित हुई है कि अनेक पदार्थों का आलम्बन करने वाली चिन्ता जब मोह के नष्ट हो जाने पर सर्वज्ञ जिनके सम्भव नहीं है तब वैसी अवस्था में उक्त चिन्ता के निरोधस्वरूप वह ध्यान सर्वज्ञ के कैसे सम्भव है? इसके समाधान में यह कहा गया है कि सयोग और अयोग केवलियों के जो देशतः या पूर्णरूप से योगों का निरोध होता है वही उनका ध्यान है। अथवा भूतपूर्वप्रज्ञापन नय की अपेक्षा उनके ध्यान का सद्भाव समझना चाहिए (२२-२३)।

आगे पूर्वोक्त सब ध्यान को फिर से पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से चार प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है (२४)। उनमें से पिण्डस्थ ध्यान में अनेक अतिशयों व प्रातिहार्यादि से विभूषित होकर कर्म को भस्मसात् करते हुए अपने शरीर में स्थित अरहन्त परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है (२५-२८)। पदस्थ ध्यान में ध्याता एकाग्रतापूर्वक अरहन्त के नामपदों से संयुक्त मंत्र को जपता है (२९)। रूपस्थ ध्यान उस योगी के कहा गया है जो जिनेन्द्र के नामाक्षर और धवल प्रतिबिम्ब का भिन्न ध्यान कर रहा हो। अथवा जो शुद्ध, धवल, आत्मा से भिन्न व प्रातिहार्यादि से विभूषित शरीर से सहित अरहन्त का ध्यान करता है उसके ध्यान को रूपस्थ ध्यान समझना चाहिए (३०-३१)। जो अपने में स्थित, शरीर प्रमाण, ज्ञान-दर्शनस्वरूप, हर्ष-विषाद से रहित और कर्म-मल से निर्मुक्त आत्मसंवेद्य परमात्मा का ध्यान करता है उसके मोक्ष का कारणभूत रूपस्थ ध्यान कहा गया है (३२-३६)। यहां ध्यान का कथन समाप्त हो जाता है। यह ध्यानविषयक वर्णन चूंकि जिन देव को लक्ष्य करके उनकी स्तुति के रूप में किया गया है, अतएव यहां 'देव' और 'हे प्रभो' आदि सम्बोधन पदों के साथ 'त्वया उक्ता' व 'त्वया गीतम्' आदि पदों का उपयोग किया है।

आगे जाकर बहिरात्मा और अन्तरात्मा के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि हे देव! जो शरीरादि के विषय में ममकार और अहंकार बुद्धि को रखता है वह बहिरात्मा कहलाता है और वह आत्मविमुख होने से आपको नहीं देख सकता है (३७)। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त होकर प्रमाण, नय और निक्षेप के आश्रय से यथार्थरूप में जीवादि नौ पदार्थों, सात तत्त्वों, छह द्रव्यों और पांच अस्तिकायों के साथ शरीर व आत्मा के भेद को जानता है उसे अन्तरात्मा कहते हैं। वह आपके देखने में सदा समर्थ है (३८-३९)।

इस प्रकार बहिरात्मा और अन्तरात्मा जीवों के स्वरूप को दिखला कर आगे क्रम से प्रसंगप्राप्त उक्त नौ पदार्थों (४०-५६), सात तत्त्वों (५७), छह द्रव्यों (५८-६४), पांच अस्तिकायों (६५-६७), प्रमाण (६८), नय (६९-७२) और निक्षेप (७३ ७६) का विवेचन किया गया है।

तत्पश्चात् अन्तरात्मा के प्रसंग में जिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का निर्देश किया गया था उन तीनों का भी क्रम से (७७-८८, ८९ व ९०-९१) विवेचन किया गया है। अनन्तर उक्त

सम्यग्दर्शनादि तीन को समुदित रूप में मोक्ष का कारण बतलाकर ग्रन्थकार ने स्तुतिविषयक अपनी असमर्थता को व्यक्त करते हुए यह कहा है कि हे देव ! आप रुष्ट या संतुष्ट होकर यद्यपि किसी का कुछ भी नहीं करते हैं, फिर भी मनुष्य आपके विषय में एकाग्रचित्त होने से स्वयमेव उसका फल प्राप्त करता है। मैंने यह जो कुछ भी स्तुति के रूप में कहा है वह ध्यानविषयक भक्ति के वश होकर ही कहा है, न कि कवित्व के अभिमानवश। यदि मैं अल्पज्ञ होने से इसमें कुछ स्खलित हुआ हूं तो विशिष्ट निर्मल बुद्धि के धारक विद्वान् उसे शुद्ध कर लें (९२-९८)।

अन्त में ग्रन्थकर्ता भास्करनन्दी ने अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए इतना मात्र कहा है कि शरीर की ओर से अत्यन्त निःस्पृह व दुश्चर तपश्चरण करने वाले एक सर्वसाधु हुए। उनके एक शिष्य श्रुतसमुद्र के पारगामी जिनचन्द्र हुए। उनके भास्करनन्दी नामक शिष्य ने आत्मचिन्तन के लिये ध्यान से समन्वित इस स्तवन को रचा है (९९-१००)।

ध्यानस्तव पर पूर्व साहित्य का प्रभाव

सर्वप्रथम यहां यह स्मरणीय है कि ध्यानस्तव के कर्ता भास्करनन्दी ने तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर एक सुखबोधा नाम की सुबोध वृत्ति रची है। इस वृत्ति का आधार उक्त तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर पूर्व में रची गईं सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि महत्त्वपूर्ण टीकायें रही हैं। प्रस्तुत ध्यानस्तव में ध्यान व उसके प्रसंग से जीवाजीवादि नौ पदार्थों, सात तत्त्वों, छह द्रव्यों, प्रमाण-नय-निक्षेपों और मोक्ष के मार्गभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र का जो विवेचन किया गया है उसका आधार तत्त्वार्थसूत्र की उक्त टीकायें रही हैं। उनके अतिरिक्त पूर्वनिर्दिष्ट (पृ. ७५) अन्य भी जो ग्रन्थ उसके आधारभूत रहे हैं उनका प्रस्तुत ध्यानस्तव से कहां कितना सम्बन्ध रहा है, इसका यहां विचार किया जाता है।

१ **प्रवचनसार**—ध्यानस्तव के अन्तर्गत १४वें श्लोक में मोह-क्षोभ से रहित आत्मा के भाव को धर्म कहा गया है। इसका आधार प्रवचनसार की यह गाथा रही है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥ १-७.

२ **पंचास्तिकाय**—ध्यानस्तव (४०) में जीवाजीवादि नौ पदार्थों का जिस क्रम से निर्देश किया गया है वह उनका क्रम पंचास्तिकाय में उपलब्ध होता है। यथा—

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा॥१०८॥

३ **समयसार**—यही उनका क्रम समयसार (गा. १५) में भी देखा जाता है। यह उनका क्रम तत्त्वार्थसूत्र (१-४) में निर्दिष्ट उनके क्रम से भिन्न है।

४ **तत्त्वार्थसूत्र**—ध्यानस्तव (८-२१) में जो ध्यान के स्वरूप व उसके भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है वह तत्त्वार्थसूत्र के अन्तर्गत ध्यान के प्रकरण (९, २७-४४) से प्रभावित है।

५ **रत्नकरण्डक**—ध्यानस्तव के श्लोक १४ में जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा गया है वह रत्नकरण्डक का अनुसरण करता है। रत्नकरण्डक में उपयुक्त 'सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः' इस श्लोक (३) के अन्तर्गत 'सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि' पद को ध्यानस्तव में जैसा का तैसा ले लिया गया है[1]।

६ **स्वयम्भूस्तोत्र**—ध्यानस्तव के ९३वें श्लोक में यह कहा गया है कि हे देव ! आप अनन्त गुणों से युक्त हैं, फिर भला मैं आपकी स्तुति—उन गुणों का कीर्तन—कैसे कर सकता हूं ? फिर भी मैंने

१. तत्त्वानुशासन (५१) में रत्नकरण्डक के उक्त श्लोक के इस पूर्वार्ध को अविकल रूप में ग्रहण कर लिया गया है।

जो इस प्रकार से स्तुति की है वह ध्यान के अनुराग वश ही की है। यह कथन स्वयम्भूस्तोत्र के निम्न श्लोकों से प्रभावित है—

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥ ८६.
तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम्।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किंचन ॥ ८७.

(इसका श्लोक १५वां और ७०वां भी द्रष्टव्य है)

ध्यानस्तव के ९४ व ९६वें श्लोक में जो यह कहा गया है कि हे देव! आप रुष्ट या सन्तुष्ट होकर यद्यपि किसी का कुछ भी बुरा भला नहीं करते हैं, फिर भी मनुष्य एकाग्रचित्त होकर आपका ध्यान करने से समुचित फल को प्राप्त करता है, उसका आधार स्वयम्भूस्तोत्र के ये श्लोक रहे हैं--

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ ५७.
सुहृत्त्वयि श्री-सुभगत्वमश्नुते द्विषन् त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो! परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥६९.

७ **युक्त्यनुशासन**—ध्यानस्तव के पूर्वोक्त ९६वें श्लोक का अभिप्राय युक्त्यनुशासन के भी श्लोक २-३ के समान है।

८ **सर्वार्थसिद्धि**—ध्यानस्तव (६) में नाना अर्थों का आलम्बन करने वाली चिन्ता के एक अर्थ में नियंत्रित करने को जो ध्यान का लक्षण कहा गया है वह सर्वार्थसिद्धि (९-२७) में निर्दिष्ट ध्यान के इस लक्षण से प्रभावित है—**नानार्थावलम्बनेन चिन्ता** परिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते।

ध्यानस्तव के ९१वें श्लोक में कर्मादान की निमित्तभूत क्रियाओं के निरोध को जो सम्यक्चारित्र कहा गया है वह सर्वार्थसिद्धि में निर्दिष्ट (१-१) चारित्र के इस लक्षण से प्रभावित है—संसारकारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः **कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्**।

आगे ध्यानस्तव के ९२वें श्लोक में औषधि का उदाहरण देते हुए सम्यग्दर्शनादि तीन को समस्त रूप में मोक्ष का कारण कहा गया है। यह अभिप्राय सर्वार्थसिद्धि सूत्र १-१ की उत्थानिका में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—××× व्याध्यभिभूतस्य तद्विनिवृत्त्युपायभूतभेषजविषयव्यस्तज्ञानादिसाधनत्वाभाववद् व्यस्तं ज्ञानादिर्मोक्षप्राप्त्युपायो न भवति। किं तर्हि? तत्त्रितयं समुदितमिति।

९ **समाधिशतक**—ध्यानस्तव (३६) में जो बहिरात्मा के स्वरूप का निर्देश किया गया है वह समाधिशतक के इस लक्षण से प्रभावित है—बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः××× (५)। यही भाव समाधिशतक के ७वें व ५४वें श्लोक में भी प्रगट किया गया है।

१० **तत्त्वार्थवार्तिक**—ध्यानस्तव (१५-१६) में धर्म्यध्यान के स्वामियों का निर्देश करते हुए उसका सद्भाव असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत तक चार गुणस्थानों में प्रगट किया गया है। इसका आधार तत्त्वार्थवार्तिक का वह धर्मध्यान के स्वामिविषयक सन्दर्भ (९, ३६, १३-१५) रहा है[1]।

११ **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**—ध्यानस्तव श्लोक ६ में जो यह कहा गया है कि एकाग्रचिन्तानिरोध

---

१. आदिपुराण (२१, ५५-५६), तत्त्वानुशासन (४६) और ज्ञानार्णव (२८, पृ. २८२) में भी जो इसी प्रकार से उस धर्मध्यान के स्वामियों का निर्देश किया गया है उसका आधार भी मूलतः तत्त्वार्थवार्तिक का वही प्रकरण रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। तत्त्वानुशासन के ४६वें श्लोक में गृहीत 'तत्त्वार्थे' पद के द्वारा सम्भवतः उसकी सूचना भी कर दी गई है।

रूप ध्यान जड़ता अथवा तुच्छता स्वरूप नहीं है, उसका आधार तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का वह प्रसंग रहा है[1]।

१२ तत्त्वानुशासन—१ ध्यानस्तव में ध्यान के लक्षण के पूर्व यह कहा गया है कि समाधि में स्थित योगी को यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं प्रतिभासित होती है तो मोहस्वभाव होने के कारण उसके ध्यान को यथार्थ ध्यान नहीं कहा जा सकता है (५)।

इसका आधार तत्त्वानुशासन का निम्न श्लोक रहा है जो शब्द और अर्थ दोनों से ही समान है—

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते।
तदा न तस्य तद् ध्यानं मूर्च्छावन्मोह एव सः।।१६९।।

२ ध्यानस्तव में ध्यान के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि चिन्ता के निरोध-स्वरूप वह ध्यान न तो जडतारूप है और न तुच्छ अभाव स्वरूप भी है, किन्तु वह ज्ञानस्वरूप आत्मा के संवेदनरूप है (६-७)।

ध्यानस्तव का यह कथन मूलतः तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक से प्रभावित रहा है[2]। साथ ही वह तत्त्वानुशासन के निम्न श्लोकों से भी प्रभावित है।

चिन्ताभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्यादृशामिव।
दृग्बोध-साम्यरूपस्य स्वस्य संवेदनं हि सः।। १६०।।
स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः।
[3]नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ।।२३४।।

३ ध्यानस्तव में विकल्परूप से पांच प्रकार धर्म के स्वरूप को दिखलाते हुए उससे अनपेत (सम्बद्ध) ध्यान को धर्म्यध्यान कहा गया है (१२-१५)।

यह अभिप्राय तत्त्वानुशासन के इन श्लोकों में निहित है—

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद् ध्यानमभ्यधुः ।।५१।।
आत्मनः परिणामो यो मोहक्षोभविवर्जितः।
स च धर्मोऽनपेतं यत्तस्माद् धर्म्यमित्यपि ।।५२।।
शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः।
तस्माद्वस्तुस्वरूपं हि प्राहुधर्मं महर्षयः ।।५३।।
ततोऽनपेतं यज्ज्ञानं तद् धर्म्यध्यानमिष्यते।
धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः ।।५४।।
यश्चोत्तमक्षमादिः स्याद् धर्मो दशतयः परः।
ततोऽनपेतं यद् ध्यानं तद् वा धर्म्यमितीरितम् ।।५५।।

४ उक्त दोनों ग्रन्थों में निश्चय और व्यवहार नयों का स्वरूप समान रूप में इस प्रकार कहा गया है—

अभिन्नकर्तृ-कर्मादिविषयो निश्चयो नयः।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृ-कर्मादिगोचरः।। तत्त्वा. २९.
अभिन्नकर्तृ-कर्मादिगोचरो निश्चयोऽथवा।
व्यवहारः पुनर्देव ! निर्दिष्टस्तद्विलक्षणः।। ध्या. स्त. ७१.

---

१. देखिये ध्यानस्तव श्लोक ६ का विवेचन, पृ. ५.; यह अभिप्राय तत्त्वानुशासन में भी श्लोक १६० व २३४ के द्वारा प्रगट किया गया है।

२. त. श्लो. ९-२७, ५-६, पृ. ४९८-९९.

३. यह उत्तरार्ध भाग सोमदेव विरचित उपासकाध्ययन (११३) में जैसा का तैसा उपलब्ध होता है।

इसके पूर्व ध्यानस्तव के ७०वें श्लोक में इन दोनों नयों के लक्षण में यह कहा जा चुका है कि जो यथावस्थित द्रव्य और पर्याय का निश्चय कराता है उसे निश्चयनय तथा इससे विपरीत को व्यवहार नय कहा जाता है। अगले श्लोक (७१) में चूंकि उन दोनों नयों का लक्षण प्रकारान्तर से पुनः कहा गया है, इसलिए उसकी सूचना करने के लिए यहां 'अथवा' पद का उपयोग किया गया है, जिसकी कि तत्त्वानुशासन में आवश्यकता नहीं रही।

१३ **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**—ध्यानस्तव के अन्तर्गत १३वें श्लोक में 'उत्तमो वा तितिक्षादिर्वस्तुरूपस्तथापरः' यह निर्देश करते हुए उत्तम क्षमादिरूप दस धर्मों को व वस्तु के स्वरूप को धर्म कहा गया है।

यह अभिप्राय कार्तिकेयानुप्रेक्षा की इस गाथा में निहित है—

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥४७८॥

१४ **द्रव्यसंग्रह**—जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही प्रगट है, मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव (११वीं शती) विरचित द्रव्यसंग्रह में जीवादि छह द्रव्यों की संक्षेप से प्ररूपणा की गई है। उसमें समस्त गाथायें ५८ हैं। उनमें प्रारम्भ की २७ गाथाओं में उक्त छह द्रव्यों की प्ररूपणा करके तत्पश्चात् ११ (२८-३८) गाथाओं में जीव-अजीव आदि नौ पदार्थों की प्ररूपणा की गई है। अन्तिम मोक्ष पदार्थ का विवेचन करते हुए यह कहा गया है कि व्यवहार से उस मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं तथा निश्चय से इन तीनों स्वरूप निज आत्मा है। इस प्रकार प्रसंग पाकर यहां उक्त सम्यग्दर्शनादि तीन का भी विवेचन करते हुए (३९-४६) यह कहा गया है कि निश्चय और व्यवहार के भेद से दो भेद रूप उस मोक्षमार्ग को चूंकि मुनि जन ध्यान के आश्रय से ही प्राप्त करते हैं, अतएव प्रयत्नशील होकर उस ध्यान का अभ्यास करना योग्य है[1] (४७)। इस प्रसंग से यहां आगे ध्यान की भी प्ररूपणा की गई है।

प्रस्तुत ध्यानस्तव में ध्यान की प्ररूपणा करते हुए आगे यह कहा गया है कि हे देव! जो अन्तरात्मा प्रमाण, नय और निक्षेप के आश्रय से नौ पदार्थों, सात तत्त्वों, छह द्रव्यों, पांच अस्तिकायों और शरीर व आत्मा के भेद को यथार्थरूप से जानता है वही आप को देख सकता है—आप का ध्यान करने में समर्थ होता है। इस प्रसंग से जो वहां उक्त पदार्थों आदि का निरूपण किया गया है वह पूर्वोक्त द्रव्यसंग्रह से काफी प्रभावित है। यथा—

१ द्रव्यसंग्रह में व्यवहार और निश्चय नय की अपेक्षा जीव के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि व्यवहार से जिसके इन्द्रिय, बल, आयु और आन-प्राण (श्वासोच्छ्वास) ये चार प्राण पाये जाते हैं वह जीव कहलाता है तथा निश्चय नय की अपेक्षा जिसके चेतना पायी जाती है उसे जीव कहा जाता है[2]।

ध्यानस्तव में जीव का लक्षण प्रथमतः पदार्थप्ररूपणा के प्रसंग में और तत्पश्चात् द्रव्यप्ररूपणा के प्रसंग में निर्दिष्ट किया गया है। पदार्थ के प्रकरण में जो उसका चेतना यह लक्षण निर्दिष्ट किया गया है[3] वह द्रव्यसंग्रह के अनुसार निश्चय नयाश्रित लक्षण है तथा द्रव्य के प्रकरण में जो उसका 'प्राणधारण संयुक्त' यह लक्षण निर्दिष्ट किया गया है वह द्रव्यसंग्रह के अनुसार उसका व्यवहार नयाश्रित लक्षण है[4]।

---

१. तत्त्वानुशासन में भी यही अभिप्राय व्यक्त किया गया है। दोनों की समानता दर्शनीय है—
स च मुक्तिहेतुरिष्टो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यम् ॥ तत्त्वानु. ३३.
दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ द्र. सं. ४७.

२. द्रव्यसंग्रह ३. ३. ध्यानस्तव ४१. ४. ध्यानस्तव ५९.

२ द्रव्यसंग्रह में उपयोगस्वरूप जीव के लक्षण में समाविष्ट चेतना को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि व्यवहार नय की अपेक्षा आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन यह जीव का सामान्य लक्षण है, किन्तु निश्चय की अपेक्षा इस भेदकल्पना से रहित शुद्ध ज्ञान व दर्शन ही जीव का लक्षण है[1]।

ध्यानस्तव में भी उस चेतना के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह चेतना ज्ञान और दर्शन से अनुगत है। आगे उस ज्ञान के सत्य व असत्य की अपेक्षा आठ (५+३) और दर्शन के चार भेदों का लक्षणनिर्देशपूर्वक व्याख्यान किया गया है[2]।

३ द्रव्यसंग्रह में यथाप्रसंग यह निर्देश किया गया है कि छद्मस्थों के जो ज्ञान होता है वह दर्शन-पूर्वक होता है, परन्तु केवली भगवान् के वे दोनों (ज्ञान-दर्शन) साथ ही होते हैं[3]।

उक्त ज्ञान-दर्शन की पूर्वापरता का उल्लेख ध्यानस्तव में भी उसी प्रकार से किया गया है[4]।

४ द्रव्यसंग्रह में आस्रव का निरूपण करते हुए उसके दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—भावास्रव और द्रव्यास्रव। आत्मा के जिस परिणाम के द्वारा कर्म का आगमन होता है उसे भावास्रव कहते हैं, वह मिथ्यात्व आदि के भेद-प्रभेदों से बत्तीस (५+५+१५+३+४) प्रकार का है। ज्ञानावरणादि कर्मों के योग्य जो पुद्गल द्रव्य का आगमन होता है उसे द्रव्यास्रव कहा जाता है[5]।

लगभग इसी प्रकार का अभिप्राय ध्यानस्तव में भी संक्षेप से इस प्रकार प्रगट किया गया है—जीव के जिस भाव के द्वारा कर्म का आगमन होता है उसे भावास्रव कहते हैं, जो रागादि अनेक भेदों स्वरूप है। योग अथवा द्रव्य कर्मों के आगमन को आस्रव (द्रव्यास्रव) जानना चाहिए[6]।

५ द्रव्यसंग्रह में संवर के दो भेदों का निर्देश करते हुए कर्मास्रव के रोकने के कारणभूत चेतन परिणाम को भावसंवर और कर्मास्रव के रुक जाने पर जो द्रव्य कर्म का निरोध होता है उसे द्रव्यसंवर कहा गया है। आगे यहां भावसंवर के ये भेद कहे गये हैं—व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा और अनेक भेदभूत चारित्र[7]।

ध्यानस्तव में भी यही कहा गया है कि आस्रव का जो निरोध होता है उसे संवर कहते हैं। वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है, जो तप व गुप्तियों आदि के द्वारा सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार वह अनेक प्रकार का है[8]।

६ इसी प्रकार द्रव्यसंग्रह में दो प्रकार की निर्जरा का भी निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि यथाकाल—कर्मस्थितिकाल के अनुसार—अथवा तप के द्वारा जिसका रस (परिणाम) भोगा जा चुका है वह कर्मपुद्गल जिस भाव के द्वारा आत्मा से पृथक् होता है उसका नाम भावनिर्जरा है, तथा कर्म-पुद्गल का जो आत्मा से पृथक् होना है उसका नाम द्रव्यनिर्जरा है। इस प्रकार निर्जरा दो प्रकार की है।

ध्यानस्तव में भी इसी अभिप्राय को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि तप के द्वारा अथवा काल के अनुसार जिसकी शक्ति—फलदानसामर्थ्य—को भोगा जा चुका है वह कर्म जो विनष्ट—आत्मप्रदेशों से पृथक्—होता है उसका नाम निर्जरा है, जो चेतन-अचेतनस्वरूप है—भाव व द्रव्य के भेद से दो प्रकार की है।

उक्त दोनों ग्रन्थों के इन पद्यों में जो शब्द व अर्थ की समानता है वह दर्शनीय है—

जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडवि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा॥ द्र. सं. ३६.

---

१. द्रव्यसंग्रह ६.
२. ध्यानस्तव ४१-४७. (तुलना के लिए द्र. सं. की ४-५ व ४२-४३ गाथायें भी द्रष्टव्य हैं)
३. द्रव्यसंग्रह ४४.
४. ध्यानस्तव ४८.
५. द्रव्यसंग्रह २९-३१.
६. ध्यानस्तव ५२.
७. द्रव्यसंग्रह ३४-३५.
८. ध्यानस्तव ५३.

तपोयथास्वकालाभ्यां कर्म यद् भुक्तशक्तिकम् ।
नश्यत् तन्निर्जराभिख्यं चेतनाचेतनात्मकम् ।। ध्या. स्त. ५४.

७ इसी प्रकार पुण्य, पाप, बन्ध व मोक्ष के स्वरूप का भी कथन उक्त दोनों ग्रन्थों में प्रायः समान रूप से किया गया है[1] ।

उक्त दोनों ग्रन्थों में पदार्थविषयक नौ भेदों के क्रम में अवश्य कुछ विशेषता रही है । द्रव्यसंग्रह में जहां तत्त्वार्थसूत्र[2] के अनुसार जीव व अजीव के भेदभूत आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों को पुण्य और पाप के साथ नौ पदार्थ रूप निर्दिष्ट किया गया है[3] वहां ध्यानस्तव में पंचास्तिकाय[4] व समयसार[5] आदि के अनुसार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इस क्रम से उक्त नौ पदार्थों का निर्देश किया गया है[6] ।

८ द्रव्यसंग्रह के समान ध्यानस्तव में पुण्य और पाप को भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का कहा गया है[7] । ध्यानस्तव में निर्दिष्ट पुण्य-पाप का लक्षण पंचास्तिकाय से भी अधिक समानता रखता है[8] ।

बन्ध व संवर के द्रव्य व भाव रूप इन दो भेदों का निर्देश द्रव्यसंग्रह से पूर्व कुछ अन्य ग्रन्थों में[9] भी किया गया है, पर वह समस्त रूप से जिस प्रकार द्रव्यसंग्रह में पाया जाता है उस प्रकार से वह अन्य ग्रन्थों में नहीं उपलब्ध होता है । इससे यही प्रतीत होता है कि ध्यानस्तवकार ने उक्त सभी आस्रव आदि के उन दो भेदों की प्ररूपणा द्रव्यसंग्रह के आधार से ही की है[10] ।

९ द्रव्यसंग्रह में निश्चय सम्यक्चारित्र के लक्षण का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि सम्यग्ज्ञानी जीव के संसार के कारणभूत आस्रव के नष्ट करने के लिए जो बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध होता है वह सम्यक्चारित्र कहलाता है[11] ।

---

१. द्र. सं.—बन्ध ३२, मोक्ष ३७; ध्या. स्त.—बन्ध ५५, मोक्ष ५६.

२. त. सू. १-४.

३. आसव बंधण संवर णिज्जर-मोक्खा सपुण्ण-पावा जे ।
जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ।। द्र. सं. २८.

४. जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं ।
संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ।। पं. का. १०८.

५. समयसार १५. ६. ध्या. स्त. ४०.

७. द्र. सं. ३८; ध्या. स्त. ५०-५१, ८. पं. का. १३२.

९. जैसे बन्ध के दो भेद—(क) बन्धो द्विविधो द्रव्यबन्धो भावबन्धश्चेति । तत्र द्रव्यबन्धः कर्म-नोकर्म-परिणतः पुद्गलद्रव्यविषयः । तत्कृतः क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः । त. बा. २, १०,२.; (ख) अयमात्मा साकार-निराकारपरिच्छेदात्मकत्वात् परिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजातं येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यत एव । योऽयमुपरागः स खलु स्निग्ध-रूक्षस्थानीयो भावबन्धः । अथ पुनस्तेनैव पौद्गलिकं कर्म बध्यत एव, इत्येष भावबन्धप्रत्ययो द्रव्यबन्धः । प्र. सा. अमृत. वृ. २-८४.; (ग) पं. का. जय. वृ. १०८.; (घ) आचा. सा. ३-३७.
संवर के दो भेद—(क) संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः । तन्निरोधे तत्पूर्वककर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः । स. सि. ९-१.; त. वा. ९, १, ८-९.; (ख) ह. पु. ५८-३००.; (ग) योगसार-प्राभृत ५-२.

१०. तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि आदि अन्य टीकाओं के समान भास्करनन्दी ने स्वयं अपनी सुखबोधा नामक वृत्ति में भी उनकी उस रूप में प्ररूपणा नहीं की है।

११. द्रव्य सं. ४६.

लगभग इसी प्रकार से उसके लक्षण का निर्देश करते हुए ध्यानस्तव में भी यह कहा गया है कि आसक्ति से रहित होकर समीचीन श्रद्धा के धारक (सम्यग्दृष्टि) सम्यग्ज्ञानी जीव के संसार के कारण को नष्ट करने के लिए कर्मादान की कारणभूत क्रियाओं का जो निरोध होता है उसका नाम सम्यक्-चारित्र है[1]।

द्रव्यसंग्रह में ध्यान के प्रसंग में यह कहा गया है कि मुनि जन चूंकि निश्चय व व्यवहार रूप दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग को ध्यान के आश्रय से ही प्राप्त किया करते हैं, इसीलिए प्रयत्नशील होकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए[2]। यह कहते हुए आगे उसके विषय में इतना मात्र निर्देश किया गया है कि यदि विचित्र ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त की स्थिरता अभीष्ट है तो इष्ट व अनिष्ट विषयों में मोह, राग और द्वेष को छोड़ देना चाहिए[3]।

इसमें ध्यान की सिद्धि के लिए जो चित्त की स्थिरता की आवश्यकता प्रगट की गई है वह ध्यान के लक्षण की ज्ञापक है, कारण यह है कि चित्त की स्थिरता का ही नाम तो ध्यान है। साथ ही वहां जो मोह, राग और द्वेष के परित्यागविषयक प्रेरणा की गई है उससे ध्याता के स्वरूप का बोध हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जो इष्ट-अनिष्ट विषयों से राग, द्वेष एवं मोह (आसक्ति) को छोड़ चुका है वही एकाग्रचिन्तानिरोध स्वरूप ध्यान का ध्याता होता है।

यहां मूलग्रन्थकार ने ध्यान के भेद-प्रभेदों का कोई निर्देश नहीं किया। जैसा कि गाथा ४६ में निर्देश किया जा चुका है, मोक्षमार्ग की प्राप्ति का कारणभूत होने से सम्भवतः उन्हें उस ध्यान के प्रशस्त व अप्रशस्त भेद अभीष्ट नहीं रहे हैं। फिर भी टीकाकार श्री ब्रह्मदेव ने गाथा ४८ में उपर्युक्त 'विचित्त-झाणप्पसिद्धीए' पद के अन्तर्गत 'विचित्र' शब्द से अनेक प्रकार के ध्यान को ग्रहण करते हुए उसके आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार भेदों के साथ उनमें प्रत्येक के अन्तर्भेदों का भी व्याख्यान किया है[4]। ये भेद-प्रभेद तत्त्वार्थसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों में सुप्रसिद्ध हैं।

तदनुसार ध्यानस्तव में भी यथास्थान उन भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा की गई है[5]।

टीकाकार ब्रह्मदेव ने ध्यान के विशेषणरूप पूर्वोक्त 'विचित्र' शब्द से विकल्परूप में एक श्लोक को उद्धृत करते हुए पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन ध्यान के विविध भेदों की भी सूचना की है[6]।

१५ अमितगति-श्रावकाचार—इसमें सम्यक्त्व के सराग और वीतराग इन दो भेदों के स्वरूप को दिखलाते हुए क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग और शेष दो को सराग कहा गया है। आगे यह निर्देश किया गया है कि जो सम्यक्त्व प्रशम व संवेग आदि से प्रगट होता है उसे सराग सम्यक्त्व कहा जाता है। वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण उपेक्षा है (२, ६५-६६)।

अमितगतिश्रावकाचार के समान ध्यानस्तव (८२-८४) में भी सम्यक्त्व के उक्त दो भेदों का निर्देश करते हुए एक को सरागाश्रित और दूसरे को वीतरागाश्रित बतलाया है। वहां सराग सम्यक्त्व का लक्षण प्रशम-संवेगादि से प्रगट होना और वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण विशुद्धि मात्र—राग-द्वेष के अभावस्वरूप उपेक्षा—कहा गया है[7]। दोनों में कुछ शब्दसाम्य भी इस प्रकार है—

---

१. ध्यानस्तव ९०-९१. २. देखो पीछे पृ. ८० का टिप्पण १.

३. मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥ द्र. सं. ४८.

४. बृहद्द्र. टी. ४८, पृ. १७४-७७. ५. ध्यानस्तव ८-२१.

६. बृहद्द्र. टी. ४८, पृ. १८५; ध्यानस्तव २४-३६.

७. मूल में यह दोनों ग्रन्थों का कथन सर्वार्थसिद्धि व तत्त्वार्थवार्तिक पर आधारित है। यथा—**तद् द्विविधं सराग-वीतरागविषयभेदात्। प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। आत्म-विशुद्धिमात्रमितरत्।** स. सि. १-२; त. वा. १, २, २९-३१.

संवेग-प्रशमास्तिक्य-कारुण्यव्यक्तलक्षणम् ।
सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षालक्षणं परम् ।। अ. श्रा. २-६६.
प्रशमादथ संवेगात् कृपातोऽप्यास्तिकत्वतः ।
जीवस्य व्यक्तिमायाति तत् सरागस्य दर्शनम् ।। ध्या. स्त. ८३.
पुंसो विशुद्धिमात्रं तु वीतरागाश्रयं मतम् ।। ८४ पूर्वार्ध

दोनों ग्रन्थों में धर्म, अधर्म और एक जीव के प्रदेशों की संख्या इस प्रकार निर्दिष्ट की गई है—

धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयाः प्रदेशकाः ।
अनन्तानन्तमानास्ते पुद्गलानामुदाहृताः ।। अ. श्रा. ३-३२.
धर्माधर्मैकजीवानां संख्यातीतप्रदेशता ।
व्योम्नोऽनन्तप्रदेशत्वं पुद्गलानां त्रिधा तथा ।। ध्या. स्त. ६७.

दोनों ग्रन्थों में द्रव्यसंवर और भावसंवर का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

आस्रावस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते ।
भाव-द्रव्यविकल्पेन द्विविधः कृतसंवरैः ।। अ. श्रा. ३-५९.
आस्रवस्य निरोधो यो द्रव्य-भावाभिधात्मकः ।
तपोगुप्त्यादिभिः साध्यो नैकधा संवरो हि सः ।। ध्या. स्त ५३.

अमितगति-श्रावकाचार के ३-३८, ३-५४, ३-६३ और १५-१७ इन श्लोकों का भी क्रम से ध्यानस्तव के ५२, ५५, ५४ और १३-१६ इन श्लोकों से मिलान किया जा सकता है ।

अमितगति-श्रावकाचार में जिन पदस्थ व पिण्डस्थ आदि ध्यानविशेषों का वर्णन किया गया है उनका वर्णन ध्यानस्तव में भी किया है । यथा—

ध्यान	श्रा. श्रा.	ध्यानस्तव
पदस्थ	१५, ३१-४९	२९
पिण्डस्थ	१५, ५०-५३	२५-२८
रूपस्थ	१५-५४	३०-३१
रूपातीत	१५, ५५-५६	३२-३६

दोनों में शब्दार्थ की समानता—

अ. श्रा. १५-५० पू.—अनन्तदर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्यैरलङ्कृतम् ।
ध्यास्तव २७—विश्वज्ञं विश्वदृश्वानं नित्यानन्तसुखं विभुम् ।
अनन्तवीर्यसंयुक्तं स्वदेहस्थमभेदतः ।।
अ. श्रा. १५-५० उ.—प्रातिहार्याष्टकोपेतं; ध्या. श. २६—प्रातिहार्यसमन्वितम् ।
अ. श्रा. १५-५१ पू.—शुद्धस्फटिकसंकाशशरीरमुरुतेजसम् ।
ध्यानस्तव २५ पू.—स्वच्छस्फटिकसंकाशव्यक्तादित्यादितेजसम् ।
अ. श्रा. १५-५२—विचित्रातिशयाधारं ××× (पू.) ।
ध्यानस्तव २६—सर्वातिशयसम्पूर्णं ××× (पू.)
अ. श्रा. १५-५४—प्रतिमायां समारोप्य स्वरूपं परमेष्ठिनः ।
ध्यायतः शुद्धचित्तस्य रूपस्थं ध्यानमिष्यते ।।
ध्यानस्तव ३०—तव नामाक्षरं देव प्रतिबिम्बं च योगिनः ।
ध्यायतो भिन्नमीशेदं ध्यानं रूपस्थमीडितम् ।।

१६ ज्ञानार्णव—आचार्य शुभचन्द्र (वि. की ११वीं शती) विरचित ज्ञानार्णव यह एक ध्यान-विषयक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है । यह सम्भवतः ध्यानस्तवकार के समक्ष रहा है । ज्ञानार्णव में जहां ध्यान का

वर्णन विस्तार से किया गया है वहां ध्यानस्तव में उसका वर्णन बहुत संक्षेप से किया गया है। फिर भी वह अपने आपमें परिपूर्ण है। उसमें ज्ञानार्णव के साथ कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। यथा—

ज्ञानार्णव में बहिरात्मा के स्वरूप को दिखलाते हुए यह कहा गया है कि जो शरीर आदि में आत्म-बुद्धि रखता है उसे बहिरात्मा जानना चाहिए। इस बहिरात्मस्वरूप को छोड़कर व अन्तरात्मा होकर विशुद्ध व अविनश्वर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। यहां उस अन्तरात्मा के स्वरूप को दिखलाते हुए यह कहा गया है कि जो बाह्य पदार्थों का अतिक्रमण करके आत्मा में ही आत्मा का निश्चय करता है वह अन्तरात्मा कहलाता है[1]।

ध्यानस्तव में भी लगभग इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए यह कहा गया है कि जो जीव शरीर, इन्द्रिय, मन और वचन में ममकार व अहंकार बुद्धि को करता है वह बहिरात्मा कहलाता है और हे भगवन्! वह आपको देख नहीं सकता है—आपका ध्यान करने में असमर्थ रहता है। इसके विपरीत जो शरीर व आत्मा में भेद करता हुआ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न होकर प्रमाण, नय और निक्षेप के आश्रय से नौ पदार्थों, सात तत्त्वों, छह द्रव्यों और पांच अस्तिकायों को यथार्थरूप में जानता है उसे अन्तरात्मा कहते हैं और वह आपको देख सकता है—परमात्मा के ध्यान में समर्थ होता है[2]।

ध्यानस्तव में जिन पिण्डस्थ-पदस्थ आदि ध्यानों का संक्षेप से विचार किया गया है उनका वर्णन ज्ञानार्णव[3] में काफी विस्तार से किया गया है[4]। दोनों के वर्णन में शब्द व अर्थ से कुछ समानता इस प्रकार देखी जाती है—

'पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्' यह श्लोक का अर्ध भाग समानरूप से दोनों ग्रन्थों में पाया जाता है[5]।

'सर्वातिशयसम्पूर्ण' यह पद समान रूप से ज्ञानार्णव (७८, पृ. ४०१ व २, पृ. ४०९) और ध्यानस्तव (२६) दोनों में देखा जाता है।

ज्ञानार्णव (१३, पृ. ४३३) में प्रथम शुक्लध्यान का निर्देश करते हुए यह कहा गया है—**सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते**।

ध्यानस्तव (१७) में भी उसका निर्देश इस प्रकार किया गया है—**सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम्**।

---

१. ज्ञाना. श्लोक ६, ७ व १०, पृ. ३१७-१८.

२. ध्यानस्तव ३७-३९. (श्लोक ३९ में उपयुक्त 'प्रमाण-नय-निक्षेपैः' पद ज्ञानार्णव के श्लोक ८ (पृ. ३३८) में भी उसी प्रकार पाया जाता है।

३. ज्ञानार्णव के अतिरिक्त इन चारों ध्यानों का वर्णन अन्य भी कितने ही ग्रन्थों में किया गया है (देखिये पीछे प्रस्तावना पृ. १८-२५)।

४. पृ. ३८१-४२३. (इन चारों ध्यानों का विस्तार से निरूपण योगशास्त्र के सातवें, आठवें, नौवें और दसवें इन चार प्रकाशों में भी किया गया है; पर वह ज्ञानार्णव से सर्वथा समान है।)

५. ज्ञाना. १, पृ. ३८१ (पूर्वार्ध); ध्यानस्तव २४ (उत्त.).

विषयानुक्रमणिका

(ध्यानशतक)

विषय	गाथांक
वीर को प्रणाम कर ध्यानाध्ययन के कहने की प्रतिज्ञा	१
ध्यान का लक्षण	२
ध्यान का काल व स्वामी	३
ध्यानकाल के समाप्त होने पर तत्पश्चात् छद्मस्थों के क्या होता है, इसका स्पष्टीकरण	४
ध्यान के भेद व उनका फल	५
आर्तध्यान के चार भेद व उनका स्वरूप	६-९
यह चार प्रकार का आर्तध्यान कैसे जीव के होता है और उसका क्या परिणाम होता है, इसका स्पष्टीकरण	१०
मुनि के आर्तध्यान की सम्भावना व उसका निराकरण	११-१२
आर्तध्यान संसार का कारण क्यों है ?	१३
आर्तध्यान में सम्भव लेश्याओं का निर्देश	१४
आर्तध्यान के परिचायक लिंग	१५-१७
आर्तध्यान के स्वामी	१८
चार भेदों में विभक्त रौद्रध्यान का स्वरूप	१९-२२
रौद्रध्यान के स्वामियों का निर्देश	२३
यह रौद्रध्यान कैसे जीव के होता है व उसका क्या परिणाम होता है, इसका निर्देश	२४
रौद्रध्यान में सम्भव लेश्याओं का निर्देश	२५
रौद्रध्यान के अनुमापक लिंग	२६-२७
धर्मध्यान की प्ररूपणा में द्वारों का निर्देश	२८-२९
धर्मध्यान में उपयोगी चार भावनाओं के निर्देशपूर्वक उनका स्वरूप	३०-३४
धर्मध्यान के योग्य देश	३५-३७
धर्मध्यान के योग्य काल	३८
धर्मध्यान के योग्य आसन	३९
धर्मध्यान में देश, काल व आसन की अनियमितता दिखलाते हुए योगों के समाधान की अनिवार्यता	४०-४१
धर्मध्यान के आलम्बन	४२-४३
धर्मध्यान व शुक्लध्यान के क्रम का निरूपण	४४
धर्मध्यानगत ध्यातव्य (ध्येय) के चार भेदों का निर्देश कर उनमें जिनाज्ञा की विशेषता प्रगट करते हुए तद्विषयक श्रद्धान का कारण	४५-४९
ध्यातव्य के दूसरे भेदभूत अपाय का स्वरूप	५०
ध्यातव्य के तीसरे भेदभूत विपाक का स्वरूप	५१
ध्यातव्य के चौथे भेद में द्रव्यों के लक्षण, संस्थान व आसन आदि के साथ लोक के स्वरूप एवं तद्गत भूमियों और वातवलयों आदि का निर्देश	५२-५४
इसी प्रसंग में जीव के स्वरूप को दिखलाते हुए उसके संसारपरिभ्रमण के कारण के निर्देशपूर्वक उससे पार होने का उपाय	५५-६०
मोक्षसुख का स्वरूप	६१
धर्मध्यान के प्रकृत ध्यातव्य का उपसंहार	६२
धर्मध्यान के ध्याता	६३
चार प्रकार के शुक्लध्यान के ध्याता	६४
धर्मध्यान के समाप्त होने पर चिन्तनीय अनित्यादि भावनाओं का निर्देश	६५

धर्मध्यान में सम्भव लेश्याओं का निर्देश ६६
धर्मध्यान के अनुमापक हेतु ६७-६८
शुक्लध्यान के आलम्बन ६९
धर्मध्यानगत क्रम की अपेक्षा शुक्लध्यानगत क्रम की विशेषता ७०
शुक्लध्यान के इस प्रसंग में मनोयोग-निरोध के क्रम की प्ररूपणा ७१-७५
वचन व काय का निरोध ७६
शुक्लध्यान के प्रसंग में ध्याता का निरूपण-करते हुए उसके चार भेदों का स्वरूप ७७-८२
योगाश्रित शुक्लध्यान के चार भेदों के स्वामियों का निर्देश ८३
केवली के मन का अभाव हो जाने पर भी शुक्लध्यान की सम्भावना ८४-८६
शुक्लध्यान के समाप्त होने पर चिन्तनीय चार अनुप्रेक्षाओं का निर्देश ८७-८८
शुक्लध्यान में सम्भव लेश्या ८९
शुक्लध्यान के अनुमापक लिंगों का निर्देश करते हुए उनका स्वरूप ९०-९२
धर्मध्यान और शुक्लध्यान का फल ९३-९५
ध्यान मोक्ष का हेतु है, इसका अनेक दृष्टान्तों द्वारा स्पष्टीकरण ९६-१०२
ध्यान का ऐहलौकिक फल १०२-४
ध्यान का उपसंहार १०५

(ध्यानस्तव)

विषय	श्लोक संख्या
आत्मसिद्धि के निमित्त परमात्मा की स्तुति	१-२
सिद्धि का स्वरूप	३-४
ज्ञानस्वरूप आत्मा के प्रतिभास विना ध्यान सम्भव नहीं	५
ध्यान के स्वरूप का निर्देश करते हुए वह अध्यात्मवेदी के होता है, इसका स्पष्टीकरण	६-७
ध्यान के चार भेदों का निर्देश करते हुए आर्त-रौद्र की संसारहेतुता व धर्म-शुक्ल की मोक्षहेतुता का निर्देश	८
आर्तध्यान के चार भेद व उनके स्वामी	९-१०
चार भेद स्वरूप रौद्रध्यान का स्वामित्व	११
धर्म के स्वरूप को दिखलाते हुए उससे अन-पेत धर्म्यध्यान के चार भेदों का निर्देश व स्वामित्व	१२-१३
शुक्लध्यान के स्वरूप को प्रगट करते हुए उसके चार भेद व स्वामित्व	१६-२१
मोह के क्षीण हो जाने पर सर्वज्ञ के ध्यान कैसे सम्भव है, इसका स्पष्टीकरण	२२-२३
ध्यान के अन्य चार भेद	२४
पिण्डस्थ ध्यान का स्वरूप	२५-२८
पदस्थ ध्यान का स्वरूप	२९
रूपस्थ ध्यान का स्वरूप	३०-३१
रूपातीत ध्यान का स्वरूप	३२-३६
बहिरात्मा के देवदर्शन की असम्भावना	३७
अन्तरात्मा के देवदर्शनविषयक सामर्थ्य	३८-३९
नौ पदार्थों का निर्देश	४०
जीव का लक्षण चेतना बतलाते हुए उस चेतना का स्वरूप	४१-४२
स्वरूपनिर्देशपूर्वक ज्ञान के आठ भेद व उनका स्वामित्व	४३-४५
दर्शन का स्वरूप व उसके भेद	४६-४७
ज्ञान-दर्शन क्रम से होते हैं या साथ, इसका स्पष्टीकरण	४८
अजीव का लक्षण	४९
पुण्य के दो भेद व उनका स्वरूप	५०
पाप के दो भेद व उनका स्वरूप	५१
आस्रव का स्वरूप	५२
संवर का स्वरूप व भेद	५३
निर्जरा का स्वरूप	५४
बन्ध का स्वरूप	५५
मोक्ष का स्वरूप	५६
सात तत्त्वों की सूचना	५७
छह द्रव्यों का निर्देश	५८

जीव द्रव्य का स्वरूप	५९
पुद्गलों का स्वरूप	६०-६१
जीवों व पुद्गलों की सक्रियता का निर्देश करते हुए धर्म-अधर्म द्रव्यों का स्वरूप	६२
आकाश का स्वरूप	६३
काल का स्वरूप	६४
छह द्रव्यों में अस्तिकाय व अनस्तिकाय कौन हैं, इसका निर्देश	६५-६६
द्रव्यों की प्रदेशसंख्या	६७
प्रमाण का स्वरूप व भेद	६८
नय का स्वरूप व उसके भेद	६९-७२
निक्षेप का स्वरूप व उसके भेद	७३-७६
मोक्षमार्ग का स्वरूप	७७
सम्यग्दर्शन का स्वरूप व उसके भेद	७८-८८
सम्यग्ज्ञान का स्वरूप	८९
सम्यक्चारित्र का स्वरूप	९०-९१
श्रद्धानादि तीन समस्तरूप में ही मोक्ष के कारण हैं, इसके लिए औषधि का दृष्टान्त	९२
स्तुतिविषयक अपनी असमर्थता को व्यक्त करते हुए ग्रन्थकार द्वारा उसके करने के कारण का निर्देश	९३-९७
इस स्तुति के विषय में स्खलित होने पर ग्रन्थकार की विद्वानों द्वारा उसके संशोधनविषयक प्रेरणा	९८
अन्तिम प्रशस्ति	९९-१००

—: ० :—

शुद्धि पत्र

(ध्यानशतक)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	३	गुर्णद्धय:	गुणर्द्धय:
,,	६	उपजायते—	उपजायते ।
९	१४	लेश्यापेक्षय:	लेश्यापेक्षया
१०	१०	निजकृानि	निजकृतानि
१३	९	-यत्यात्मानमिति	-यन्त्यात्मानमिति
१६	८	तयोच्यते	तथोच्यते
,,	१५	परपाषण्ड	परपाषण्ड
१९	७	-द्यपद्रव	द्युपद्रव
२०	५	ज्इयर	जूइयर
२०	८	गंणाधरै-	गंणधरै-
२२	५	गणधैरर्नै-	गणधरैर्नै-
,,	११	थित:	स्थित:
२२	२०	मन:पर्याज्ञानादि	मन:पर्यायज्ञानादि
२३	८	सद्धर्माविश्यक-नि	सद्धर्माविश्यकानि
,,	१५	सम्यग परिक्ले-	सम्यगपरिक्ले-
२६	२४	सूत्रार्थां-व	सूत्रार्थाव
२९	१७	भंगाइ पज्जवा	भंगाइपज्जवा
४१	१०	सेलेसिका	सेलेसिका-
५०	१६-१७	विरेकौ(चौ-)षध	विरेकौ[चकौ]षध

(ध्यानस्तव)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	२३	है। वह चार प्रकार का है, जो	है, जो
,,	२५	होता है ।।	होता है। वह चार प्रकार का है ।।
९	५	है तो कभी	है और कभी
,,	३४	निर्वृत्ति	निवृत्ति
१०	३	सकती	सकता
,,	७	भूल	भूत
१२	१७	चेतना लक्षणस्तत्र	चेतनालक्षणस्तत्र
१३	७	इन्द्रिय से आश्रय	इन्द्रिय के आश्रय

श्लोक ३१ में 'देवं सदेहमर्हन्तं' इस सम्भावित पाठ के अनुसार उसका अनुवाद इस प्रकार होगा—

अथवा हे देव ! जो शुद्ध, धवल, अपने से भिन्न और प्रातिहार्यादि से विभूषित सदेह—परमौदारिक शरीर से सहित—अरहन्त का ध्यान करता है उसके रूपस्थध्यान होता है ।

———

श्रीमद्धरिभद्रसूरि-विरचित-वृत्त्या समन्वितं

ध्यानशतकम्

(ध्यानाध्ययनापरनामधेयम्)

ध्यानशतकस्य च महार्थत्वाद्वस्तुतः शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमाह—

वीरं सुक्कज्झाणग्गिदड्ढकम्मिंधण पणमिऊणं ।
जोईसरं सरण्णं झाणज्झयणं पवक्खामि ।। १ ।।

वीरं शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धनं प्रणम्य ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीति योगः, तत्र 'ईर गति-प्रेरणयोः' इत्यस्य विपूर्वस्याजन्तस्य विशेषेण ईरयति कर्म गमयति याति वेह शिवमिति वीरस्तं वीरम्, किंविशिष्टं तमित्यत आह—शुचं क्लमयतीति शुक्लम्, शोकं ग्लपयतीत्यर्थः, ध्यायते—चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति ध्यानम्, एकाग्रचित्तनिरोध इत्यर्थः, शुक्लं च तद् ध्यानं च तदेव कर्मेन्धनदहनादग्निः शुक्लध्यानाग्निः, तथा मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगैः क्रियते इति कर्म—ज्ञानावरणीयादि, तदेवातितीव्रदुःखानलनिबन्धनत्वादिन्धनं कर्मेन्धनम्, ततश्च शुक्लध्यानाग्निना दग्धं—स्व-स्वभावापनयनेन भस्मीकृतं कर्मेन्धनं येन स तथाविधस्तम्, 'प्रणम्य' प्रकर्षेण मनोवाक्काययोगैर्नत्वेत्यर्थः, समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा-प्रत्ययविधानात्, ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीति योगः, तत्राधीयत इत्यध्ययनम्, 'कर्मणि ल्युट्' पठ्यत इत्यर्थः, ध्यानप्रतिपादकमध्ययनं २, तद् याथात्म्यमङ्गीकृत्य प्रकर्षेण वक्ष्ये—अभिधास्ये इति, किंविशिष्टं वीरं प्रणम्येत्यत आह—'योगेश्वरं योगीश्वरं वा' तत्र युज्यन्ते इति योगाः—मनोवाक्कायव्यापारलक्षणाः, तैरीश्वरः—प्रधानस्तम्, तथाहि—अनुत्तरा एव भगवतो मनोवाक्कायव्यापारा इति, यथोक्तम्—'दव्वमणोजोएणं मणणाणीणं अणुत्तराणं च । संसयवोच्छित्ति केवलेण नाऊण सइ कुणइ ।।१।। रिभियपयक्खरसरला मिच्छितरतिरिच्छसगिरपरिणामा । मणणिव्वाणी वाणी जोयणनिहारिणी जं च ।।२।। एक्का य अणेगेसिं संसयवोच्छेयणे अपडिभूया । न य णिव्विज्जइ सोया

मैं शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा कर्मरूप ईंधन के जला देने वाले योगीश्वर व शरणभूत वीर को नमस्कार करके ध्यानाध्ययन को कहूंगा ।।

विवेचन—यहां ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम वीर को नमस्कार करके प्रकृत ध्यानाध्ययन—ध्यान के प्ररूपक इस ध्यानशतक ग्रन्थ—के रचने की प्रतिज्ञा की है । 'वीर' से यहाँ अन्तिम तीर्थंकर महावीर जिन की अथवा ज्ञानावरणादिरूप समस्त कर्म को नष्ट करके मुक्ति को प्राप्त कर लेने वाले परमात्मा की विवक्षा रही है । उस वीर की विशेषता यहां शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धन, योगेश्वर अथवा योगीश्वर और शरण्य इन तीन विशेषणों के द्वारा प्रगट की गई है—

१. शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धन—'शुचं क्लमयतीति शुक्लम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो ध्यान शोक आदि दोषों को दूर करने वाला है वह शुक्लध्यान कहलाता है । 'क्रियते इति कर्म' इस निरुक्ति के अनुसार जो मिथ्यादर्शन व अविरति आदि के द्वारा किया जाता है—बांधा जाता है—ऐसे ज्ञानावरणादिरूपता को प्राप्त पुद्गलपिण्ड को कर्म कहा जाता है । वह दुःखरूप अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए

तिप्पइ सव्वाउएणंपि ॥३॥ सव्वसुरेहिंतोवि हु अहिगो कंतो य कायजोगो से। तहवि य पसंतरूवे कुणइ सया पाणिसंघाए ॥४॥ इत्यादि, युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानादिना आत्मेति योगः—धर्म-शुक्लध्यानलक्षणः, स येषां विद्यत इति योगिनः—साधवस्तैरीश्वरः, तदुपदेशेन तेषां प्रवृत्तेस्तत्सम्बन्धादिति, तेषां वा ईश्वरो योगीश्वरः, ईश्वरः प्रभुः स्वामीत्यनर्थान्तरम्, योगीश्वरम्, अथवा योगिस्मर्यं—योगिचिन्त्यं ध्येयमित्यर्थः, पुनरपि स एव विशेष्यते—'शरण्यम्', तत्र शरणे साधुः शरण्यस्तम्—रागादिपरिभूताश्रितसत्त्ववत्सलम्, रक्षकमित्यर्थः, ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीत्येतद् व्याख्यातमेव। अत्राऽऽह—यः शुक्लध्यानाग्निना दग्धकर्मेन्धनः स योगेश्वर एव, यश्च योगेश्वरः स शरण्य एवेति गतार्थे विशेषणे, न, अभिप्रायापरिज्ञानात्, इह शुक्लध्यानाग्निना दग्धकर्मेन्धनः सामान्यकेवल्यपि भवति, न त्वसौ योगेश्वरः, वाक्कायातिशयाभावात्, स एव च तत्त्वतः शरण्य इति ज्ञापनार्थमेवादुष्टमेतदपि, तथा चोभयपदव्यभिचारेऽज्ञातज्ञापनार्थं च शास्त्रे विशेषणाभिधानमनुज्ञातमेव पूर्वमुनिभिरित्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ १ ॥ साम्प्रतं ध्यानलक्षणप्रतिपादनायाऽऽह—

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥२॥

'यद्' इत्युद्देशः स्थिरम्—निश्चलम्, अध्यवसानम्—मन एकाग्रतालम्बनमित्यर्थः, 'तद्' इति निर्देशे, 'ध्यानम्' प्राग्निरूपितशब्दार्थम्, ततश्चैतदुक्तं भवति—यत् स्थिरमध्यवसानं तद् ध्यानमभिधीयते, 'यच्चलम्' इति यत् पुनरनवस्थितं तच्चित्तम्, तच्चौघतस्त्रिधा भवतीति दर्शयति—'तद्भवेद्भावना वा' इति तच्चित्तं भवेद्भावना—भाव्यत इति भावना ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थः, वा विभाषायाम्, 'अनुप्रेक्षा वा' इति अनु—पश्चाद्भावे प्रेक्षणं प्रेक्षा, सा च स्मृतिध्यानाद् भ्रष्टस्य चित्तचेष्टेत्यर्थः, वा पूर्ववत् 'अथवा चिन्ता' इति अथवा—शब्दः प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थः चिन्तेति या खलूक्तप्रकारद्वयरहिता चिन्ता मनश्चेष्टा सा चिन्तेति

ईंधन का काम करता है। इस कर्मरूप ईंधन को उक्त वीर प्रभु ने शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा भस्मसात् कर दिया है, अतएव उन्हें शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धन कहा गया है।

२. योगेश्वर या योगीश्वर—योग का अर्थ है मन, वचन व काय का व्यापार। वह मनोयोग, वचनयोग और काययोग के भेद से तीन प्रकार का है। ये तीनों योग चूंकि वीर भगवान् के अनुत्तर (असाधारण) थे, अतएव उन्हें योगेश्वर—योगों के द्वारा प्रभुता को प्राप्त—कहा गया है। मूल गाथा में 'जोईसर' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका संस्कृत रूप 'योगेश्वर' के समान 'योगीश्वर' भी होता है—जिसके आश्रय से आत्मा केवलज्ञानादि से युक्त होता है उसका नाम योग (ध्यान) है, जो शुक्लध्यान स्वरूप है। ऐसे योग से युक्त योगियों—मुनियों—के आश्रय से उक्त वीर भगवान् प्रभुता को प्राप्त थे या उनके प्रभु थे, इसीलिए वे योगीश्वर थे। उक्त 'जोईसर' शब्द का तीसरा संस्कृत रूप 'योगिस्मर्य' भी हो सकता है। तदनुसार वे योगी जनों के द्वारा स्मर्य—उनके ध्यान के विषय थे।

३. शरण्य—राग-द्वेषादि से पराभूत जीवों के रक्षक होने से—अपने दिव्य उपदेश के द्वारा उक्त राग-द्वेषादि से उन्हें मुक्त कराने के कारण—तीसरा विशेषण 'शरण्य' भी दिया गया है ॥१॥

आगे ध्यान का लक्षण कहा जाता है—

जो स्थिर अध्यवसान—एकाग्रता को प्राप्त मन है—उसका नाम ध्यान है। इसके विपरीत जो चंचल (अस्थिर) चित्त है उसे सामान्य से भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है। इस तरह वह तीन प्रकार का है ॥

विवेचन—यद्यपि सामान्य से भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता में भेद नहीं है; पर विशेष रूप में वे तीनों भिन्न भी हैं—भावना से ध्यानाभ्यास की क्रिया अभिप्रेत है। अनु अर्थात् पश्चाद्भाव में जो प्रेक्षण है उसका नाम अनुप्रेक्षा है, अभिप्राय उसका यह है कि स्मृतिरूप ध्यान से भ्रष्ट होने पर जीव के चित्त की जो चेष्टा होती है उसे अनुप्रेक्षा समझना चाहिए। उक्त भावना और अनुप्रेक्षा इन दोनों से रहित जो मन की प्रवृत्ति होती है उसे चिन्ता कहा जाता है ॥२॥

गाथार्थः ॥२॥ इत्थं ध्यानलक्षणमोघतोऽभिधायाधुना ध्यानमेव काल-स्वामिभ्यां निरूपयन्नाह—

अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुंमि ।
छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥३॥

इह मुहूर्तः सप्तसप्ततिलवप्रमाणः कालविशेषो भण्यते, उक्तं च—कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो तं तु जाण समयं तु । समया य असंखेज्जा भवंति ऊसास-नीसासा ॥१॥ हट्ठस्स अणवगल्लस्स णिरुवकिट्ठस्स जंतुणो । एगे ऊसास-नीसासे एस पाणुत्ति वुच्चइ ॥२॥ सत्त पाणूणि से थोवे सत्त थोवाणि से लवे । लवाणं सत्तहत्तरीए एस मुहुत्ते वियाहिए ॥३॥ अन्तर्मध्यकरणे, ततश्चान्तर्मुहूर्तमात्रं कालमिति गम्यते, मात्रशब्दस्तदधिककालव्यवच्छेदार्थः, ततश्च भिन्नमुहूर्तमेव कालम् । किम् ? 'चित्तावस्थानम्' इति चित्तस्य मनसः अवस्थानं चित्तावस्थानम्, अवस्थितिः अवस्थानम्, निष्प्रकम्पतया वृत्तिरित्यर्थः । क्व ? 'एकवस्तुनि' एकम् अद्वितीयम्, वसन्त्यस्मिन् गुण-पर्याया इति वस्तु चेतनादि, एकं च तद्वस्तु एकवस्तु, तस्मिन् २, 'छद्मस्थानां ध्यानम्' इति, तत्र छादयतीति छद्म पिधानम्, तच्च ज्ञानादीनां गुणानामावारकत्वाज्ज्ञानावरणादिलक्षणं घातिकर्म, छद्मनि स्थिताश्छद्मस्था अकेवलिन इत्यर्थः, तेषां छद्मस्थानाम्, 'ध्यानं' प्राग्वत्, ततश्चायं समुदायार्थः—अन्तर्मुहूर्तकालं यच्चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि तच्छद्मस्थानां ध्यानमिति, 'योगनिरोधो जिनानां तु' इति, तत्र योगाः—तत्त्वत औदारिकादिशरीरसंयोगसमुत्था आत्मपरिणामविशेषव्यापारा एव, यथोक्तम्—औदारिकादिशरीरयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, तथौदारिक-वैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः, तथौदारिक-वैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोगः इति, अमीषां निरोधो योगनिरोधः, निरोधनं निरोधः, प्रलयकरणमित्यर्थः, केषाम् ? 'जिनानां' केवलिनाम्, तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, योगनिरोध एव न तु चित्तावस्थानम्, चित्तस्यैवाभावात्, अथवा योगनिरोधो जिनानामेव ध्यानं नान्येषाम्, अशक्यत्वादित्यलं विस्तरेण, यथा चायं योगनिरोधो जिनानां ध्यानं यावन्तं च कालमेतद्भवत्येतदुपरिष्टाद्वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥३॥ साम्प्रतं छद्मस्थानामन्तर्मुहूर्तात् परतो यद्भवति तदुपदर्शयन्नाह—

अब इस ध्यान के काल और स्वामी का निरूपण करते हैं—

अन्तर्मुहूर्त काल तक जो एक वस्तु में चित्त का अवस्थान है वह छद्मस्थों का ध्यान है तथा योगों का जो निरोध है—उनका जो विनाश है—वह जिनों (केवलियों) का ध्यान है ॥

विवेचन—एक वस्तु में जो स्थिरतापूर्वक चित्त का अवस्थान होता है, इसका नाम ध्यान है । इस प्रकार का ध्यान छद्मस्थों के होता है और वह उनके अन्तर्मुहूर्त काल तक ही सम्भव है—इससे अधिक काल तक उसका रहना सम्भव नहीं है । 'वसन्ति अस्मिन् गुण-पर्यायाः इति वस्तु' इस निरुक्ति के अनुसार जिसमें गुण और पर्यायें रहती हैं वह वस्तु (जीव आदि) कहलाती है । 'छादयतीति छद्म' अर्थात् जो आत्मा के ज्ञानादि गुणों को आच्छादित करता है उसे छद्म कहा जाता है, जो ज्ञानावरणादि घाति कर्मस्वरूप है । इस प्रकार के छद्म में जो स्थित हैं, अर्थात् जिनके ज्ञानावरणादि चार घाति कर्म उदय में वर्तमान हैं, वे छद्मस्थ—केवली से भिन्न अल्पज्ञानी—कहलाते हैं । एक वस्तु में चित्त की एकाग्रतारूप पूर्वोक्त ध्यान इन छद्मस्थ जीवों के ही होता है—केवलियों के वह सम्भव नहीं है, क्योंकि, उनके चित का अभाव हो चुका है । केवली के जो क्रम से योगों का निरोध होता है—उनका अभाव होता है, यही उनका ध्यान है । इस प्रकार का वह ध्यान उक्त केवली के ही सम्भव है—छद्मस्थ के नहीं । औदारिक आदि शरीरों के सम्बन्ध से जो जीव का व्यापार होता है उसका नाम योग है । वह मन, वचन और काय के भेद से तीन प्रकार का है । इनके निरोध के क्रम की प्ररूपणा आगे (गा. ७०–७६) ग्रन्थकार द्वारा स्वयं की गई है ॥३॥

छद्मस्थों के अन्तर्मुहूर्त काल तक ही ध्यान होता है, यह कहा जा चुका है । इसके पश्चात् उनके क्या होता है, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

अंतोमुहुत्तपरओ चिंता झाणंतरं व होज्जाहि ।
सुचिरंपि होज्ज बहुवत्थुसंकमे झाणसंताणो ।।४।।

'अन्तर्मुहूर्तात् परतः' इति भिन्नमुहूर्तादूर्ध्वम्, 'चिन्ता' प्रागुक्तस्वरूपा तथा 'ध्यानान्तरं वा भवेत्' तत्रेह न ध्यानादन्यद् ध्यानं ध्यानान्तरं परिगृह्यते । किं तर्हि ? भावनानुप्रेक्षात्मकं चेत इति, इदं च ध्यानान्तरं तदुत्तरकालभाविनि ध्याने सति भवति, तत्राप्ययमेव न्याय इति कृत्वा ध्यानसन्तानप्राप्तिर्यतः अतस्तमेव कालमानं वस्तुसङ्क्रमद्वारेण निरूपयन्नाह—'सुचिरमपि' प्रभूतमपि, कालमिति गम्यते, भवेत् बहुवस्तुसङ्क्रमे सति 'ध्यानसन्तानः' ध्यानप्रवाह इति, तत्र बहूनि च तानि वस्तूनि बहुवस्तूनि आत्मगत-परगतानि गृह्यन्ते, तत्रात्मगतानि मनःप्रभृतीनि परगतानि द्रव्यादीनीति, तेषु सङ्क्रमः सञ्चरणमिति गाथार्थः ।।४।। इत्थं तावत् सप्रसङ्गं ध्यानस्य सामान्येन लक्षणमुक्तम्, अधुना विशेषलक्षणाभिधित्सया ध्यानोद्देशं विशिष्टफलभावं च संक्षेपतः प्रदर्शयन्नाह—

अट्टं रुद्दं धम्मं सुक्कं झाणाइ तत्थ अंताइं ।
निव्वाणसाहणाइं भवकारणमट्ट-रुद्दाइं ।।५।।

आर्तं रौद्रं धर्म्यं शुक्लम्, तत्र ऋतं दुःखम्, तन्निमित्तो दृढाध्यवसायः, ऋते भवमार्तं क्लिष्टमित्यर्थः, हिंसाद्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रम्, श्रुत-चरणधर्मानुगतं धर्म्यम्, शोधयत्यष्टप्रकारं कर्म-मलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्, अमूनि ध्यानानि वर्तन्ते, अधुना फलहेतुत्वमुपदर्शयति—'तत्र' ध्यानचतुष्टये 'अन्त्ये' चरमे सूत्रक्रमप्रामाण्याद्धर्म-शुक्ले इत्यर्थः, किम् ? 'निर्वाणसाधने' इह निर्वृतिः निर्वाणं सामान्येन सुखमभिधीयते, तस्य साधने—कारणे इत्यर्थः, ततश्च—आर्तेण तिरिक्खगई रुद्दज्झाणेण गम्मती नरयं । धम्मेण देवलोयं सिद्धिगई सुक्कझाणेणं ।।१।। इति यदुक्तं तदपि न विरुद्धयते, देवगति-सिद्धिगत्योः सामान्येन सुखसिद्धेरिति, अथापि निर्वाणं

अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् उनके चिन्ता अथवा ध्यानान्तर होता है । आत्म-परगत बहुत वस्तुओं में संक्रमण (संचार) के होने पर उस ध्यान की परम्परा दीर्घ काल तक चल सकती है ।।

विवेचन—यहां अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् छद्मस्थ जीवों के जो ध्यानान्तर का निर्देश किया गया है उससे ध्यान से भिन्न अन्य ध्यान को नहीं ग्रहण करना चाहिए, किन्तु भावना व अनुप्रेक्षा स्वरूप चित्त को ग्रहण करना चाहिए । वह ध्यानान्तर भी तभी होता है जब कि उसके पश्चात् ध्यान होने वाला हो । यही क्रम आगे भी समझना चाहिए । इस प्रकार से ध्यान का प्रवाह आत्म-परगत बहुत वस्तुओं में संचार के होने से दीर्घ काल तक चल सकता है । यहां आत्मगत से अन्तरंग मन आदि की तथा परगत से बहिरंग द्रव्यादिक की विवक्षा रही है ।।४।।

इस प्रकार सामान्य से ध्यान का लक्षण कहकर अब आगे उसके भेद और उनके फल का निर्देश करते हैं—

आर्त, रौद्र, धर्म या धर्म्य और शुक्ल ये उस ध्यान के चार भेद हैं । इनमें अन्त के दो ध्यान—धर्म्य और शुक्ल—निर्वाण के साधक हैं तथा आर्त और रौद्र ये दो ध्यान संसार के कारण हैं ।।

विवेचन—'ऋते भवम् आर्तम्' इस निरुक्ति के अनुसार दुख में होने वाली संक्लिष्ट परिणति का नाम आर्तध्यान है । हिंसादि रूप अतिशय क्रूरतायुक्त चिन्तन को रौद्रध्यान कहते हैं । श्रुत और चारित्ररूप धर्म से युक्त ध्यान धर्म्यध्यान कहलाता है । 'शोधयति अष्टप्रकारं कर्म-मलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो ध्यान ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मरूप मल को दूर करता है अथवा शोक को नष्ट करता है उसे शुक्लध्यान कहा जाता है । यहां उक्त चार ध्यानों में से धर्म और शुक्ल को जो निर्वाण का कारण तथा आर्त और रौद्र को संसार का कारण कहा गया है इसे सामान्य कथन समझना चाहिए । विशेषरूप से आगम में आर्तध्यान को तिर्यंच गति का, रौद्रध्यान को नरकगति का, धर्मध्यान को देवगतिका और शुक्लध्यान को सिद्धगति का कारण बतलाया गया है । जैसे—

अट्टेण तिरिक्खगई रुद्दज्झाणेण गम्मती नरयं ।
धम्मेण देवलोयं सिद्धगई सुक्कज्झाणेणं ।।

मोक्षस्तथापि पारम्पर्येण धर्मध्यानस्यापि तत्साधनत्वादविरोध इति, तथा 'भवकारणमार्त-रौद्रे' इति तत्र भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिन इति भवः संसार एव, तथाऽप्यत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः [त्तेः] तिर्यग्नरकभवग्रह इति गाथार्थः ॥५॥ साम्प्रतं यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायादार्तध्यानस्य स्वरूपाभिधानावसरः, तच्च स्वविषय-लक्षणभेदतश्चतुर्द्धा । उक्तं च भगवता वाचकमुख्येन—आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ वेदनायाश्च ॥ विपरीतं मनोज्ञादीनां [मनोज्ञानाम्] ॥ निदानं च ॥ [त. सू. ९, ३१-३४] इत्यादि । तत्राऽऽद्यभेदप्रतिपादनायाह—

अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स ।
धणियं विओगचिंतणमसंपओगाणुसरणं च ॥६॥

'अमनोज्ञानाम्' इति मनसोऽनुकूलानि मनोज्ञानि इष्टानीत्यर्थः, न मनोज्ञानि अमनोज्ञानि तेषाम्, केषामित्यत आह—'शब्दादिविषयवस्तूनाम्' इति शब्दादयश्च ते विषयाश्च, आदिग्रहणाद्वर्णादिपरिग्रहः, विषीदन्ति एतेषु सक्ताः प्राणिन इति विषया इन्द्रियगोचरा वा, वस्तूनि तु तदाधारभूतानि रासभादीनि, ततश्च—शब्दादिविषयाश्च वस्तूनि चेति विग्रहस्तेषाम्, किम् ? सम्प्राप्तानां सतां 'धणियं' अत्यर्थं 'वियोगचिन्तनं' विप्रयोगचिन्तेति योगः, कथं नु नाम ममैभिर्वियोगः स्यादिति भावः, अनेन वर्त्तमानकालग्रहः, तथा सति च वियोगेऽसम्प्रयोगानुस्मरणम्, कथमेभिः सदैव सम्प्रयोगाभाव इति, अनेन चानागतकालग्रहः, च-शब्दात् पूर्वमपि वियुक्तासम्प्रयुक्तयोर्बहुमतत्वेनातीतकालग्रह इति, किंविशिष्टस्य सत इदं वियोगचिन्तनाद्यत आह—'द्वेषमलिनस्य' जन्तोरिति गम्यते, तत्राप्रीतिलक्षणो द्वेषस्तेन मलिनस्तस्य—तदाक्रान्तमूर्तेरिति

इस प्रकार सामान्य व विशेष की विवक्षा होने से दोनों प्रकार के उस कथन में कुछ विरोध नहीं समझना चाहिए। दूसरे—निर्वाण का अर्थ निर्वृति अथवा सुख होता है, तदनुसार धर्मध्यान जहां सांसारिक सुख का कारण है वहां शुक्लध्यान मोक्षसुख का कारण है, इस प्रकार से भी ये दोनों ध्यान निर्वाण के साधक सिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त निर्वाण शब्द से यदि मोक्ष का ही ग्रहण किया जाय तो भी परम्परा से धर्मध्यान भी मोक्ष का कारण सिद्ध है ही। 'भवन्ति अस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिनः इति भवः' इस निरुक्ति के अनुसार भव का अर्थ संसार है, क्योंकि संसार में ही प्राणी कर्म के वशीभूत होते हैं। यद्यपि उस भव में नर-नारकादि चारों गतियां समाविष्ट हैं, फिर भी विशेष विवक्षा से यहां संसार से तिर्यंच और नरक इन दो ही गतियों को ग्रहण किया गया है ॥५॥

आगे ग्रन्थकार उक्त चारों ध्यानों का क्रम से वर्णन करते हुए सर्वप्रथम चार प्रकार के आर्तध्यान में प्रथम आर्तध्यान का निरूपण करते हैं—

द्वेष से मलिनता को प्राप्त हुए प्राणी के अमनोज्ञ (अनिष्ट) शब्दादिरूप पांचों इन्द्रियों के विषयों और उनकी आधारभूत वस्तुओं के विषय में जो उनके वियोग की अत्यधिक चिन्ता होती है तथा भविष्य में उनके असंप्रयोग का—उनका फिर से संयोग न हो इसका—जो अनुस्मरण होता है वह प्रथम आर्तध्यान माना गया है ॥

विवेचन—अमनोज्ञ का अर्थ मन के प्रतिकूल या अनिष्ट होता है। 'विषीदन्ति एतेषु सक्ताः प्राणिनः इति विषयाः' इस निरुक्ति के अनुसार जिनमें आसक्त होकर प्राणी दुख को प्राप्त होते हैं उन्हें विषय कहा जाता है। अथवा जो यथायोग्य श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य शब्दादि हैं उन्हें विषय जानना चाहिए। उक्त शब्दादि की आधारभूत वस्तुयें रासभ—कर्णकटु ध्वनि करने वाला गधा—आदि हैं। उन अनिष्ट विषयों और उनकी आधारभूत वस्तुओं का यदि वर्तमान में संयोग हैं तो उनके वियोग के सम्बन्ध में सतत यह विचार करना कि किस प्रकार से इनका मुझसे वियोग होगा, तथा उनका वियोग हो जाने पर भविष्य में कभी उनका फिर से संयोग न हो, इस प्रकार उनके असंयोग का चिन्तन करना; यह प्रथम आर्तध्यान है। इसके अतिरिक्त भूतकाल में यदि उनका विगोग हुआ है अथवा संयोग ही नहीं हुआ है तो उसे बहुत अच्छा मानना, यह भी उक्त आर्तध्यान है ॥६॥

गाथार्थः ॥६॥ उक्तः प्रथमो भेदः, साम्प्रतं द्वितीयमभिधित्सुराह—

तह सूल-सीसरोगाइवेयणाए विजोगपणिहाणं ।
तदसंपओगचिंता तप्पडियाराउलमणस्स ॥७॥

'तथा' इति धणियम्—अत्यर्थमेव, शूल-शिरोरोगवेदनाया इत्यत्र शूल-शिरोरोगौ प्रसिद्धौ, आदिशब्दाच्छेषरोगातङ्कपरिग्रहः, ततश्च शूल-शिरोरोगादिभ्यो वेदना शूल-शिरोरोगादिवेदना, वेद्यत इति वेदना तस्याः, किम् ? 'वियोगप्रणिधानं' वियोगे दृढाध्यवसाय इत्यर्थः, अनेन वर्तमानकालग्रहः, अनागतमधिकृत्याह—'तदसम्प्रयोगचिन्ता' इति तस्याः—वेदनायाः कथञ्चिदभावे सत्यसम्प्रयोगचिन्ता—कथं पुनर्ममानया आयत्यां सम्प्रयोगो न स्यादिति ? चिन्ता चात्र ध्यानमेव गृह्यते, अनेन च वर्तमानानागतकालग्रहणेनातीतकालग्रहोऽपि कृत एव वेदितव्यः, तत्र च भावनाऽनन्तरगाथायां कृतैव, किंविशिष्टस्य सत इदं वियोगप्रणिधानाद्यत आह—'तत्प्रतिकारे' वेदनाप्रतिकारे चिकित्सायामाकुलं व्यग्रं मनः अन्तःकरणं यस्य स तथाविधस्तस्य, वियोगप्रणिधानाद्यार्तध्यानमिति गाथार्थः ॥७॥ उक्तो द्वितीयो भेदः, साम्प्रतं तृतीयमुपदर्शयन्नाह—

इट्ठाणं विसयाईण वेयणाए य रागरत्तस्स ।
अवियोगऽज्झवसाणं तह संजोगाभिलासो य ॥८॥

'इष्टानां' मनोज्ञानां विषयादीनामिति, विषयाः पूर्वोक्ताः, आदिशब्दाद् वस्तुपरिग्रहः, तथा 'वेदनायाश्च' इष्टाया इति वर्तते । किम् ? अवियोगाध्यवसानमिति योगः, अविप्रयोगदृढाध्यवसाय इति भावः, अनेन वर्तमानकालग्रहः, तथा संयोगाभिलाषश्चेति, तत्र 'तथेति' धणियमित्यनेनात्यर्थप्रकारोपदर्शनार्थः, संयोगाभिलाषः—कथं ममैभिर्विषयादिभिरायत्यां सम्बन्ध इतीच्छा, अनेन किलानागतकालग्रह इति वृद्धा व्याचक्षते, च-शब्दात् पूर्ववदतीतकालग्रह इति, किंविशिष्टस्य सत इदमवियोगाध्यवसानाद्यत आह—रागरक्तस्य, जन्तोरिति गम्यते, तत्राभिष्वङ्गलक्षणो रागस्तेन रक्तस्य तद्भावितमूर्तेरिति गाथार्थः ॥८॥ उक्तस्तृतीयो भेदः, साम्प्रतं चतुर्थमभिधित्सुराह—

देविंद-चक्कवट्टित्तणाइं गुण-रिद्धिपत्थणमईयं ।
अहमं नियाणचिंतणमण्णाणाणुगयमच्चंतं ॥९॥

अब द्वितीय आर्तध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

शूल व शिरोरोग आदि की पीड़ा के होने पर उसके प्रतीकार के लिए व्याकुल मन होकर जो उसके वियोग के विषय में—उसके हट जाने के सम्बन्ध में—दृढ अध्यवसाय—निरन्तर चिन्तन—होता है तथा उक्त वेदना के किसी प्रकार से नष्ट हो जाने पर भविष्य में पुनः उसका संयोग न हो, इसके लिए जो चिन्ता होती है; यह दूसरे आर्तध्यान का लक्षण है । भूतकाल में यदि उसका वियोग हुआ है अथवा उसका संयोग ही नहीं हुआ है तो उसे बहुत मानना, इसे भी दूसरा ही आर्तध्यान समझना चाहिए ॥७॥

आगे तृतीय आर्तध्यान का निरूपण करते हैं—

रागयुक्त (आसक्त) प्राणी के अभीष्ट शब्दादि इन्द्रियविषयों, उनकी आधारभूत वस्तुओं और अभीष्ट वेदना के विषय में जो उनके अवियोग के लिए—सदा ऐसे ही बने रहने के लिए—अध्यवसान (निरन्तर चिन्तन) होता है तथा यदि उनका संयोग नहीं है तो भविष्य में उनका संयोग किस प्रकार से हो, इस प्रकार की जो अभिलाषा बनी रहती है; यह तीसरे आर्तध्यान का लक्षण है ॥८॥

आगे चतुर्थ आर्तध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

इन्द्रों और चक्रवर्तियों आदि (बलदेवादि) के गुणों और ऋद्धि की प्रार्थना (याचना) रूप निदान का चिन्तन करना, यह चौथा आर्तध्यान कहलाता है । अतिशय अज्ञान से अनुगत होने के कारण उसे अधम (निकृष्ट) समझना चाहिए ॥

विवेचन—आगामी भोगों की आकांक्षा का नाम निदान है । जिस संयम व तप आदि के द्वारा

दीव्यन्तीति देवाः-भवनवास्यादयस्तेषामिन्द्राः प्रभवो देवेन्द्राः-चमरादयः तथा चक्रं-प्रहरणं तेन विजयाधिपत्ये वर्तितुं शीलमेषामिति चक्रवर्तिनः भरतादयः, आदिशब्दाद् गलदेवादिपरिग्रहः, अमीषां गुणऋद्धयः देवेन्द्र-चक्रवर्त्यादिगुर्णद्धयः, तत्र गुणाः सुरूपादयः, ऋद्धिस्तु विभूतिः, तत्प्रार्थनात्मकं तद्याञ्चामयमित्यर्थः, किं तत् ? 'अधमं' जघन्यं 'निदानचिन्तनं' निदानाध्यवसायः, अहमनेन तपस्त्यागादिना देवेन्द्रः स्यामित्यादिरूपः, आह--किमितीदमधमम् ? उच्यते—यस्मादज्ञानानुगतमत्यन्तम्, तथा च नाज्ञानिनो विहाय सांसारिकेषु सुखेष्वन्येषामभिलाष उपजायते—उक्तं च—अज्ञानान्धाश्चटुलवनितापाङ्गविक्षेपितास्ते, कामे सक्तिं दधति विभवाभोगतुङ्गार्जने वा । विद्वच्चित्तं भवति च महत् मोक्षकाङ्क्षैकतानम्, नाल्पस्कन्धे विटपिनि कषत्यंसभित्तिं गजेन्द्रः ॥१॥ इति गाथार्थः ॥९॥ उक्तश्चतुर्थो भेदः, साम्प्रतमिदं यथाभूतस्य भवति यद्वर्द्धनं चेदमिति तदेतदभिधातुकाम आह—

एयं चउव्विहं राग-दोस-मोहंकियस्स जीवस्स ।
अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं ॥१०॥

'एतद्' अनन्तरोदितं 'चतुर्विधं' चतुष्प्रकारं 'राग-द्वेष-मोहाङ्कितस्य' रागादिलाञ्छितस्येत्यर्थः, कस्य ? 'जीवस्य' आत्मनः, किम् ? आर्तध्यानमिति, तथा च इयं चतुष्टयस्यापि क्रिया, किंविशिष्टमित्यत आह—संसारवर्द्धनमोघतः, तिर्यग्गतिमूलं विशेषत इति गाथार्थः ॥१०॥ आह—साधोरपि शूलवेदनाभिभूतस्यासमाधानात् तत्प्रतिकारकरणे च तद्विप्रयोगप्रणिधानापत्तेः तथा तपःसंयमासेवने च नियमतः सांसारिकदुःखवियोगप्रणिधानादार्तध्यानप्राप्तिरिति ? अत्रोच्यते—रागादिवशवर्तिनो भवत्येव, न पुनरन्यस्येति, आह च ग्रन्थकारः—

मज्झत्थस्स उ मुणिणो सकम्मपरिणामजणियमेयंति ।
वत्थुस्सभावचिंतणपरस्स समं[म्मं] सहंतस्स ॥११॥

मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, राग-द्वेषयोरिति गम्यते, तस्य मध्यस्थस्य, तु-शब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, मध्यस्थस्यैव नेतरस्य, मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिस्तस्य मुनेः, साधोरित्यर्थः, स्वकर्मपरिणामजनितमेतत् शूलादि, यच्च प्राक्कर्मविपरिणामिदैवादशुभमापतति न तत्र परितापाय भवन्ति सन्तः,

---

निर्बाध व शाश्वतिक सुख के स्थान स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है उस संयम व तप के फलस्वरूप अनेक आकुलताओं के कारणभूत इन्द्रादि के अस्थायी सुख की याचना करना, यह अतिशय अज्ञानतामूलक ही है, कारण यह कि अज्ञानियों को छोड़कर अन्य कोई भी विवेकी जीव उस अमूल्य तप आदि के फलभूत तुच्छ सांसारिक सुख की अभिलाषा नहीं कर सकता। यह चतुर्थ आर्तध्यान का स्वरूप है ॥९॥

उक्त चार प्रकार का आर्तध्यान किस प्रकार के प्राणी के होता है तथा उसका क्या परिणाम होता है, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

यह चार प्रकार का आर्तध्यान राग (आसक्ति), द्वेष (अप्रीति) और मोह (अज्ञान) से लांछित (कलुषित) प्राणी के होता है, जो तिर्यंचगति का मूल कारण होने से संसार का बढ़ानेवाला है ॥१०॥

यहां यह शंका उपस्थित होती है कि शूलवेदनादि से आक्रान्त साधु के भी विकलता हो सकती है, और यदि वह उसके निराकरण में प्रवृत्त होता है तो उसके वियोगविषयक चिन्तनरूप आर्तध्यान का प्रसंग प्राप्त होता है। दूसरी बात यह भी है कि साधु जब तप व संयम का आराधन करता है तब उसके सांसारिक दुख के वियोगस्वरूप आर्तध्यान का होना अनिवार्य है, कारण यह कि उक्त सांसारिक दुख से छुटकारा पाने के लिए ही तो तप व संयम का परिपालन किया जाता है। इस शंका के समाधान स्वरूप ग्रन्थकार आगे कहते हैं—

मुनि राग और द्वेष के मध्य में स्थित होता है—वह न किसी वस्तु को इष्ट मानकर उससे राग करता है और न अनिष्ट मानकर उससे द्वेष करता है। इसीलिए शूल आदि की वेदना के होने पर वह विचार करता है कि यह अपने पूर्वकृत कर्म के विपाक से हुई है। इस प्रकार वस्तुस्वभाव के चिन्तन में

उक्तं च परममुनिभिः—'पुव्वि खलु भो ! कडाणं कम्माणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेदइत्ता, तवसा वा झोसइत्तेत्यादि, एवं वस्तुस्वभावचिन्तनपरस्य 'सम्यक्' शोभनाध्यवसायेन सहमानस्य सतः कुतोऽसमाधानम् ? अपि तु धर्म्यमनिदानमिति वक्ष्यतीति गाथार्थः ॥११॥ परिहृत आशङ्कागतः प्रथमपक्षः, द्वितीय-तृतीयावधिकृत्याह—

कुणओ व पसत्थालंबणस्स पडियारमप्पसावज्जं ।
तव-संजमपडियारं च सेवओ धम्ममणियाणं ॥१२॥

कुर्वतो वा । कस्य ? प्रशस्तं ज्ञानाद्युपकारकम् आलम्ब्यत इत्यालम्बनं प्रवृत्तिनिमित्तम्, शुभमध्यवसानमित्यर्थः । उक्तं च—काहं अछित्ति अदुवा अहीहं, तवोवहाणेसु व उज्जमिस्सं । गणं च णीती अणुसारवेस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं ॥१॥ इत्यादि, यस्यासौ प्रशस्तालम्बनस्तस्य । किं कुर्वतः इत्यत आह—'प्रतीकारं' चिकित्सालक्षणम् । किंविशिष्टम् ? 'अल्पसावद्यम्' अवद्यं पापम्, सहावद्येन सावद्यम्, अल्पशब्दोऽभाववचनः स्तोकवचनो वा, अल्पं सावद्यं यस्मिन्नसावल्पसावद्यस्तम्, धर्म्यमनिदानमेवेति योगः । कुतः ? निर्दोषत्वात्, निर्दोषत्वं च वचनप्रामाण्यात् । उक्तं च—गीयत्थो जयणाए कडजोगी कारणंमि निद्दोसो त्ति, इत्याद्यागमस्योत्सर्गापवादरूपत्वात्, अन्यथा परलोकस्य साधयितुमशक्यत्वात्, साधु चैतदिति । तथा 'तपःसंयमप्रतिकारं च सेवमानस्य' इति तपःसंयमावेव प्रतिकारस्तपःसंयमप्रतिकारः, सांसारिकदुःखानामिति गम्यते, तं च सेवमानस्य, च-शब्दात्पूर्वोक्तप्रतिकारं च । किम् ? 'धर्म्यं' धर्मध्यानमेव भवति । कथं सेवमानस्य ? 'अनिदानम्' इति क्रियाविशेषणम्, देवेन्द्रादिनिदानरहितमित्यर्थः । आह—कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो भवत्वितीदमपि निदानमेव ? उच्यते—सत्यमेतदपि निश्चयतः प्रतिषिद्धमेव । कथं ? मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः । प्रकृत्याऽभ्यासयोगेन यत उक्तो जिनागमे ॥१॥ इति । तथापि तु भावनायामपरिणतं सत्त्वमङ्गीकृत्य व्यवहारत इदमदुष्टमेव, अनेनैव प्रकारेण तस्य चित्तशुद्धेः क्रियाप्रवृत्तियोगाच्चेत्यत्र बहु

तत्पर हुआ वह उसे समतापूर्वक भलीभांति सहता है—वह उसके वियोगविषयक चिन्तन से व्याकुल नहीं होता । इसीलिए राग-द्वेष से रहित होने के कारण उसके उक्त वेदना के वियोगविषयक आर्तध्यान सम्भव नहीं है । हां, जिसका अन्तःकरण राग-द्वेष से कलुषित होता है उसके वह अवश्य होता है ॥११॥

इस प्रकार उपर्युक्त शंका के अन्तर्गत प्रथम पक्ष का समाधान करके अब आगे उसके द्वितीय और तृतीय पक्ष का—रोगजनित वेदना के प्रतीकार एवं सांसारिक दुख के वियोगविषयक आर्तध्यान के प्रसंग का—समाधान किया जाता है—

जो साधु प्रशस्त—ज्ञानादि के उपकारक—आलम्बन का आश्रय लेकर उक्त वेदना का अल्प सावद्ययुक्त प्रतीकार करता है तथा निदान से रहित होता हुआ तप-संयमरूप प्रतीकार का सेवन करता है उसके निदान से रहित धर्मध्यान ही रहता है, न कि आर्तध्यान ॥

विवेचन—प्रवृत्ति का निमित्तभूत जिसका उत्तम अध्यवसाय ज्ञानादि का उपकारक है वह उक्त शूलरोगादि का जो प्रतीकार करता है वह या तो सर्वथा पाप से रहित होता है या अल्प ही पाप से सहित होता है । इसी से उसके आर्तध्यान न होकर निदान रहित धर्म्यध्यान ही होता है । इस प्रकार से शंकाकार की शंकागत उस द्वितीय पक्ष का निराकरण हो जाता है जिसमें यह कहा गया था कि रोग का प्रतिकार करने पर उसके अनिष्टविप्रयोगजनित आर्तध्यान का प्रसंग अनिवार्य होगा । शंकागत तीसरा पक्ष यह था कि तप व संयम के आराधन में नियम से सांसारिक दुख के वियोगविषयक प्रणिधानस्वरूप आर्तध्यान रहने वाला है । उसका निराकरण करते हुए यहां यह कहा गया है कि सांसारिक दुख के प्रतीकारस्वरूप तप-संयम का आराधन करने वाला साधु चूंकि उनका आराधन इन्द्रादि पद की प्राप्तिरूप निदान के विना करता है, अत एव वह आर्तध्यान न होकर धर्मध्यान ही है । इस पर यह कहा जा सकता है कि उसमें भी समस्त कर्मों के क्षयरूप मोक्ष की प्राप्ति की जो इच्छा रहती है वह भी निदान ही है । इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः वह निदान ही है,

वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः ॥१२॥ अन्ये पुनरिदं गाथाद्वयं चतुर्भेदमप्यार्तध्यानमधिकृत्य साधोः प्रतिषेधरूपतया व्याचक्षते, न च तदत्यन्तसुन्दरम्, प्रथम-तृतीयपक्षद्वये सम्यगाशङ्काया एवानुपपत्तेरिति। आह—उक्तं भवताऽऽर्तध्यानं संसारवर्द्धनमिति। तत्कथम् ? उच्यते—बीजत्वात्। बीजत्वमेव दर्शयन्नाह—

रागो दोसो मोहो य जेण संसारहेयवो भणिया।
अट्टंमि य ते तिण्णिवि तो तं संसार-तरुबीयं ॥१३॥

रागो द्वेषो मोहश्च येन कारणेन 'संसारहेतवः' संसारकारणानि 'भणितः' उक्ताः परममुनिभिरिति गम्यते, 'आर्ते च' आर्तध्याने च ते 'त्रयोऽपि' रागादयः सम्भवन्ति, यत एवं ततस्तत् 'संसारतरुबीजं' भववृक्षकारणमित्यर्थः। आह—यद्येवमोघत एव संसारतरुबीजम्, ततश्च तिर्यग्गतिमूलमिति किमर्थमभिधीयते ?, उच्यते—तिर्यग्गतिगमननिबन्धनत्वेनैव संसारतरुबीजमिति। अन्ये तु व्याचक्षते—तिर्यग्गतावेव प्रभूतसत्त्वसम्भवात् स्थितिबहुत्वाच्च संसारोपचार इति गाथार्थः ॥१३॥ इदानीमार्त्तध्यायिनो लेश्याः प्रतिपाद्यन्ते—

काओय-नील-कालालेस्साओ णाइसंकिलिट्ठाओ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥१४॥

कापोत-नील-कृष्णलेश्याः, किम्भूताः ? नातिसङ्क्लिष्टा' रौद्रध्यानलेश्यापेक्षयः नातीवाशुभानुभावा भवन्तीति क्रिया, कस्येत्यत आह—आर्तध्यानोपगतस्य, जन्तोरिति गम्यते किंनिबन्धना एताः ? इत्यत आह—कर्मपरिणामजनिताः, तत्र—'कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥१॥' एताः कर्मोदयायत्ता इति गाथार्थः ॥१४॥ आह कथं पुनरोघत

अतएव उसका भी आगम में निषेध किया गया है। वहां कहा गया है कि उत्तम मुनि वही है जो मोक्ष और संसार दोनों के ही विषय में निःस्पृह रहता है। परन्तु जो जीव भावना में परिपक्व नहीं है उसको लक्ष्य करके व्यवहारतः उसे भी—मोक्षविषयक इच्छा को भी—निर्दोष माना गया है। कारण यह कि इस प्रकार से उसके चित्त की शुद्धि होती है और उत्तम अनुष्ठान में प्रवृत्ति भी होती है ॥१२॥

पूर्व में (गा. १०) जो उक्त चार प्रकार के आर्तध्यान को संसारवर्धक कहा गया है उन सबको स्पष्ट करते हुए यह कहा जाता है—

जिस कारण जिन राग, द्वेष और मोह (आसक्ति) को संसार का कारण कहा गया है वे तीनों ही प्रकृत आर्तध्यान में सम्भव है। इसीलिए वह (आर्तध्यान) संसार रूप वृक्ष का बीज है—उसका कारण है। यहां यह शंका हो सकती है कि जब वह आर्तध्यान सामान्य से संसार का कारण है तब उसे तिर्यंचगति का मूल क्यों कहा गया है ? इसका समाधान यह है कि वह तिर्यंचगति में गमन का कारण होने से ही संसाररूप वृक्ष का बीज है—उसे बढ़ाने वाला है। प्रकारान्तर से उसके समाधान में यह भी कहा जाता है कि प्रचुर (अनन्तान्त) जीव चूंकि तिर्यंचगति में ही पाये जाते हैं, साथ ही उसका काल भी अधिक है; इसीलिए तिर्यंचगति में संसार का उपचार किया गया है ॥१३॥

आगे आर्तध्यानी जीव के सम्भव लेश्याओं का निर्देश किया जाता है—

आर्तध्यान को प्राप्त हुए जीव के कर्म के उदय से उत्पन्न हुई कापोत, नील और कृष्ण ये तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं। विशेषता इतनी है कि वे उसके अतिशय संक्लिष्ट नहीं होतीं—जिस प्रकार रौद्रध्यानी के वे अतिशय प्रभावक होती हैं उस प्रकार प्रकृत आर्तध्यानी के वे उतनी प्रभावक नहीं होतीं, उसकी अपेक्षा इसके वे हीन होती हैं। जिस प्रकार काले आदि रंग वाले पदार्थ की समीपता से स्वच्छ स्फटिक मणि का तद्रूप—काले आदि रंगस्वरूप—परिणमन होता है उसी प्रकार कर्म के उदय से जीव का जो परिणमन होता है उसे लेश्या कहा जाता है ॥१४॥

अब जिन हेतुओं के द्वारा सामान्य से आर्तध्यानी का परिज्ञान होता है उनका निर्देश किया जाता है—

एवाऽऽर्त्तध्याता ज्ञायत इति ? उच्यते—लिङ्गेभ्यः तान्येवोपदर्शयन्नाह—

तस्सऽक्कंदण-सोयण-परिदेवण-ताडणाइं लिंगाइं ।
इट्ठा ऽणिट्ठविओगाऽविओग-वियणानिमित्ताइं ॥१५॥

'तस्य' आर्तध्यायिनः आक्रन्दनादीनि लिङ्गानि, तत्राऽऽक्रन्दनम्—महता शब्देन विरवणम्, शोचन-स्वत्वश्रुपरिपूर्णनयनस्य दैन्यम्, परिदेवनं पुनः पुनः क्लिष्टभाषणम्, ताडनम् उरःशिरःकुट्टन-केशलुञ्चनादि, एतानि 'लिङ्गानि' चिह्नानि, अमूनि च इष्टानिष्टवियोगाविवियोग-वेदनानिमित्तानि, तत्रेष्टवियोगनिमित्तानि तथाऽनिष्टाविवियोगनिमित्तानि तथा वेदनानिमित्तानि चेति गाथार्थः ॥१५॥ किं चान्यत्—

निंदइ य नियकयाइं पसंसइ सविम्हओ विभूईओ ।
पत्थेइ तासु रज्जइ तयज्जणपरायणो होइ ॥१६॥

'निन्दति' च कुत्सति च 'निजकृतानि' आत्मकृतानि अल्पफल-विफलानि कर्म [कर्माणि] शिल्प-कला-वाणिज्यादीन्येतद् गम्यते, तथा 'प्रशंसति' स्तौति बहुमन्यते 'सविस्मयः' साश्चर्यः 'विभूतीः' परसम्पद इत्यर्थः, तथा 'प्रार्थयते' अभिलषति परविभूतीरिति, 'तासु रज्यते' तास्विति प्राप्तासु विभूतिषु रागं गच्छति, 'तदर्जनपरायणो भवति' तासां विभूतीनामर्जने उपादाने परायण उद्युक्तः तदर्जनपरायण इति, ततश्चैवम्भूतो भवति, असावप्यार्तध्यायीति गाथार्थः ॥१६॥ किं च—

सद्दाइविसयगिद्धो सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो ।
जिणमयमणवेक्खंतो वट्टइ अट्टंमि झाणंमि ॥१७॥

शब्दादयश्च ते विषयाश्च तेषु गृद्धो मूर्च्छितः कांक्षावानित्यर्थः, तथा सद्धर्मपराङ्मुखः प्रमादपरः, तत्र दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, सँश्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः—क्षान्त्यादिकश्चरणधर्मो गृह्यते, ततः पराङ्मुखः, 'प्रमादपरः' मद्यादिप्रमादासक्तः, 'जिनमतमनपेक्षमाणो वर्त्तते आर्तध्याने' इति, तत्र जिनाः तीर्थकराः, तेषां मतम् आगमरूपं प्रवचनमित्यर्थः, तदनपेक्षमाणः तन्निरपेक्ष इत्यर्थः । किम् ? वर्तते आर्त्तध्याने इति गाथार्थः ॥१७॥ साम्प्रतमिदमार्तध्यानं सम्भवमधिकृत्य यदनुगतं यदनर्हं वर्तते तदेतदभिधित्सुराह—

तदविरय-देसविरया-पमायपरसंजयाणुगं झाणं ।
सव्वप्पमायमूलं वज्जेयव्वं जइजणेणं ॥१८॥

'तद्' आर्तध्यानमिति योगः, 'अविरत-देशविरत-प्रमादपर-संयतानुगम्' इति तत्राविरताः मिथ्या-

---

आक्रन्दन, शोचन, परिदेवन और ताड़न; ये उस आर्तध्यानी के परिचायक हेतु हैं जो इष्टवियोग, अनिष्ट-अवियोग और वेदना के निमित्त से होते हैं । महान् शब्द के उच्चारण पूर्वक रुदन करने का नाम आक्रन्दन है । अश्रुपूर्ण नेत्रों की दीनता को शोचन (शोक) कहा जाता है । बार-बार संक्लेश युक्त भाषण करना, इसे परिदेवन कहते हैं । छाती व शिर आदि के पीटने को ताड़न कहा जाता है । इन चिह्नों के द्वारा आर्तध्यानी की पहिचान हो जाती है ॥१५॥ इसके अतिरिक्त—

वह अपने द्वारा किये गये निरर्थक या अल्प फल वाले कार्यों की निन्दा करता है तथा आश्चर्य-चकित होकर दूसरों की विभूतियों की प्रशंसा करता है व उनके लिए प्रार्थना करता है—उनकी इच्छा करता है । यदि वे इच्छानुसार उसे प्राप्त हो जाती हैं तो वह उनमें अनुराग करता है, और यदि वे नहीं प्राप्त हुई हैं तो वह उनके उपार्जन में उद्यत होता है ॥१६॥ और भी—

वह शब्दादि रूप इन्द्रिय विषयों में लुब्ध होकर समीचीन धर्म से विमुख होता हुआ प्रमाद में रत होता है—मद्यादि के सेवन में आसक्त होता है, इस प्रकार वह जिन-मत की अपेक्षा न करके उक्त आर्तध्यान में प्रवृत्त होता है ॥१७॥

अब वह आर्तध्यान किन के होता है इसका निर्देश करते हुए उसे छोड़ देने की प्रेरणा [illegible] —

वह आर्तध्यान अविरत—मिथ्यादृष्टि व असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत—एक-दो आदि अणुव्रतों के धारक श्रावक और प्रमादयुक्त संयत (प्रमत्तसंयत) जीवों के होता है । वह चूंकि सब प्रकार के

दृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च, देशविरताः एक-द्व्याद्यणुव्रतधरभेदाः श्रावकाः, प्रमादपराः प्रमादनिष्ठाश्च ते संयताश्च प्रमादपरसंयताः, तानुगच्छतीति विग्रहः, नैवाप्रमत्तसंयतानिति भावः। इदं च स्वरूपतः सर्व-प्रमादमूलं वर्तते, यतश्चैवमतो 'वर्जयितव्यम्' परित्यजनीयम् केन ? 'यतिजनेन' साधुलोकेन, उपलक्षणत्वात् श्रावक-जनेन, परित्यागार्हत्वादेवास्येति गाथार्थः ॥१८॥ उक्तमार्तध्यानम्, साम्प्रतं रौद्रध्यानावसरः, तदपि चतुर्विधमेव, तद्यथा—हिंसानुबन्धि मृषानुबन्धि स्तेयानुबन्धि विषयसंरक्षणानुबन्धि च। उक्तं चोमास्वातिवाचकेन—हिंसा-ऽनृत-स्तेय-विषय-संरक्षणेभ्यो रौद्रम् इत्यादि [त. सू. ९-३६]। तत्राऽऽद्यभेदप्रतिपादनायाह—

सत्तवह-वेह-बंधण-डहणंऽकण-मारणाइपणिहाणं।
अइकोहग्गहघत्थं निग्घिणमणसोऽहमविवागं ॥१९॥

सत्त्वाः एकेन्द्रियादयः तेषाम् वध-वेध-बन्धन-दहनाऽङ्कन-मारणादिप्रणिधानम्—तत्र वधः ताडनं कर-कशलतादिभिः, वेधस्तु नासिकादिवेधनं कीलिकादिभिः, बन्धनं संयमनं रज्जु-निगडादिभिः, दहनं प्रतीत-मुल्मुकादिभिः, अङ्कनं लाञ्छनं श्व-शृगालचरणादिभिः, मारणं प्राणवियोजनमसि-शक्ति-कुन्तादिभिः, आदिशब्दादागाढ-परितापन-पाटनादिपरिग्रहः, एतेषु प्रणिधानम्। अकुर्वतोऽपि करणं प्रति दृढाव्यवसान-मित्यर्थः, प्रकरणाद् रौद्रध्यानमिति गम्यते। किंविशिष्टं प्रणिधानम् ? 'अतिक्रोधग्रहग्रस्तम्' अतीवोत्कटो यः क्रोधः रोषः, स एवापायहेतुत्वाद् ग्रह इव ग्रहस्तेन ग्रस्तम् अभिभूतम्, क्रोधग्रहणाच्च मानादयो गृह्यन्ते। किंविशिष्टस्य सत इदमित्यत आह—'निर्घृणमनसः' निर्घृणं निर्गतदयं मनः चित्तमन्तःकरणं यस्य स निर्घृण-मनास्तस्य, तदेव विशेष्यते 'अधमविपाकम्' इति अधमः जघन्यो नरकादिप्राप्तिलक्षणो विपाकः परिणामो यस्य तत्तथाविधमिति गाथार्थः ॥१९॥ उक्तः प्रथमो भेदः, साम्प्रतं द्वितीयमभिधित्सुराह—

पिसुणासब्भासब्भूय-भूयघायाइवयणपणिहाणं।
मायाविणोऽइसंधणपरस्स पच्छन्नपावस्स ॥२०॥

'पिशुनाऽसभ्याऽसद्भूत-भूतघातादिवचनप्रणिधानम्' इत्यत्रानिष्टस्य सूचकं पिशुनं पिशुनमनिष्ट-

---

प्रमाद का मूल कारण है, इसलिए मुनिजन को उसका परित्याग करना चाहिए। यहाँ मुनिजन को जो उसके छोड़ने का उपदेश दिया गया है, उसे उपलक्षण जानकर उससे श्रावक जनों को भी ग्रहण किया गया है। तात्पर्य यह है कि अनर्थ का मूल होने से उक्त आर्तध्यान का त्याग मुनि व श्रावक दोनों को ही करना चाहिए ॥१८॥

इस प्रकार आर्तध्यान का निरूपण करके आगे क्रम प्राप्त रौद्रध्यान का वर्ण किया जाता है। वह भी हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी के भेद से चार प्रकार का है। उनमें प्रथम का निरूपण करते हैं—

अतिशय क्रोधरूप पिशाच के वशीभूत होकर निर्दय अन्तःकरण वाले जीव के जो प्राणियों के वध, वेध, बन्धन, दहन, अंकन और मारण आदि का प्रणिधान—उक्त कार्यों को न करते हुए भी उनके करने का जो दृढ़ विचार होता है, यह हिंसानुबन्धी नामक प्रथम रौद्रध्यान है। इसका विपाक अधम (निकृष्ट) है—उसके परिणामस्वरूप नरकादि दुर्गति प्राप्त होने वाली है। चाबुक आदि से ताड़ित करना, इसका नाम वध हैं। कील आदि के द्वारा नासिका आदि के वेधने को वेध कहा जाता है, रस्सी आदि से बाँधकर रखना, यह बन्धन कहलाता है। उल्मुक आदि से जलाने को दहन करते हैं। तपी हुई लोहे की शलाका आदि से दागने (चिह्नित करने) का नाम अंकन है। मारण से अभिप्राय प्राणविघात का है ॥१९॥

अब क्रमप्राप्त द्वितीय (मृषानुबन्धी) रौद्रध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

मायाचारी व परवंचना—दूसरों के ठगने में—तत्पर ऐसे प्रच्छन्न (अदृश्य) पाप युक्त अन्तः-करण वाले जीव के पिशुन, असभ्य, असद्भूत और भूतघात आदि रूप वचनों में प्रवृत्त न होने पर भी जो उनके प्रति दृढ़ अध्यवसाय होता है; यह मृषानुबन्धी नामक द्वितीय रौद्रध्यान का लक्षण है ॥

सूचकं 'पिशुनं सूचकं विदुः' इति वचनात् । सभायां साधु सभ्यं न सभ्यमसभ्यं जकार-मकारादि । न सद्भूतमसद्भूतमनृतमित्यर्थः । तच्च व्यवहारनयदर्शनेनोपाधिभेदतस्त्रिधा । तद्यथा—अभूतोद्भावनं भूतनिह्नवोऽर्थान्तराभिधानं चेति । तत्राभूतोद्भावनं यथा सर्वगतोऽयमात्मेत्यादि, भूतनिह्नवस्तु नास्त्येवात्मेत्यादि, गामश्वमित्यादि ब्रुवतोऽर्थान्तराभिधानमिति । भूतानां सत्त्वानामुपघातो यस्मिन् तद् भूतोपघातम्—छिन्द्धि भिन्द्धि व्यापादय इत्यादि, आदिशब्दः प्रतिभेदं स्वगतानेकभेदप्रदर्शनार्थः, यथा पिशुनमनेकधाऽनिष्टसूचकमित्यादि, तत्र पिशुनादिवचनेष्वप्रवर्तमानस्यापि प्रवृत्ति प्रति प्रणिधानं दृढाध्यवसानलक्षणम्, रौद्रध्यानमिति प्रकरणाद् गम्यते । किंविशिष्टस्य सत इत्यत आह—माया निकृतिः, साऽस्यास्तीति मायावी तस्य मायाविनो वणिजादेः, तथा 'अतिसन्धानपरस्य' परवञ्चनाप्रवृत्तस्य. अनेनाशेषेष्वपि प्रवृत्तिमप्या(स्या)ह, तथा 'प्रच्छन्नपापस्य' कूटप्रयोगकारिणस्तस्यैव, अथवा धिग्जातिककुतीर्थिकादेरसद्भूतगुणं गुणवन्तमात्मानं ख्यापयतः, तथाहि—गुणरहितमप्यात्मानं यो गुणवन्तं ख्यापयति न तस्मादपरः प्रच्छन्नपापोऽस्तीति गाथार्थः ॥२०॥ उक्तो द्वितीयो भेदः, साम्प्रतं तृतीयमुपदर्शयति—

तह तिव्वकोह-लोहाउलस्स भूओवघायणमणज्जं ।
परदव्वहरणचित्तं परलोयावायनिरवेक्खं ॥२१॥

तथाशब्दो दृढाध्यवसायप्रकारसादृश्योपदर्शनार्थः । तीव्रौ उत्कटौ तौ क्रोध-लोभौ च तीव्रक्रोध-लोभौ ताभ्यामाकुलः अभिभूतस्तस्य, जन्तोरिति गम्यते । किम् ? 'भूतोपहननमनार्यम्' इति हन्यतेऽनेनेति हननम्, उप सामीप्येन हननम् उपहननम्, भूतानामुपहननं भूतोपहननम्, आराद्यातं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यं नाऽऽर्यमनार्यम्, किं तदेवंविधमित्यत आह—परद्रव्यहरणचित्तम्, रौद्रध्यानमिति गम्यते, परेषां द्रव्यं परद्रव्यं सचित्तादि, तद्विषयं हरणचित्तं परद्रव्यहरणचित्तम्, तदेव विशेष्यते—किम्भूतं तदित्यत आह—परलोकापायनिरपेक्षम्

विवेचन—अनिष्ट के सूचक बचन को पिशुन वचन कहा जाता है । गाली आदि रूप अशिष्ट वचन का नाम असभ्य वचन है । अयथार्थ वचन को असद्भूत कहते हैं । वह तीन प्रकार का है—अभूतोद्भावन, भूतनिह्नव और अर्थान्तराभिधान । आत्मा सर्वव्यापक है, इत्यादि प्रकार के कथन को अभूतोद्भावन कहा जाता है । इसका कारण यह है कि आत्मा वस्तुतः वैसा नहीं है—वह तो प्राप्त शरीर के प्रमाण रहता है, न वह सर्वव्यापक है और न अणुरूप भी है । आत्मा है ही नहीं, इत्यादि प्रकार के सदपलापक—विद्यमान वस्तु का अभाव प्रकट करने वाले—वचन को भूतनिह्नव कहते हैं । गाय को घोड़ा और घोड़ा को गाय कहना, इत्यादि प्रकार के वचन का नाम अर्थान्तराभिधान है । मार डालो, काट डालो, इत्यादि प्रकार से प्राणिघात के सूचक वचन का नाम भूतघात है । उक्त वचनों में प्रवृत्त न होते हुए भी उनकी प्रवृत्ति के प्रति जो जीव का दृढ़ विचार रहा करता है, यह द्वितीय (मृषानुबन्धी) रौद्रध्यान का लक्षण है । यह रौद्रध्यान उस कपटी व वंचक मनुष्य के होता है जिसके अन्तःकरण में पाप छिपा रहता व जो स्वयं गुणवान् न होते हुए भी अपने को गुणवान् प्रकट करता है ॥२०॥

आगे स्तेयानुबन्धी नामक तीसरे रौद्रध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

इसी प्रकार जो तीव्र क्रोध व लोभ से व्याकुल रहता है उसका चित्त (विचार) दूसरों के चेतन-अचेतन द्रव्य के अपहरण में संलग्न रहता है । यह परद्रव्य के हरण का विचार निन्द्य तो है ही, साथ ही वह प्राणिहिंसा का भी कारण है । इस प्रकार का रौद्रध्यानी परलोक में होने वाले अपाय—नरकगति की प्राप्ति आदि—की भी अपेक्षा नहीं करता ॥

विवेचन—लोकव्यवहार में धन को प्राण जैसा माना जाता है । जो दुष्ट दूसरे के धन का अपहरण करना चाहता है वह इसके लिए धन के स्वामी का घात भी कर डालता है । कदाचित् वह हत्या न भी करे, तो भी अपने धन के चले जाने से प्राणी अतिशय दुखी होता है और कदाचित् संक्लेश के वश होकर वह आत्मघात भी कर बैठता हैं । इस प्रकार परद्रव्य का अपहरण करने वाला रौद्रध्यानी द्रव्य व भाव दोनों ही प्रकार की हिंसा का जनक होता है, जिसके परिणामस्वरूप उसका नरकादि

इति, तत्र परलोकापायाः—नरकगमनादयस्तन्निरपेक्षमिति गाथार्थः ॥२१॥ उक्तस्तृतीयो भेदः, साम्प्रतं चतुर्थं भेदमुपदर्शयन्नाह—

सद्दाइविसयसाहणधणसारक्खणपरायणमणिट्ठं ।
सव्वाभिसंकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं ॥२२॥

शब्दादयश्च ते विषयाश्च शब्दादिविषयास्तेषां साधनं कारणम्, शब्दादिविषयसाधनं च (तच्च) तद्धनं च शब्दादिविषयसाधनधनम्, तत्संरक्षणे—तत्परिपालने परायणम् उद्युक्तमिति विग्रहः, तथाऽनिष्टम्—सतामनभिलषणीयमित्यर्थः, इदमेव विशेष्यते—सर्वेषामभिशङ्कनेनाकुलमिति सम्बध्यते—न विद्मः कः किं करिष्यतीत्यादिलक्षणेन, तस्मात्सर्वेषां यथाशक्त्योपघात एव श्रेयानित्येवं परोपघातेन च, तथा कलुषयत्यात्मानमिति कलुषाः—कषायास्तैराकुलं व्याप्तं यत् तत् तथोच्यते, चित्तम् अन्तःकरणम्, प्रकरणाद्रौद्रध्यानमिति गम्यते, इह च शब्दादिविषयसाधनं धनविशेषणं किल श्रावकस्य चैत्यधनसंरक्षणे न रौद्रध्यानमिति ज्ञापनार्थमिति गाथार्थः ॥२२॥ साम्प्रतं विशेषणाभिधानगर्भमुपसंहरन्नाह—

इय करण-कारणाणुमइविसयमणुचिंतणं चउब्भेयं ।
अविरय-देसासंजयजणमणसंसेवियमहण्णं ॥२३॥

'इय' एवं करणं स्वयमेव, कारणमन्यैः, कृतानुमोदनमनुमतिः, करणं च कारणं चानुमतिश्च करण-कारणानुमतयः, एता एव विषयः गोचरो यस्य तत्करण-कारणानुमतिविषयम्, किमिदमित्यत आह—'अनुचिन्तनं' पर्यालोचनमित्यर्थः । 'चतुर्भेदम्' इति हिंसानुबन्ध्यादिचतुष्प्रकारम्, रौद्रध्यानमिति गम्यते । अधुनेदमेव स्वामिद्वारेण निरूपयति—अविरताः सम्यग्दृष्टयः, इतरे च देशासंयताः श्रावकाः, अनेन सर्वसंयतव्यवच्छेदमाह, अविरत-देशासंयता एव जनाः अविरतदेशासंयतजनाः, तेषां मनांसि चित्तानि, तैः संसेवितं सञ्चिन्तितमित्यर्थः, मनोग्रहणमित्यत्र ध्यानचिन्तायां प्रधानाङ्गख्यापनार्थम् । अधन्यमित्यश्रेयस्करं पापं निन्द्यमिति गाथार्थः ॥२३॥ अधुनेदं यथाभूतस्य भवति यद्वर्द्धनं चेदमिति तदेतदभिधातुकाम आह—

दुर्गति को प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है ॥२१॥

अब क्रमप्राप्त विषयसंरक्षणानुबन्धी नाम के चौथे रौद्रध्यान के स्वरूप का निर्देश किया जाता है—

शब्दादिरूप इन्द्रियविषयों का कारण धन है । इसी से विषयासक्त जीव का चित्त उस धन के संरक्षण में उद्यत रहता है । उसके मन में सबके प्रति यह सन्देह बना रहता है कि न जाने कौन कब क्या करेगा, इससे यथाशक्ति सबका घात कर डालना श्रेयस्कर है; इस प्रकार का जो उसका कलुषित विचार रहता है, यह चौथा रौद्रध्यान है । वह अनिष्ट है—आत्महितैषी सत्पुरुष उसकी कभी इच्छा नहीं करते ॥२२॥

आगे उक्त चार प्रकार के रौद्रध्यान का उपसंहार करते हुए उसके स्वामियों का निर्देश किया जाता है—

इस प्रकार यह चार प्रकार का अनुचिन्तन (रौद्रध्यान) करण—स्वयं करना (कृत), कारण—अन्य से कराना (कारित)—और अनुमति—दूसरे के द्वारा किये जाने पर उसका अनुमोदन करना; इन तीन को विषय करने वाला है, उस जघन्य (निकृष्ट) रौद्रध्यान का चिन्तन अविरत—व्रतरहित मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृटि और देशतः असंयत—पांचवें गुणस्थानवर्ती श्रावकों के मन द्वारा किया जाता है । अभिप्राय यह है कि उक्त चार प्रकार के रौद्रध्यान में से प्रत्येक कृत, कारित और अनुमोदित के भेद से तीन प्रकार का है और वह पहिले से पांचवें गुणस्थान तक होता है, आगे के प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में वह नहीं होता ॥२३॥

वह चार प्रकार का रौद्रध्यान किस प्रकार के जीव के होता है और क्या करता है, इसे आगे प्रगट करते है—

एयं चउव्विहं राग-दोस-मोहाउलस्स जीवस्स ।
रोद्दज्झाणं संसारवद्धणं नरयगइमूलं ॥२४॥

'एतत्' अनन्तरोक्तम्, चतुर्विधम् चतुष्प्रकारं राग-द्वेष-मोहाङ्कितस्य, आकुलस्य वेति पाठान्तरम् । कस्य ? जीवस्य आत्मनः । किम् ? रौद्रध्यानमिति, इयमत्र चतुष्टयस्यापि क्रिया, किंविशिष्टमिदमित्यत आह—'संसारवर्द्धनम्' ओघतः, 'नरकगतिमूलं' विशेषत इति गाथार्थः ॥२४॥ साम्प्रतं रौद्रध्यायिनो लेश्याः प्रतिपाद्यन्ते—

काविोय-नील-काला लेसाओ तिव्वसंकलिट्ठाओ ।
रोद्दज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ॥२५॥

पूर्ववद् व्याख्येयाः, एतावांस्तु विशेषः—तीव्रसंक्लिष्टा अतिसंक्लिष्टा एता इति ॥२५॥ आह—कथं पुनः रौद्रध्यायी ज्ञायत इति ? उच्यते—लिङ्गेभ्यः, तान्येवोपदर्शयति—

लिंगाइं तस्स उस्सण्ण-बहुल-नाणाविहाऽऽमरणदोसा ।
तेसिं चिय हिंसाइसु बाहिरकरणोवउत्तस्स ॥२६॥

'लिङ्गानि' चिह्नानि 'तस्य' रौद्रध्यायिनः, 'उत्सन्न-बहुल-नानाविधाऽऽमरणदोषाः' इत्यत्र दोषशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते—उत्सन्नदोषः बहुलदोषः नानाविधदोषः आमरणदोषश्चेति । तत्र हिंसानुबन्ध्यादीनामन्यतरस्मिन् प्रवर्तमानः, उत्सन्नम् अनुपरतं बाहुल्येन प्रवर्तते इत्युत्सन्नदोषः । सर्वेष्वपि चैवमेव प्रवर्तत इति बहुलदोषः । नानाविधेषु त्वक्त्वक्षण-नयनोत्खननादिषु हिंसाद्युपायेष्वसकृदप्येवं प्रवर्तते इति नानाविधदोषः । महदापद्गतोऽपि स्वतः, महदापद्गतेऽपि च परे आमरणादसञ्जातानुतापः कालसौकरिकवत् अपि त्वसमाप्तानुतापानुशयपर इत्यामरणदोष इति। तेष्वेव हिंसादिषु, आदिशब्दान्मृषावादादिपरिग्रहः, ततश्च तेष्वेव हिंसानुबन्ध्यादिषु चतुर्भेदेषु । किम् ? बाह्यकरणोपयुक्तस्य सत उत्सन्नादिदोषलिङ्गानीति, बाह्यकरणशब्देनेह

वह चार प्रकार का रौद्रध्यान राग, द्वेष और मोह से व्याकुल जीव के होता है । वह सामान्य से उसके संसार को बढ़ाने वाला है तथा विशेष रूप से वह नरकगति का मूल कारण है ॥२४॥

आगे रौद्रध्यानी के सम्भव लेश्याओं का निर्देश किया जाता है—

रौद्रध्यान को प्राप्त हुए जीव के कर्मपरिपाक से होने वाली कापोत, नील और कृष्ण ये तीन अतिशय संकिलिष्ट अशुभ लेश्यायें हुआ करती हैं । जिस प्रकार काले आदि रंग वाले किसी पदार्थ की समीपता से स्फटिक मणि में कृष्ण वर्णादि रूप परिणमन हुआ करता है उसी प्रकार कर्म के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है उसका नाम लेश्या है और वह कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल के भेद से छह प्रकार की है ॥२५॥

आगे रौद्रध्यानी के चिह्नों को दिखलाते हैं—

उक्त हिंसानुबन्धी आदि चार प्रकार के रौद्रध्यान में बाह्य करण—वचन और काय—से उपयुक्त—उपयोग युक्त होकर प्रवृत्त हुए—रौद्रध्यानी जीव के उत्सन्नदोष, बहुलदोष, नानाविधदोष और आमरणदोष ये दोष होते हैं । ये उसके लिंग—ज्ञापक चिह्न हैं, जिनके द्वारा वह पहिचाना जाता है ॥

विवेचन—रौद्रध्यानी जीव सदा हिंसादि पापों में प्रवर्तमान रहता है, अतः उसके उक्त चार के दोष देखे जाते हैं । पूर्वोक्त हिंसानुबन्धी आदि चार प्रकार के रौद्रध्यान में से किसी एक में जो वह बहुलता से प्रवर्तमान रहता है, यह उसका उत्सन्न दोष है । वह उक्त सभी रौद्रध्यानों में जो इसी प्रकार से—बहुलता से—प्रवृत्त रहता है, यह उसका अनुमापक बहुल दोष है । वह चमड़ी के छीलने एवं नेत्रों के उखाड़ने आदिरूप हिंसा के उपायों में जो निरन्तर इसी प्रकार से प्रवृत्त रहता है, इसे उसका ज्ञापक नानाविधदोष जानना चाहिए । वह स्वयं भारी आपत्ति से ग्रस्त होकर तथा वैसी ही आपत्ति से ग्रस्त दूसरे के विषय में भी कालसौकरिक के समान जीवन पर्यन्त पश्चात्ताप से रहित होता है, यह उसका परिचायक आमरण नाम का दोष है ॥२६॥ और भी

वाक्कायौ गृह्येते, ततश्च ताभ्यामपि तीव्रमुपयुक्तस्येति गाथार्थः ॥२६॥ किं च—

परवसणं अहिनंदइ निरवेक्खो निद्दओ निरणुतावो ।
हरिसिज्जइ कयपावो रोद्दज्झाणोवगयचित्तो ॥२७॥

इहाऽऽत्मव्यतिरिक्तो योऽन्यः स परस्तस्य व्यसनम् आपत् परव्यसनम्, तत् 'अभिनन्दति' अतिक्लिष्टचित्तत्वाद् बहु मन्यत इत्यर्थः—शोभनमिदं यदेतदित्थं संवृत्तमिति, तथा 'निरपेक्षः' इहान्यभविकापायभयरहितः, तथा निर्गतदयो निर्दयः, परानुकम्पाशून्य इत्यर्थः, तथा निर्गतानुतापो निरनुतापः, पश्चात्तापरहित इति भावः, तथा किं च—'हृष्यते' तुष्यति 'कृतपापः' निर्वर्तितपापः सिंहमारकवत्, क इत्यत आह—रौद्रध्यानोपगतचित्त इति, अमूनि च लिङ्गानि वर्तन्त इति गाथार्थः ॥२७॥ उक्तं रौद्रध्यानम्, साम्प्रतं धर्मध्यानावसरः, तत्र तदभिधित्सयैवादाविदं द्वारगाथाद्वयमाह—

झाणस्स भावणाओ देसं कालं तहाऽऽसणविसेसं ।
आलंबणं कमं झाइयव्वयं जे य झायारो ॥२८॥
तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंगं फलं च नाऊणं ।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं ॥२९॥

ध्यानस्य प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य । किम् ? 'भावनाः' ज्ञानाद्याः, ज्ञात्वेति योगः, किं च—देशं तदुचितम्, कालं तथा आसनविशेषं तदुचितमिति, आलम्बनं वाचनादि, क्रमं मनोनिरोधादि, तथा ध्यातव्यं ध्येयमाज्ञादि, तथा ये च ध्यातारः अप्रमादादियुक्ताः, ततः अनुप्रेक्षाः ध्यानोपरमकालभाविन्योऽनित्यत्वाद्यालोचनारूपाः, तथा लेश्याः शुद्धा एव, तथा लिङ्गं श्रद्धानादि, तथा फलं सुरलोकादि, च-शब्दः स्वगतानेकभेदप्रदर्शनपरः, एतद् ज्ञात्वा । किम् ? धर्म्यम् इति धर्मध्यानं ध्यायेन्मुनिरिति । तत्कृतयोगः धर्मध्यानकृताभ्यासः, ततः पश्चात् शुक्लध्यानमिति गाथाद्वयसमासार्थः ॥२८-२९॥ व्यासार्थं तु प्रतिद्वारं ग्रन्थकारः स्वयमेव वक्ष्यति, तत्राऽऽद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ ।
ताओ य नाण-दंसण-चरित्त-वेरग्गनियताओ ॥३०॥

पूर्वं—ध्यानात् प्रथमम्, कृतः निर्वर्तितोऽभ्यासः आसेवनालक्षणो येन स तथाविधः, काभिः पूर्वकृताभ्यासः ? भावनाभिः करणभूताभिः, भावनासु वा भावनाविषये, पश्चाद् ध्यानस्य अधिकृतस्य, योग्यताम् अनुरूपताम्, उपैति यातीत्यर्थः, ताश्च भावना ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्यनियता वर्तन्ते, नियताः परिच्छि-

---

जिसका चित्त रौद्रध्यान में व्यापृत रहता है वह दूसरे की आपत्ति में प्रसन्न होता हुआ उसके विनाश के भय से रहित और दया से विहीन होता है, तथा इसके लिए वह पश्चाताप भी नहीं करता । साथ ही वह पापाचरण करके हर्षित भी होता है ॥२७॥

इस प्रकार रौद्रध्यान के कथन को समाप्त करके आगे धर्मध्यान की प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः दो द्वारगाथाओं का निर्देश करते हैं—

मुनि को ज्ञानादि भावनाओं, देश, काल, आसनविशेष, आलम्बन, क्रम, ध्यातव्य, ध्याताओं, अनुप्रेक्षाओं, लेश्याओं, लिंग और फल को जानकर धर्मध्यान का चिन्तन करना चाहिए । इस प्रकार धर्मध्यान का अभ्यास करके तत्पश्चात् शुक्लध्यान का चिन्तन करना चाहिए ॥२८-२९॥

आगे यथाक्रम से इन द्वारों का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार प्रथमतः भावनाओं के प्रयोजन और उनके विषय को स्पष्ट करते हैं—

जिसने ध्यान से पूर्व भावनाओं के द्वारा अथवा उनके विषय में अभ्यास कर लिया है वह ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है—ध्यान करने के योग्य होता है । वे भावनायें ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य से नियत हैं—उनसे सम्बद्ध हैं। गाथागत 'नियताओ' के स्थान में 'जणियाओ' पाठान्तर के अनुसार यह अर्थ होगा—उक्त भावनायें ज्ञान, दर्शन और चारित्र से उत्पन्न होती हैं ॥३०॥

ख्याः, पाठान्तरं वा जनिता इति गाथार्थः ॥३०॥ साम्प्रतं ज्ञानभावनास्वरूप-गुणदर्शनायेदमाह—

णाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च ।
नाणगुणमुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ ॥३१॥

ज्ञाने श्रुतज्ञाने, नित्यं सदा, अभ्यासः आसेवनालक्षणः, करोति निर्वर्तयति । किम्? मनसः अन्तःकरणस्य, चेतस इत्यर्थः, धारणम् अशुभव्यापारनिरोधेनावस्थानमिति भावना तथा 'विशुद्धिं च' तत्र विशोधनं विशुद्धिः सूत्रार्थयोरिति गम्यते, ताम्, च-शब्दाद् भवनिर्वेदं च, एवं 'ज्ञानगुणमुणितसारः' इति—ज्ञानेन गुणानां जीवाजीवाश्रितानाम् 'गुण-पर्यायवत् द्रव्यम्' [त. सू. ५–३७] इति वचनात्, पर्यायाणां च तदविनाभाविनाम्, मुणितः ज्ञातः सारः परमार्थो येन स तथोच्यते, ज्ञानगुणेन वा ज्ञानमाहात्म्येनेति भावः, ज्ञातः सारो येन, विश्वस्येति गम्यते, स तथाविधः । ततश्च पश्चाद् 'ध्यायति' चिन्तयति । किंविशिष्टः सन् ? सुष्ठु—अतिशयेन निश्चला निष्प्रकम्पा सम्यग्ज्ञानतोऽन्यथाप्रवृत्तिकम्परहितेति भावः, मतिः बुद्धिर्यस्य स तथाविध इति गाथार्थः ॥३१॥ उक्ता ज्ञानभावना, साम्प्रतं दर्शनभावनास्वरूप-गुणदर्शनार्थमिदमाह—

संकाइदोसरहिओ पसम-थेज्जाइगुणगणोवेओ ।
होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए झाणंमि ॥३२॥

'शङ्कादिदोषरहितः' शङ्कनं शङ्का, आदिशब्दात् काङ्क्षादिपरिग्रहः, उक्तं च—'शङ्का-काङ्क्षा-विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसा-परपाषण्डसंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः [त. सू. ७–१८] इति, एतेषां च स्व-

---

अब ज्ञानभावना के स्वरूप व उसके गुण के प्रगट करने के लिए यह कहा जाता है—

ज्ञान (श्रुतज्ञान) के विषय में निरन्तर किया गया अभ्यास मनके धारण को करता है—उसे अशुभ व्यापार से रोक कर स्थिर करता है—तथा सूत्र और अर्थविषयक विशुद्धि को भी करता है । इस प्रकार ज्ञान के द्वारा जिसने गुणों के—जीव और अजीव में रहने वाले गुणों एवं उनकी अविनाभावी पर्यायों के भी—सार (यथार्थता) को जान लिया है अथवा ज्ञान गुण के द्वारा जिसने विश्व के सार (यथार्थ स्वरूप को) जान लिया है वह अतिशय स्थिरबुद्धि होकर ध्यान करता है । अभिप्राय यह है कि ज्ञान के अभ्यास से ध्यान की कारणभूत मन की स्थिरता होती है, अतः ध्यान की सिद्धि के लिए ज्ञान का अभ्यास करना आवश्यक है ॥३१॥

अब दर्शनभावना के स्वरूप और गुण को दिखलाते हैं—

जो शंका-कांक्षादि दोषों से रहित होकर प्रशम—स्वमत और परमत सम्बन्धी तत्त्वविषयक परिज्ञान से उत्पन्न प्रकृष्ट श्रम—अथवा प्रशम एवं जिनशासनविषयक स्थिरता आदि गुणों के समूह से युक्त होता है उसका मन दर्शनविशुद्धि के कारण ध्यान के विषय में मूढता (विपरीतता) को प्राप्त नहीं होता ॥

विवेचन—जीवादि पदार्थ जिस स्वरूप से अवस्थित हैं उनका उसी रूप से श्रद्धान करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है । उसके ये पांच दोष (अतिचार) हैं जो उसको मलिन किया करते हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा अथवा विद्वज्जुगुप्सा, परपाषण्डप्रशंसा और परपाषण्डसंस्तव । जिनप्ररूपित पदार्थों में जो धर्मास्तिकाय आदि गहन पदार्थ हैं उनका बुद्धि की मन्दता के कारण निश्चय न होने पर 'अमुक पदार्थ ऐसा ही होगा या अन्यथा होगा' इस प्रकार से सन्देह करना, यह शंका कहलाती है । वह देशशंका और सर्वशंका के भेद से दो प्रकार की है । आत्मा क्या असंख्य प्रदेशों वाला है या प्रदेशों से रहित निरवयव है, इस प्रकार देशविषयक शंका का नाम देशशंका है । समस्त अस्तिकाय क्या ऐसे ही होंगे या अन्य प्रकार होंगे, इस प्रकार समस्त ही अस्तिकायों के स्वरूप में सन्देह करना, यह सर्वशंका कहलाती है । इस प्रकार का सन्देह मिथ्यात्वरूप ही है । कहा भी गया है—

पयमक्खरं च एक्कं जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं ।
सेसं रोयंतोवि हु मिच्छद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥

अर्थात् जिसको सूत्रनिर्दिष्ट एक पद या अक्षर भी नहीं रुचता है उसे शेष अन्य सबके रुचने पर

रूपं प्रत्याख्यानाध्ययने न्यक्षेण वक्ष्यामः, तत्र शङ्कादय एव सम्यक्त्वाख्यप्रथमगुणातिचारत्वात् दोषाः शङ्कादिदोषास्तैः रहितः त्यक्तः, उक्तदोषरहितत्वादेव किम् ? 'प्रश(श्र)म-स्थैर्यादिगुणगणोपेतः' तत्र प्रकर्षेण

भी मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये। इसका कारण यह है कि किसी एक पदार्थ के विषय में भी यदि सन्देह बना रहता है तो निश्चित है कि उसकी सर्वज्ञ व वीतराग जिनके ऊपर श्रद्धा नहीं है। शंकाशील प्राणी किस प्रकार से नष्ट होता है और इसके विपरीत निःशंक व्यक्ति किस प्रकार सुखी होता है, इसके लिए पेयापापी दो बालकों का उदाहरण दिया जाता है।

दूसरा दोष कांक्षा है। सुगतादिप्रणीत विभिन्न दर्शनों के विषय में जो अभिलाषा होती है उसे कांक्षा कहा जाता है। वह भी देश और सर्व के भेद से दो प्रकार की है। अनेक दर्शनों में से किसी एक ही दर्शन के विषय में जो अभिलाषा होती है वह देशकांक्षा कहलाती है। जैसे सुगत (बुद्ध) प्रणीत दर्शन उत्तम है, क्योंकि उसमें चित्त के जय की प्ररूपणा की गई है और वही मुक्ति का प्रधान कारण है, इत्यादि। सभी दर्शनों की अभिलाषा करना, यह सर्वकांक्षा का लक्षण है। कपिल, कणाद और अक्षपाद आदि के द्वारा प्रणीत सभी मतों में अहिंसा का प्रतिपादन किया गया है तथा उनमें ऐहिक क्लेश का भी प्रतिपादन नहीं किया गया, अतएव वे उत्तम हैं; इत्यादि। अथवा इस लोक और परलोक सम्बन्धी सुखादि की अभिलाषा करना, इसे कांक्षा दोष जानना चाहिये। जिनागम में उभय लोक सम्बन्धी सुखादि की अभिलाषा का निषेध किया गया है। इसलिए वह भी सम्यक्त्व के अतिचार रूप है। एक मात्र मोक्ष की अभिलाषा को छोड़ कर अन्य किसी भी प्रकार की अभिलाषा सम्यक्त्व की घातक ही है। कांक्षा करने और न करने के फल को प्रगट करने के लिए राजा और अमात्य का उदाहरण दिया जाता है।

सम्यक्त्व का तीसरा दोष विचिकित्सा अथवा विद्वज्जुगुप्सा है। जो पदार्थ युक्ति और आगम से भी घटित होता है उनके फल के प्रति सन्दिग्ध रहना, इसका नाम विचिकित्सा है। ऐसी विचिकित्सा वाला व्यक्ति सोचता है कि अतिशय कष्ट के कारणभूत इन कनकावली आदि तपों का परिणाम में कुछ फल भी प्राप्त होने वाला है या यों ही कष्ट सहन करना है। कारण कि लोक में कृषक (किसान) आदि की क्रियायें सफल और निष्फल दोनों ही प्रकार की देखी जाती हैं। शंका जहां समस्त व असमस्त द्रव्य-गुणों को विषय करती है वहाँ यह विचिकित्सा केवल क्रिया को ही विषय करती है, अतएव इसे शंका से भिन्न समझना चाहिए। इसके सम्बन्ध में एक चोर का उदाहरण दिया गया है।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, सम्यक्त्व का तीसरा दोष विकल्परूप में विद्वज्जुगुप्सा भी है। जिन्होंने संसार के स्वभाव को जानकर समस्त परिग्रह का परित्याग कर दिया है वे साधु विद्वान् माने जाते हैं, उनकी जुगुप्सा या निन्दा करना; इसका नाम विद्वज्जुगुप्सा है। जैसे—ये साधु स्नान नहीं करते, उनका शरीर पसीने से मलिन व दुर्गन्धयुक्त रहता है, यदि वे प्रासुक जल से स्नान कर लें तो क्या हानि होने वाली है, इत्यादि प्रकार की साधुनिन्दा। ऐसी निन्दा करना उचित नहीं हैं, कारण कि शरीर तो स्वभावतः मलिन ही है। इसके विषय में एक श्रावकपुत्री का उदाहरण दिया जाता है।

सम्यक्त्व का चौथा दोष है परपाषण्डप्रशंसा। परपाषण्ड का अर्थ है सर्वज्ञप्रणीत पाषण्डों से भिन्न अन्य पाखण्डी—क्रियावादी (१८०), अक्रियावादी (८४), अज्ञानिक (६७) और वैनयिक (३२) रूप तीन सौ तिरेसठ प्रकार के मिथ्यादृष्टि। उनकी प्रशंसा या स्तुति करना, इसका नाम परपाषण्डप्रशंसा है। इसके सम्बन्ध में पाटलिपुत्रवासी चाणक्य का उदाहरण दिया जाता है।

पाँचवाँ सम्यक्त्व का दोष है परपाषण्डसंस्तव। पूर्वोक्त पाषण्डियों के साथ रहकर भोजन व वार्तालापादि रूप परिचय बढ़ाना, यह परपाषण्डसंस्तव कहलाता है। यहाँ सौराष्ट्रवासी श्रावक का उदाहरण दिया गया है।

श्रमः प्रश्रमः खेदः, स च स्व-परसमयतत्त्वाधिगमरूपः, स्थैर्यं तु जिनशासने निष्प्रकम्पता, आदिशब्दात्प्रभावनादिपरिग्रहः, उक्तं च—स-परसमयकोसल्लं थिरया जिणसासणे पभावणया। आययणसेव भत्ती दंसणदीवा गुणा पंच ॥१॥ प्रश्रम-स्थैर्यादय एव गुणास्तेषां गणः समूहस्तेनोपेतो युक्तो यः स तथाविधः, अथवा प्रशमादिना स्थैर्यादिना च गुणगणेनोपेतः २, तत्र प्रशमादिगुणगणः प्रशम-संवेग-निर्वेदाऽनुकम्पाऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणः, स्थैर्यादिस्तु दर्शित एव, य इत्थम्भूतः असौ भवति 'असम्मूढमनाः' तत्त्वान्तरेऽभ्रान्तचित्त इत्यर्थः, दर्शनशुद्धया उक्तलक्षणया हेतुभूतया, क्व ? ध्यान इति गाथार्थः ॥३२॥ उक्ता दर्शनभावना, साम्प्रतं चारित्रभावनास्वरूप-गुणदर्शनायेदमाह—

नवकम्माणायाणं पोराणविणिज्जरं सुभायाणं।
चारित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समेइ ॥३३॥

'नवकर्मणामनादानम्' इति नवानि उपचीयमानानि प्रत्यग्राणि भण्यन्ते, क्रियन्त इति कर्माणि ज्ञानावरणीयादीनि, तेषामनादानम् अग्रहणं चारित्रभावनया, समेति गच्छतीति योगः, तथा 'पुराणविनिर्जराम्' चिरन्तनक्षपणामित्यर्थः, तथा 'शुभादानम्' इति शुभं पुण्यं सात-सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद-शुभायुर्नाम-गोत्रात्मकम्, तस्याऽऽदानम् ग्रहणम्। किम् ? चारित्रभावनया हेतुभूतया ध्यानम्, च-शब्दान्नवकर्मानादानादि च, अयत्नेन अक्लेशेन समेति गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः। तत्र चारित्रभावनयेति कोऽर्थः ? 'चर गति-भक्षणयोः' इत्यस्य 'अति-लू-धू-सू-खनि-सहि-चर इत्रन्' [पा. ३-२-१८४] इतीत्रन्प्रत्ययान्तस्य चरित्रमिति भवति, चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रं क्षयोपशमरूपम्, तस्य भावश्चारित्रम्। एतदुक्तं भवति—इहान्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसञ्चयापचयाय चरणभावश्चारित्रमिति, सर्वसावद्ययोगविनिवृत्तिरूपा क्रिया इत्यर्थः, तस्य भावना अभ्यासश्चारित्रभावनेति गाथार्थः ॥३३॥ उक्ता चारित्रभावना। साम्प्रतं वैराग्यभावनास्वरूप-गुणदर्शनार्थमाह—

सुविदियजगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्गभावियमणो झाणंमि सुनिच्चलो होइ ॥३४॥

सम्यक्त्व को कलुषित करने वाले इन दोषों से रहित होकर जो प्रश्रम व स्थैर्य आदि गुणों से युक्त है वह इस दर्शनविशुद्धि के द्वारा ध्यान में दिग्भ्रान्त नहीं होता। गाथोक्त 'पसम' शब्द का संस्कृत रूप प्रश्रम और प्रशम होता है। तदनुसार प्रश्रम का अर्थ स्वसमय और परसमय सम्मत तत्त्वों के अभ्यास से उत्पन्न होने वाला खेद है। प्रशम के आश्रय से प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन सम्यक्त्व के परिचायक गुणों का ग्रहण किया गया है। स्थैर्य से जिनशासनविषयक स्थिरता अभिप्रेत है ॥३२॥

अब चारित्रभावना के स्वरूप और उसके गुण को दिखलाते हुए यह कहा जाता है—

चारित्रभावना के द्वारा नवीन कर्मों के ग्रहण का अभाव, पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा, शुभ (पुण्य) कर्मों का ग्रहण और ध्यान; ये बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के ही प्राप्त होते हैं ॥

विवेचन—सर्वसावद्ययोग (पापाचरण) की निवृत्ति का नाम चारित्र और उसके अभ्यास का नाम चारित्रभावना है। इस चारित्रभावना से वर्तमान में आते हुए ज्ञानावरणादि कर्मों का निरोध होता है तथा पूर्वोपार्जित उन्हीं कर्मों की निर्जरा भी होती है। इसके अतिरिक्त उक्त चारित्रभावना के प्रभाव से सातावेदनीय, सम्यक्त्व, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र; इन पुण्य प्रकृतियों के ग्रहण के साथ ध्यान की भी प्राप्ति होती है। ये सब उस चारित्रभावना के आश्रय से अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं ॥३३॥

आगे वैराग्यभावना के स्वरूप व उसके गुण को प्रगट करते हैं—

जिसने चराचर जगत् के स्वभाव को भलीभाँति जान लिया है तथा जो संग (विषयासक्ति), भय और आशा से रहित हो चुका है उसका अन्तःकरण चूंकि वैराग्यभावना से सुसंस्कृत हो जाता है इसी-

सुष्ठु अतीव, विदितः ज्ञातो जगतः चराचरस्य, यथोक्तम्—जगन्ति जङ्गमान्याहुर्जगद् ज्ञेयं चराचरम् । स्वो भावः स्वभावः—जन्म मरणाय नियतं बन्धुर्दुःखाय धनमनिर्वृतये । तन्नास्ति यन्न विपदे तथापि लोको निरालोकः ॥१॥ इत्यादिलक्षणो येन स तथाविधः, कदाचिदेवम्भूतोऽपि कर्मपरिणतिवशात्ससङ्गो भवत्यत आह—'निःसङ्गः' विषयजस्नेहसङ्गरहितः, एवम्भूतोऽपि च कदाचित्सभयो भवत्यत आह—'निर्भयः' इहलोकादिसप्तभयविप्रमुक्तः, कदाचिदेवम्भूतोऽपि विशिष्टपरिणत्यभावात्परलोकमधिकृत्य साशंसो भवत्यत आह—'निराशंसश्च' इह-परलोकाशंसाविप्रमुक्तः, च-शब्दात्तथाविधक्रोधादिरहितश्च, य एवंविधो वैराग्यभावितमना भवति स खल्वज्ञानाद्यपद्रवरहितत्वाद् ध्याने सुनिश्चलो भवतीति गाथार्थः ॥३४॥ उक्ता वैराग्यभावना, मूलद्वारगाथाद्वये ध्यानस्य भावना इति व्याख्यातम् । अधुना देशद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह—

निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसग-कुसीलवज्जियं जइणो ।

लिए वह ध्यान में अतिशय स्थिर हो जाता है—उससे कभी विचलित नहीं होता ॥

विवेचन—'तांस्तान् देव-मनुष्य-तिर्यङ्नारकपर्यायान् अत्यर्थं गच्छतीति जगत्' इस निरुक्ति के अनुसार बार-बार देव-मनुष्यादि अवस्थाओं को प्राप्त करने वाले प्राणिसमूह का नाम ही जगत् है। जगत्, लोक और संसार ये समानार्थक शब्द हैं। वह जगत् अनित्य व अशरण होकर 'यह मेरा है और मैं इसका स्वामी हूं'[1] इस प्रकार के मिथ्या अहंकार से ग्रसित होता हुआ जन्म, जरा और मरण से आक्रान्त है। जो जन्मता है वह मरता अवश्य है और मरण का दुख ही सर्वाधिक दुख माना जाता है। आचार्य समन्तभद्र का यह कथन सर्वथा अनुभवगम्य है—यह अज्ञानी प्राणी मृत्यु से डरता है, परन्तु उसे उससे छुटकारा मिलता नहीं है। साथ ही वह सुख को चाहता है, पर वह भी उसे इच्छानुसार प्राप्त नहीं होता। यह जगत् का स्वभाव है। फिर भी अज्ञानी प्राणी इस वस्तुस्थिति को न जानकर निरन्तर मरण के भय से पीड़ित और सुख की अभिलाषा से सदा सन्तप्त रहता है[2]। जड़ शरीर के सम्बन्ध से जो कर्म का बन्धन होता है उससे चेतन—माता-पिता आदि—और अचेतन—धन-सम्पत्ति आदि—इन बाह्य पदार्थों में ममत्वबुद्धि होती है जिसके वशीभूत होकर वह उन विनश्वर पर पदार्थों को स्थायी समझता है व उनके संरक्षण के लिए व्याकुल होता है[3]। वह यह नहीं जानता कि जन्म-मरण का अविनाभावी है, जिन बन्धु जनों को प्राणी अपना मानता है वे वास्तव में दुख के ही कारण हैं, तथा जिस धन से वह सुख की कल्पना करता है वह सुख का साधन न होकर तृष्णाजनित दुख का ही कारण होता है, इस प्रकार लोक में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो दुख का कारण न हो, ऐसी वस्तुस्थिति के होते हुए भी खेद है कि यह अज्ञानी प्राणी अपनी अज्ञानता से स्वयं दुखी हो रहा है। इस प्रकार के जगत् के स्वभाव को जो जान चुका है उसे न तो विषयों में आसक्ति रहती है, न इहलोक व परलोकादि सात भयों में से कोई भय भी पीड़ित करता है, और न इस लोक व परलोक सम्बन्धी किसी सुख की इच्छा भी रहती है। इस प्रकार वह अपने अन्तःकरण के वैराग्य से सुवासित हो जाने के कारण ध्यान में अतिशय निश्चल हो जाता है ॥३४॥

इस प्रकार भावना के भेद व उनके स्वरूप को दिखलाकर अब क्रमप्राप्त देशद्वार का निरूपण करते हैं—

साधु का स्थान तो सदा ही युवति—मनुष्यस्त्री व देवी, पशु—तिर्यंचस्त्री, नपुंसक और

---

१. अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम् ।
इदं जगज्जन्म-जरान्तकार्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥ बृ. स्वयंभूस्तोत्र १२.

२. बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः ।
तथापि बालो भय-कामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥ बृ. स्वयंभू. ३४.

३. अचतने तत्कृतबन्धजेऽपि ममेदमित्याभिनिवेशकग्रहात् ।
प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद् भवान् ॥ बृ. स्वयंभू. १७.

ठाणं वियण भणियं विसेसओ झाणकालंमि ॥३५॥

'नित्यमेव' सर्वकालमेव, न केवलं ध्यानकाल इति। किम् ? 'युवति-पशु-नपुंसक-कुशीलपरिवर्जितं यतेः स्थानं विजनं भणितम्' इति। तत्र युवतिशब्देन मनुष्यस्त्री देवी च परिगृह्यते, पशुशब्देन तु तिर्यक्स्त्रीति, नपुंसकं प्रतीतम्, कुत्सितं निन्दितं शीलं वृत्तं येषां ते कुशीलाः, ते च तथाविधा द्यूतकारादयः, उक्तं च—जूइयर-सोलमेंठा वट्टा उब्भायगादिणो जे य। एए होंति कुसीला वज्जेयव्वा पयत्तेणं ॥१॥' युवतिश्च पशुश्चेत्यादि द्वन्द्वः, युवत्यादिभिः परि—समन्तात् वर्जितम्—रहितमिति विग्रहः, यतेः तपस्विनः साधोः, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्' इति साध्व्याश्च योग्यं यतिनपुंसकस्य च। किम् ? स्थानम् अवकाशलक्षणम्, तदेव विशेष्यते—युक्त्यादिव्यतिरिक्तशेषजनापेक्षया विगतजनं विजनं भणितम् उक्तं तीर्थकरैर्गणधरैश्चेदमेवम्भूतं नित्यमेव, अन्यत्र प्रवचनोक्तदोषसम्भवात्। विशेषतो ध्यानकाल इत्यपरिणतयोगादिनाऽन्यत्र ध्यानस्याऽऽराधयितुमशक्यत्वादिति गाथार्थः ॥३५॥ इत्थं तावदपरिणतयोगादीनां स्थानमुक्तम्, अधुना परिणतयोगादीनधिकृत्य विशेषमाह—

थिर-कयजोगाणं पुण मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं।
गामंमि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥३६॥

तत्र स्थिराः संहनन-धृतिभ्यां बलवन्त उच्यन्ते, कृता निर्वर्तिताः, अभ्यस्ता इति यावत्। के ? युज्यन्त इति योगाः ज्ञानादिभावनाव्यापाराः सत्त्व-सूत्र-तपःप्रभृतयो वा यैस्ते कृतयोगाः, स्थिराश्च ते कृतयोगाश्चेति विग्रहस्तेषाम्। अत्र च स्थिर-कृतयोगयोश्चतुर्भङ्गी भवति। तद्यथा—'थिरे णामेगे णो कयजोगे इत्यादि, स्थिरा वा, पौनःपुन्यकरणेन परिचिताः कृता योगा यैस्ते तथाविधास्तेषाम्। पुनःशब्दो विशेषणार्थः। किम्। विशिनष्टि ? तृतीयभङ्गवतां न शेषाणाम्, स्वभ्यस्तयोगानां वा मुनीनामिति, मन्यन्ते जीवादीन् पदार्थानिति मुनयो—विपश्चित्साधवस्तेषां च, तथा ध्याने—अधिकृत एव धर्मध्याने सुष्ठु अतिशयेन निश्चलं निष्प्रकम्पं मनो येषां ते तथाविधास्तेषाम्, एवंविधानां स्थानं प्रति ग्रामे जनाकीर्णे शून्येऽरण्ये वा न विशेष इति। तत्र ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान् गम्यो वा करादीनामिति ग्रामः सन्निवेशविशेषः, इह 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्' नगर-खेट-कर्वटादिपरिग्रह इति, जनाकीर्णे जनाकुले ग्राम एवोद्यानादौ वा, तथा शून्ये तस्मिन्नेवारण्ये वा कान्तारे वेति, वा विकल्पे, न विशेषो न भेदः, सर्वत्र तुल्यभावत्वात्परिणतत्वात्तेषामिति

कुशील[1]—जुआरी आदि निन्द्य आचरण करने वालों से रहित निर्जन कहा गया है; फिर ध्यान के समय तो वह विशेष रूप से उपर्युक्त जनों से हीन होना चाहिए ॥३५॥

ऊपर जो ध्यान के योग्य स्थान का निर्देश किया गया है वह अपरिणत (अपरिपक्व) योग आदि वाले साधु को लक्ष्य करके किया गया है, आगे परिणत योग आदि से युक्त साधु को लक्ष्य करके उसमें विशेषता प्रगट की जाती है—

जो मुनि स्थिर—संहनन और धैर्य से बलवान्—और कृतयोग हैं—ज्ञानादि भावनाओं के व्यापार से अथवा सत्त्व, सूत्र व तप आदि से संयुक्त हैं—उनका मन चूंकि अतिशय स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, अतएव उनके लिए जनसमूह से व्याप्त गांव में और निर्जन वन में कुछ विशेषता नहीं है—वे स्त्रियों आदि के आवागमन से व्याप्त गांव के बीच में और एकान्त वन में भी स्थिरतापूर्वक ध्यान कर सकते हैं ॥

विवेचन—**'मन्यते जीवादीन् पदार्थात् इति मुनिः' इस निरुक्ति के अनुसार जो जीवादि पदार्थों को जानता है उसका नाम मुनि है। तदनुसार जिन साधुओं ने जीवाजीवादि तत्त्वों को भलीभाँति जान लिया है उनका मन अतिशय निश्चल हो जाता है। इसलिए वे गांव या वन में कहीं पर भी स्थित होकर ध्यान कर सकते हैं। आचार्य अमितगति ने यह ठीक ही कहा है—**

जो विद्वान् साधु पर पदार्थों से भिन्न आत्मा में आत्मा का अवलोकन कर रहा है वह यह विचार करता है कि हे आत्मन् ! तू ज्ञान-दर्शनस्वरूप अतिशय विशुद्ध है। ऐसा साधु एकाग्रचित्त होकर जहाँ

---

१. जूइयर-सोलमेंट्ठा उब्भायगादिणो जे य। एए होंति कुसीला वज्जेयव्वा पयत्तेण ॥
(हरि. टीका में उद्धत)

गाथार्थः ॥३६॥ यतश्चैवं—

जो [तो] जत्थ समाहाणं होज्ज मणोवयण-कायजोगाणं ।
भूओवरोहरहिओ सो देसो झायमाणस्स ॥३७॥

यत एवं तदुक्तं 'ततः' तस्मात्कारणाद् 'यत्र' ग्रामादौ स्थाने 'समाधानं' स्वास्थ्यं 'भवति' जायते, केषामित्यत आह—'मनोवाक्काययोगानां' प्राग्निरूपितस्वरूपाणामिति । आह—मनोयोगसमाधानमस्तु, वाक्काययोगसमाधानं तत्र क्वोपयुज्यते, न हि तन्मयं ध्यानं भवति ? अत्रोच्यते—तत्समाधानं तावन्मनोयोगोपकारकम्, ध्यानमपि च तदात्मकं भवत्येव । यथोक्तम्—'एवंविहा गिरा मे वत्तव्वा एरिसी न वत्तव्वा । इय वेयालियवक्कस्स भासओ वाइगं झाणं ॥१॥ तथा—सुसमाहियकर-पायस्स अकज्जे कारणंमि जयणाए । किरियाकरणं जं तं काइयझाणं भवे जइणो ॥२॥ न चात्र समाधानमात्रकारित्वमेव गृह्यते, किन्तु भूतोपरोधरहितः, तत्र भूतानि पृथिव्यादीनि, उपरोधः तत्सङ्घट्टनादिलक्षणः, तेन रहितः परित्यक्तो यः 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्' अनृतादत्तादान-मैथुन-परिग्रहाद्युपरोधरहितश्च स देशो 'ध्यायतः, चिन्तयतः, उचित इति शेषः, अयं गाथार्थः ॥३७॥ गतं देशद्वारम्, अधुना कालद्वारमभिधित्सुराह—

कालोऽवि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ ।
न उ दिवस-निसा-वेलाइनियमणं झाइणो भणियं ॥३८॥

कलनं कालः कलासमूहो वा कालः, स चार्द्धतृतीयेषु द्वीप-समुद्रेषु चन्द्र-सूर्यगतिक्रियोपलक्षितो

कहीं भी स्थित होता हुआ समाधि को प्राप्त करता है[1] ॥३६॥ इसी कारण से—

इसलिए जहाँ मन, वचन और काय योगों को समाधान (स्वास्थ्य) होता है वही प्रदेश ध्यान करने वाले योगी के लिए उपयुक्त होता है । विशेष इतना है कि वह भूतोपरोध से रहित—प्राणिहिंसा एवं असत्यभाषण आदि से रहित—होना चाहिए ॥

विवेचन—अभिप्राय यह है कि जहाँ पर मन, वचन एवं काय योगों की स्वस्थता है—उनके विकृत होने की सम्भावना नहीं है—तथा जो प्राणिविघात, असत्यता, चोरी, अब्रह्म (मैथुन) और परिग्रह रूप पापाचरण से रहित है वही स्थान ध्यान के लिए उपयोगी माना गया है । यहाँ यह शंका हो सकती है कि ध्यान के लिए मन की स्वस्थता तो अनिवार्य है, किन्तु वचन और काय की स्वस्थता का वहाँ कुछ उपयोग नहीं है, क्योंकि ध्यान वचन व कायरूप नहीं है, वह केवल मनरूप है । इसका समाधान यह है कि वचन और काय की स्वस्थता मनयोग की उपकारक है । दूसरे, ध्यान वचन व कायस्वरूप भी है । कहा भी गया है—

मुझे ऐसे वचन बोलना चाहिए और ऐसे नहीं बोलना चाहिए, इस प्रकार विचारपूर्वक जो बोलता है उसके वाचनिक ध्यान होता है । जो ध्याता मुनि हाथ-पाँवों को स्वाधीन रखता हुआ अयोग्य कार्य नहीं करता है तथा आवश्यक योग्य कार्य को यत्नपूर्वक करता है उसके इस प्रकार के अनुष्ठान को कायिक ध्यान कहा जाता है[1] । इस प्रकार वचन और काय की स्वस्थता चूंकि मनोयोग की उपकारक है—उसे स्वस्थ रखती है, इसलिए उसे भी ध्यानरूप जानना चाहिए ॥३७॥

अब क्रमप्राप्त कालद्वार का निरूपण किया जाता है—

देश के समान काल भी ध्यान के लिए वही योग्य है जिसमें योगों को उत्तम समाधान प्राप्त होता है । ध्याता के लिए दिन, रात और वेला—काल के एक देशरूप मुहूर्त आदि—के नियम

---

१. आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानस्त्वं दर्शन-ज्ञानमयो विशुद्धः ।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥ द्वात्रिंशिका २५.

१. एवंविहा गिरा मे वत्तव्वा एरिसी न वत्तव्वा । इय वेयालियबक्कस्स भासओ वाइगं झाणं ॥ तथा सुसमाहियकर-पायस्स अकज्जे कारणंमि (?) जयणाए । किरियाकरणं जं तं काइयझाणं भवे जइणो ॥ (हरि. टीका उद्.)

दिवसादिरवसेयः, अपिशब्दो देशादिनियमेन तुल्यत्वसम्भावनार्थः । तथा चाह— कालोऽपि स एव, ध्यानोचित इति गम्यते, 'यत्र' काले 'योगसमाधानं' मनोयोगादिस्वास्थ्यम् 'उत्तमं' प्रधानं 'लभते' प्राप्नोति, 'न तु' न पुनर्नैव च तुशब्दस्य पुनःशब्दार्थत्वादेवकारार्थत्वाद्वा । किम् ? दिवस-निशा-वेलादिनियमनं ध्यायिनो भणितमिति । दिवस-निशे प्रतीते, वेला सामान्यत एव, तदेकदेशो मुहूर्तादिः, आदिशब्दात्पूर्वाह्णापराह्णादि वा, एतन्नियमनं दिवैवेत्यादिलक्षणम्, ध्यायिनः सत्त्वस्य भणितम् उक्तं तीर्थकर-गणधरैर्नैवेति गाथार्थः ॥३८॥ गतं कालद्वारम्, साम्प्रतमासनविशेषद्वारं व्याचिख्यासयाऽऽह—

जच्चिय देहावत्था जिया ण झाणोवरोहिणी होइ ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ॥३९॥

इहैव या काचिद् 'देहावस्था' शरीरावस्था निषण्णादिरूपा । किम् ? 'जिता' इत्यभ्यस्ता उचिता वा, तथाऽनुष्ठीयमाना 'न ध्यानोपरोधिनी भवति' नाधिकृतधर्मध्यानपीडाकरी भवतीत्यर्थः, ध्यायेत् तदवस्थ इति—सैवावस्था यस्य स तदवस्थः, तामेव विशेषतः प्राह —'थितः' कायोत्सर्गेणेषन्नतादिना 'निषण्णः' उपविष्टो वीरासनादिना 'निर्विण्णः' सन्निविष्टो दण्डायतादिना 'वा' विभाषायामिति गाथार्थः ॥३९॥ आह —किं पुनरयं देश-कालासनानामनियम इति ? अत्रोच्यते—

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल-चेट्ठासु ।
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा ॥४०॥
तो देस-काल-चेट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि ।
जोगाण समाहाणं जह होइ तहा [प]यइयव्वं ॥४१॥

'सर्वासु' इत्यशेषासु देश-काल-चेष्टासु इति योगः, चेष्टा देहावस्था, किम् ? 'वर्तमानाः' अवस्थिताः, के ? 'मुनयः' प्राग्निरूपितशब्दार्थाः 'यद्' यस्मात्कारणात्, किम् ? वरः प्रधानश्चासौ केवलादिलाभश्च वरकेवलादिलाभः, तं प्राप्ता इति, आदिशब्दान्मनःपर्याज्ञानादिपरिग्रहः, किं सकृदेव प्राप्ताः ? न, केवल-वर्जं 'बहुशः' अनेकशः, किंविशिष्टाः ? 'शान्तपापाः' तत्र पातयति नरकादिष्विति पापम्, शान्तम् उपशमं नीतं पापं यैस्ते तथाविधा इति गाथार्थः ॥४०॥ यस्मादिति पूर्वगाथायामुक्तं तेन सहास्याभिसम्बन्धः, तस्मा-द्देश-काल-चेष्टानियमो ध्ययानस्य 'नास्ति' न विद्यते । क्व ? 'समये' आगमे, किन्तु 'योगानाम्' मनःप्रभृ-तीनां 'समाधानम्' पूर्वोक्तं यथा भवति तथा '[प्र]यतितव्यम्' [प्र]यत्नः कार्य इत्यत्र नियम एवेति

का निर्देश नहीं किया गया है। तात्पर्य यह है कि परिपक्व ध्याता किसी भी काल में निर्बाध रूप से ध्यानस्थ हो सकता है ॥३८॥

अब आसनविशेष का व्याख्यान किया जाता है—

आसनादि के रूप में अभ्यस्त जो भी देह की अवस्था ध्यान में बाधक नहीं होती है उसी अवस्था में स्थित ध्याता कायोत्सर्ग से, वीरासनादि से अथवा दण्डायत आदि स्वरूप से ध्यान में तल्लीन हो सकता है ॥३९॥

यहाँ शंका हो सकती है कि ध्यान के लिए उक्त प्रकार देश, काल एवं अवस्था का अनियम क्यों कहा गया—उनका कुछ विशेष नियम तो होना चाहिए था ? इसके समाधानस्वरूप आगे यह कहा जाता है—

उक्त शंका को लक्ष्य कर यहाँ यह कहा जा रहा है कि मुनि जनों ने देश, काल और चेष्टा—शरीर की अवस्था; इन सभी अवस्थाओं में अवस्थित रहकर चूंकि अनेक प्रकार से पाप को नष्ट करते हुए सर्वोत्तम केवलज्ञान आदि को प्राप्त किया है, इसीसे ध्यान के लिए आगम में देश, काल और चेष्टा का—आसनविशेषादि का—कुछ नियम नहीं कहा गया है; किन्तु जिस प्रकार से भी योगों का—मन, वचन, काय का—समाधान (स्वस्थता) होता है उसी प्रकार प्रयत्न करना चाहिए ॥४०-४१॥

गाथार्थः ॥४१॥ गतमासनद्वारम्, अधुनाऽऽलम्बनद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

आलंबणाइँ वायण-पुच्छण-परियट्टणाऽणुचिंताओ ।
सामाइयाइयाइं सद्धम्मावस्सयाइं च ॥४२॥

इह धर्मध्यानारोहणार्थमालम्ब्यन्त इत्यालम्बनानि 'वाचना-प्रश्न-परावर्तनाऽनुचिन्ताः' इति । तत्र वाचनं वाचना, विनेयाय निर्जरार्थं सूत्रादिदानमित्यर्थः, शङ्किते सूत्रादौ संशयापनोदाय गुरुप्रच्छनं प्रश्न इति, परावर्तनं तु पूर्वाधीतस्यैव सूत्रादेरविस्मरण-निर्जरानिमित्तमभ्यासकरणमिति, अनुचिन्तनम् अनुचिन्ता मनसैवाविस्मरणादिनिमित्तं सूत्रानुस्मरणमित्यर्थः, वाचना च प्रश्नश्चेत्यादि द्वन्द्वः, एतानि च श्रुतधर्मानुगतानि वर्तन्ते, तथा 'सामायिकादीनि सद्धर्मावश्यकानि च' इति, अमूनि तु चरणधर्मानुगतानि वर्तन्ते, सामायिकमादौ येषां तानि सामायिकादीनि, तत्र सामायिकं प्रतीतम्, आदिशब्दान्मुखवस्त्रिका-प्रत्युपेक्षणादिलक्षणसकलचक्रवालसामाचारीपरिग्रहो यावत् पुनरपि सामायिकमिति, एतान्येव विधिवदासेव्यमानानि, सन्ति—शोभनानि, सन्ति च तानि चारित्रधर्मावश्यकानि चेति विग्रहः, आवश्यकानि नियमतः करणीयानि, चः समुच्चये इति गाथार्थः ॥४२॥ साम्प्रतममीषामेवाऽऽलम्बनत्वे निबन्धनमाह—

विसमंमि समारोहइ दढदव्वालंबणो जहा पुरिसो ।
सुत्ताइकयालंबो तह झाणवरं समारुहइ ॥४३॥

'विषमे' निम्ने दुःसञ्चरे 'समारोहति' सम्यग परिक्लेशेनोर्ध्वं याति । कः ? दृढं बलवद् द्रव्यं रज्ज्वाद्यालम्बनं यस्य स तथाविधः, यथा 'पुरुषः' पुमान् कश्चित्, 'सूत्रादिकृतालम्बनः' वाचनादिकृतालम्बन इत्यर्थः, 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'ध्यानवरं' धर्मध्यानमित्यर्थः, समारोहतीति गाथार्थः ॥४३॥ गतमालम्बनद्वारम् । अधुना क्रमद्वारावसरः, तत्र लाघवार्थं धर्मस्य शुक्लस्य च (तं) प्रतिपादयन्नाह—

झाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाईओ ।
भवकाले केवलिणो सेसाण जहासमाहीए ॥४४॥

ध्यानं प्राग्निरूपितशब्दार्थम्, तस्य प्रतिपत्तिक्रम इति समासः, प्रतिपत्तिक्रमः प्रतिपत्तिपरिपाट्यभिधीयते, स च भवति मनोयोगनिग्रहादिः, तत्र प्रथमं मनोयोगनिग्रहः ततो वाग्योगनिग्रहः ततः काययोग-

---

अब आलम्बन द्वार का निरूपण करते हुए उसके अवयवार्थ को स्पष्ट करते हैं—

वाचना, प्रश्न, परावर्तन और अनुचिन्ता तथा सामायिक आदि व सद्धर्मावश्यक आदि; ये ध्यान के आलम्बन हैं ॥

विवेचन—कर्मनिर्जरा के निमित्त शिष्य के लिए जो सूत्र आदि का दान किया जाता है उसका नाम वाचना है । सूत्र आदि के विषय में शंका के होने पर उसे दूर करने के लिए जो गुरु से पूछा जाता है वह प्रश्न कहलाता है । पूर्वपठित सूत्र आदि का विस्मरण न होने देने तथा कर्मनिर्जरा के निमित्त अभ्यास करना, इसे परावर्तन कहा जाता है । अविस्मरण आदि के लिए मन से ही सूत्र का अनुस्मरण करना, इसका नाम अनुचिन्तन है । ये चारों श्रुतधर्म का अनुसरण करने वाले हैं । तथा सामायिक आदि व सद्धर्मावश्यक (चारित्रधर्मावश्यक) ये चारित्रधर्म का अनुसरण करने वाले हैं ॥४२॥

इनको आलम्बनता किस प्रकार से है, इसे आगे दृष्टान्त द्वारा प्रगट किया जाता है—

जिस प्रकार कोई पुरुष रस्सी आदि किसी प्रबल द्रव्य का आश्रय लेकर विषम—ऊँचे-नीचे आदि दुर्गम—स्थान पर चढ़ जाता है उसी प्रकार ध्याता सूत्र आदि का—पूर्वोक्त वाचना आदि का—आश्रय लेकर उत्तम ध्यान (धर्मध्यान) पर आरूढ़ हो जाता है ॥४३॥

अब अवसरप्राप्त क्रमद्वार का वर्णन करते हुए लाघव की अपेक्षा से धर्म और शुक्ल इन दोनों ही ध्यानों के क्रम को दिखलाते हैं—

भवकाल में—मोक्षप्राप्ति के पूर्व अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल तक रहने वाली शैलेशी अवस्था में—केवली के ध्यान (शुक्ल) की प्राप्ति का क्रम मनोयोग आदि का निग्रह है—क्रम से मनयोग, वचनयोग

निग्रह इति। किमयं सामान्येन सर्वथैवेत्थम्भूतः क्रमः? न, किन्तु 'भवकाले' केवलिनः—अत्र भवकालशब्देन मोक्षगमनप्रत्यासन्नः अन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव शैलेश्यवस्थान्तर्गतः परिगृह्यते, केवलमस्यास्तीति केवली तस्य, शुक्लध्यान एवायं क्रमः। शेषस्यान्यस्य धर्मध्यानप्रतिपत्तुर्योग-कालावाश्रित्य किम्? 'यथासमाधिना' इति यथैव स्वास्थ्यं भवति तथैव पतिपत्तिरिति गाथार्थः ॥४४॥ गतं क्रमद्वारम्। इदानीं ध्यातव्यमुच्यते, तच्चतुर्भेदमाज्ञादिः। उक्तं च—आज्ञाऽपाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम् [त. सू. ९-३७] इत्यादि, तत्राऽऽद्यभेदप्रतिपादनायाह—

सुनिउणमणाइणिहणं भूयहियं भूयभावणमहग्घं।
अमियमजियं महत्थं महाणुभावं महाविसयं ॥४५॥
झाइज्जा निरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईवाणं।
अणिउणजणदुण्णेयं नय-भंग-पमाण-गमगहणं ॥४६॥

सुष्ठु अतीव, निपुणा कुशला सुनिपुणा ताम्, आज्ञामिति योगः, नैपुण्यं पुनः सूक्ष्मद्रव्याद्युपदर्शकत्वात्तथा मत्यादिप्रतिपादकत्वाच्च। उक्तं च—सुयनाणंमि नेउण्णं केवले तयणंतरं। अप्पणो सेसगाणं च जम्हा तं परिभावगं ॥१॥ इत्यादि, इत्थं सुनिपुणां ध्यायेत्। तथा 'अनाद्यनिधनाम्' अनुत्पन्नशाश्वतामित्यर्थः, अनाद्यनिधनत्वं च द्रव्याद्यपेक्षयेति। उक्तं च—"द्रव्यार्थादेशादित्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासीत्" इत्यादि। तथा 'भूतहिताम्' इति—इह भूतशब्देन प्राणिन उच्यन्ते, तेषां हितां—पथ्यामिति भावः, हितत्वं पुनस्तदनुपरोधिनीत्वात्तथा हितकारिणीत्वाच्च। उक्तं च—'सर्वे जीवा न हन्तव्याः' इत्यादि, एतत्प्रभावाच्च भूयांसः सिद्धा इति। 'भूतभावनाम्' इत्यत्र भूतं सत्यं भाव्यतेऽनयेति भूतस्य वा भावना भूतभावना,

---

और काययोग के निग्रह (निरोध) रूप है। शेष (धर्मध्यानी) के उसकी प्राप्ति का क्रम समाधि के अनुसार है—जिस प्रकार से भी योगों की स्वस्थता होती है उसी प्रकार से उसकी प्रतिपत्ति का क्रम समझना चाहिए ॥४४॥

आगे ध्यातव्य (ध्येय) द्वार की प्ररूपणा की जाती है। वह (ध्यातव्य) आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के भेद से चार प्रकार का है। उनमें प्रथमतः दो गाथाओं द्वारा आज्ञा का विवेचन किया जाता है—

अतिशय निपुणा, अनादि-निधना, प्राणियों का हित करने वाली, भूतभावना—सत्य को प्रगट करने वाली, अनर्घ्या, अमिता, अजिता, महार्था, महानुभावा और महाविषया; ऐसी जो लोक को दीपक के समान प्रकाशित करने वाले जिन भगवान् की निर्दोष आज्ञा—जिनवाणी—है उसका निर्मल अन्तःकरण से ध्यान करना चाहिए। नय, भंग, प्रमाण और गम से गम्भीर वह जिनाज्ञा अनिपुण—सत्-असत् का विचार न करने वाले अज्ञानी जनों के लिए दुरवबोध है ॥

विवेचन—ध्यातव्य का अर्थ ध्यान का विषय है, जिसका कि उसमें चिन्तन किया जाता है। वह आज्ञादि के भेद से चार प्रकार का है। उनमें प्रथमतः आज्ञा (जिनाज्ञा) की विशेषता को प्रगट करते हुए उसके चिन्तन की यहाँ प्रेरणा की गई है। वह आज्ञा चूंकि सूक्ष्म द्रव्य आदि की प्ररूपक होने के साथ मतिज्ञान आदि की प्रतिपादक है; इसीलिए उसे अतिशय निपुणा कहा गया है। कहा भी है—श्रुतज्ञान में निपुणता है, तत्पश्चात् केवलज्ञान में निपुणता है जो मति आदि शेष ज्ञानों की प्रतिपादक (प्रकाशक) है। उक्त आज्ञा का प्रवाह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादि काल से चला आया है और अनन्त काल तक रहने वाला है, इसलिए उसे उत्पत्ति और विनाश से रहित होने के कारण अनादि-निधना कहा गया है। किसी भी प्राणी का निघात नहीं करना चाहिए, यह जिनाज्ञा के द्वारा सर्वत्र निर्देश किया गया है। इसीलिए उसे भूतिहिता—भूतों (प्राणियों) की हितकारक—जानना चाहिए। 'भूतभावना' में भूत का अर्थ सत्य है, वह अनेकान्तवाद के आश्रय से उस सत्य को—यथार्थ वस्तु स्वरूप को—प्रगट करती है, इसीलिए उसे 'भूतभावना' विशेषण से विशिष्ट बतलाया गया है। अथवा भूत

---

१. मूल भाग के लिये संस्कृत टीक देखिये। (प्रवचनसार ३-३८; भगवती आराधना १०८)

अनेकान्तपरिच्छेदात्मिकेत्यर्थः, भूतानां वा—सत्त्वानां भावना भूतभावना, भावना वासनेत्यनर्थान्तरम् । उक्तं च—कूरावि सहावेणं राग-विसवसाणुगावि होऊणं । भावियजिणवयणमणा तेलुक्कसुहावहा होंति ॥१॥ श्रूयन्ते च चिलातीपुत्रादय एवंविधा बहव इति । तथा 'अनर्घ्याम्' इति सर्वोत्तमत्वादविद्यमानमूल्यामिति भावः । उक्तं च—सव्वेऽवि य सिद्धंता सदव्वरयणासया सतेलोक्का । जिणवयणस्स भगवओ न मुल्लमित्तं अणग्घेणं ॥१॥ तथा स्तुतिकारेणाप्युक्तम्—कल्पद्रुमः कल्पितमात्रदायी, चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते । जिनेन्द्रधर्मातिशयं विचिन्त्य, द्वयेऽपि लोको लघुतामवैति ॥१॥ इत्यादि, अथवा 'ऋणघ्नाम्, इत्यत्र ऋणं—कर्म, तद्घ्नामिति, उक्तं च—जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं ॥ तं नाणी तिहिँ गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं[1] ॥१॥ इत्यादि, तथा 'अमिताम्' इत्यपरिमिताम्, उक्तं च—सव्वनदीणं जा होज्ज वालुया सव्वउदहीण जं उदयं । एत्तो वि अणंतगुणो अत्थो एगस्स सुत्तस्स ॥१॥ अमृतां वा मृष्टां वा पथ्यां वा, तथा चोक्तम्—जिणवयणमोदगस्स उ रत्ति च दिवा य खज्जमाणस्स । तित्ति बुहो न गच्छइ हेउसहस्सोवगूढस्स ॥१॥ नर-नरय-तिरिय-सुरगणसंसारियसव्वदुक्ख-रोगाणं । जिणवयणमेगमोसहमपवग्गसुहक्खयंफलयं ॥२॥ सजीवां वाऽमृतामुपपत्तिक्षमत्वेन सार्थिकामिति भावः, न तु यथा—तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः । प्रावर्तत नदी घोरा हस्त्यश्व-रथवाहिनी ॥१॥ इत्यादिवन्मृतामिति, तथा 'अजिताम्' इति शेषप्रवचनाज्ञाभिरपराजितामित्यर्थः । उक्तं च—जीवाइवत्थुचिंतणकोसल्लगुणेणऽणण्णसरिसेणं । सेसवयणेहिं अजियं जिणिंदवयणं महाविसयं ॥१॥ तथा 'महार्थाम्' इति महान्—प्रधानोऽर्थो यस्याः सा तथाविधा ताम्, तत्र पूर्वापराविरोधित्वादनुयोगद्वारात्मकत्वान्नयगर्भत्वाच्च प्रधानाम्, महत्स्थां वा अत्र महान्तः—सम्यग्दृष्टयो भव्या एवोच्यन्ते, ततश्च महत्सु स्थिता महत्स्था तां च, प्रधानप्राणिस्थितामित्यर्थः, महास्थां वेत्यत्र महा पूजोच्यते, तस्यां स्थिता महास्था ताम्, तथा चोक्तम्—सव्वसुरासुरमाणुस-जोइस-वंतरसुपूइयं णाणं । जेणेह गणहराणं छुहंति चुण्णे सुरिंदावि ॥१॥ तथा 'महानुभावाम्' इति तत्र महान्—प्रधानः प्रभूतो वाऽनुभावः—सामर्थ्यादिलक्षणो यस्याः सा तथा तां, प्राधान्यं चास्याश्चतुर्दशपूर्वविदः सर्वलब्धिसम्पन्नत्वात्, प्रभूतत्वं च प्रभूत-

शब्द का अर्थ प्राणी भी होता है, इस प्रकार प्राणियों की भावना (वासना) रूप होने से भी उसे भूतभावना समझना चाहिए । कहा भी गया है—रागरूप विष के वशीभूत हुए स्वभावतः क्रूर प्राणी भी—जैसे किरातीपुत्र आदि—अन्तःकरण से जिनवाणी की भावना द्वारा तीनों लोकों के सुख के भोक्ता होते हैं । गाथोक्त 'अहग्घ[अणग्घ]' शब्द के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए टीकाकार ने प्रथमतः उसका 'अनर्घ्या' संस्कृत रूप ग्रहण करके उसे सर्वोत्कृष्ट होने से अमूल्य बतलाया है । पश्चात् विकल्परूप में उसका 'ऋणघ्ना' संस्कृत रूप मान कर उन्होंने ऋण का अर्थ कर्म बतलाते हुए उसे कर्म की घातक बतलाया है । प्रमाण रूप में एक प्राचीन गाथा[1] को उद्धृत करते हुए वहां यह निर्देश किया गया है कि जिस कर्म को अज्ञानी जीव अनेक करोड़ वर्षों में क्षीण करता है उसे ज्ञानी जीव तीन गुप्तियों से युक्त होकर उच्छ्वास मात्र काल में क्षीण कर डालता है । वह जिनाज्ञा अपरिमिता इसलिये है कि उसके अर्थ का कोई प्रमाण नहीं है—वह अनन्त है । कहा भी है—सब नदियों की जो वालु है तथा सब समुद्रों का जो जल है उससे भी अनन्तगुणा एक सूत्र का अर्थ होता है । अथवा गाथोक्त 'अमिय' शब्द का रूपान्तर 'अमृता' भी होता है, तदनुसार उक्त जिनाज्ञा को अमृत के समान हितकर समझना चाहिये । अथवा 'अमृता' से उसे सजीव—विनाश से रहित—जानना चाहिये । अन्य प्रवचनाज्ञाओं द्वारा पराजित न होने के कारण उसे अजिता कहा गया है । वह पूर्वापर विरोध से रहित होती हुई अनुयोगद्वारस्वरूप व नयों से गर्भित होने के कारण महार्था कही जाती है । गाथोपयुक्त 'महत्थं' पद के रूपान्तर 'महत्स्थाम्' व 'महास्थाम्' भी विकल्प रूप में ग्रहण किये गये हैं । तदनुसार सम्यग्दृष्टि भव्य जैसे महान् पुरुषों में स्थित होने के कारण उसे 'महत्स्था' कहा गया है, अथवा महा का अर्थ पूजा होता है, उसमें स्थित होने के कारण उसे 'महास्था' भी कहा गया है । वह जिनाज्ञा महानुभावा—महान् सामर्थ्य

१. प्रव. सा. ३-३८; भ. आ. १०८.

कार्यकरणात्, उक्तं च—'पभू णं चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं करित्तए' इत्यादि, एवमिह लोके, परत्र तु जघन्यतोऽपि वैमानिकोपपातः । उक्तं च—उववाओ लंतगंमि चोद्दसपुव्वीस्स होइ उ जहण्णो । उक्कोसो सव्वट्ठे सिद्धिगमो वा अकम्मस्स ॥१॥ तथा 'महाविषयाम्' इति महद्विषयत्वं तु सकलद्रव्यादिविषयत्वात् । उक्तं च—'दव्वओ सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ' इत्यादि कृतं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥४५॥ 'ध्यायेत्' चिन्तयेदिति सर्वपदक्रिया, 'निरवद्याम्' इति अवद्यं पापमुच्यते निर्गतमवद्यं यस्याः सा तथा ताम्, अनृतादिद्वात्रिंशद्दोषावद्यरहितत्वात्, क्रियाविशेषणं वा । कथं ध्यायेत् ? निरवद्यम्—इहलोकाद्याशंसारहितमित्यर्थः । उक्तं च—'नो इहलोगट्ठयाए नो परलोगट्ठयाए नो परपरिभवओ अहं नाणी' इत्यादिकं निरवद्यं ध्यायेत्, 'जिनानां' प्राग्निरूपितशब्दार्थानाम् 'आज्ञां' वचनलक्षणां कुशलकर्मण्याज्ञाप्यन्तेऽनया प्राणिन इत्याज्ञा ताम् । किंविशिष्टाम् ? जिनानां—केवलालोकेनाशेषसंशय-तिमिरनाशनाज्जगत्प्रदीपानामिति, आज्ञैव विशेष्यते 'अनिपुणजनदुर्ज्ञेयाम्' न निपुणः अनिपुणः अकुशल इत्यर्थः, जनः लोकस्तेन दुर्ज्ञेयामिति—दुरवगमाम्, तथा 'नय-भङ्ग-प्रमाण-गमगहनाम्' इत्यत्र नयाश्च भङ्गाश्च प्रमाणानि च गमाश्चेति विग्रहस्तैर्गहना—गह्वरा ताम्, तत्र नैगमादयो नयास्ते चानेकभेदाः । तथा भङ्गाः क्रम-स्थानभेदभिन्नाः, तत्र क्रमभङ्गा यथा एको जीव एक एवाजीव इत्यादि, स्थापना—

।।	ऽ।	ऽ।	ऽऽ	।।	ऽ।	ऽ।	ऽऽ

स्थानभङ्गास्तु यथा प्रियधर्मा नामैकः नो दृढधर्मेत्यादि । तथा प्रमीयते ज्ञेयमेभिरिति प्रमाणानि द्रव्यादीनि, यथानुयोगद्वारेषु, गमाः—चतुर्विंशतिदण्डकादयः, कारणवशतो वा किञ्चिद्विसदृशाः सूत्रमार्गा यथा षड्जीवनिकायादाविति कृतं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥४६॥ ननु या एवंविशेषणविशिष्टा सा बोद्धुमपि न शक्यते मन्दधीभिः, आस्तां तावद्धचातुम्, ततश्च यदि कथञ्चिन्नावबुध्यते तत्र का वार्तेत्यत आह—

तत्थ य मइदोब्बलेणं तव्विहायरियविरहओ वावि ।
णेयगहणत्तणेण य णाणावरणोदएणं च ॥४७॥
हेऊदाहरणासंभवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा ।
सव्वण्णुमयमवितहं तहावि तं चिंतए मइमं ॥४८॥

'तत्र' तस्यामाज्ञायाम्, चशब्दः प्रस्तुतप्रकरणानुकर्षणार्थः । किम् ? जडतया चलत्वेन वा मतिदौर्बल्येन—बुद्धेः सम्यगर्थानवधारणेनेत्यर्थः, तथा 'तद्विधाचार्यविरहतोऽपि' तत्र तद्विधः सम्यगविपरीततत्त्वप्रतिपादनकुशलः, आचर्यतेऽसावित्याचार्यः सूत्रार्थां-वगमार्थं मुमुक्षुभिरासेव्यत इत्यर्थः, तद्विधश्चासा-

---

से सम्पन्न—और महाविषया—समस्त द्रव्यादिकों को विषय करनेवाली है । इस प्रकार की वह जिनाज्ञा नय, भंग, प्रमाण और गम से गम्भीर होने के कारण मन्दबुद्धि जनों को दुरवबोध है । वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उनमें से जो विवक्षावश किस एक धर्म को ग्रहण किया करता है उसका नाम नय है, वह नैगमादि के भेद से अनेक प्रकार का है । क्रम व स्थान के भेद से जो अनेक भेद होते हैं उन्हें भंग कहा जाता है । क्रमभंग जैसे—एक जीव, एक अजीव, बहुत जीव बहुत अजीव, एक जीव एक अजीव; इत्यादि (षट्खण्डागम पु. ९, पृ. २४६; अनुयोगद्वार पृ. १४४-४५) । स्थानभंग जैसे—कोई प्रियधर्मा तो होता है, पर दृढ़धर्मा नहीं होता; इत्यादि । जिनके द्वारा ज्ञातव्य वस्तु के मान का परिज्ञान होता है वे द्रव्य, क्षेत्र एवं काल आदि प्रमाण कहलाते हैं । चतुर्विंशतिदण्डक आदि को गम कहा जाता है । ऐसी उस अनुपम जिनवाणी के चिन्तन के लिये यहाँ प्रेरणा की गई हैं ॥४५-४६॥

अब आगे यह स्पष्ट किया जाता है कि उक्त जिनाज्ञा (जिनागम) यद्यपि कई कारणों से मन्दबुद्धि जन के लिये दुरवबोध है, तो भी बुद्धिमान् प्राणी को 'सर्वज्ञ का मत यथार्थ है' इस प्रकार से उसका चिन्तन करना ही चाहिए—

बुद्धि की दुर्बलता से, वस्तुस्वरूप का यथार्थ व्याख्यान करनेवाले आचार्यों के अभाव से, ज्ञेय (जानने के योग्य धर्मास्तिकायादि) की गम्भीरता से, ज्ञानावरण के उदय से तथा जिज्ञासित पदार्थ के

वाचार्यश्च तद्विधाचार्यः, तद्विरहतः तदभावतश्च, चशब्दः अबोधे द्वितीयकारणसमुच्चयार्थः, अपिशब्दः क्वचिदुभयवस्तूपपत्तिसम्भावनार्थः, तथा 'ज्ञेयगहनत्वेन च' तत्र ज्ञायत इति ज्ञेयं धर्मास्तिकायादि, तद्गहनत्वेन गह्वरत्वेन, चशब्दोऽबोध एव तृतीयकारणसमुच्चयार्थः, तथा 'ज्ञानावरणोदयेन च' तत्र ज्ञानावरणं प्रसिद्धम्, तदुदयेन तत्काले तद्विपाकेन, च-शब्दश्चतुर्थबोधकारणसमुच्चयार्थः। अत्राह—ननु ज्ञानावरणोदयादेव मतिदौर्बल्यं तथा तद्विधाचार्यविरहो ज्ञेयगहनाप्रतिपत्तिश्च, ततश्च तदभिधाने न युक्तममीषामभिधानमिति ? न, तत्कार्यस्यैव सङ्क्षेप-विस्तरत उपाधिभेदेनाभिधानादिति गाथार्थः ॥४७॥ तथा—तत्र हिनोति गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुः—कारको व्यञ्जकश्च, उदाहरणं चरित-कल्पितभेदम्, हेतुश्चोदाहरणं च हेतूदाहरणे तयोरसम्भवः, कञ्चन पदार्थं प्रति हेतूदाहरणासम्भवात्, तस्मिँश्च, च-शब्दः पञ्चम-षष्ठकारणसमुच्चयार्थः, 'सति' विद्यमाने। किम् ? 'यत्' वस्तुजातं 'न सुष्ठु बुद्ध्येत' नातीवावगच्छेत् 'सर्वज्ञमतमवितथं तथापि तच्चिन्तयेन्मतिमान्' इति तत्र सर्वज्ञाः तीर्थकरास्तेषां मतं सर्वज्ञमतं वचनम्। किम् ? वितथम् अनृतम्, न वितथम् अवितथं सत्यमित्यर्थः, 'तथापि' तदबोधकारणे सत्यनवगच्छन्नपि 'तत्' मतं वस्तु वा 'चिन्तयेत्' पर्यालोचयेत् 'मतिमान्' बुद्धिमानिति गाथार्थः ॥४८॥ किमित्येतदेवमिन्यत आह—

अणुवकयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जगप्पवरा।
जियराग-दोस-मोहा य णण्णहावादिणो तेणं ॥४९॥

अनुपकृते परैरवर्तिते सति, परानुग्रहपरायणा धर्मोपदेशादिना परानुग्रहोद्युक्ता इति समासः, 'यत्' यस्मात् कारणात्, के ? 'जिनाः' प्राग्निरूपितशब्दार्थाः, त एव विशेष्यन्ते—'जगत्प्रवराः' चराचरश्रेष्ठा इत्यर्थः, एवंविधा अपि कदाचिद् रागादिभावाद्वितथवादिनो भवन्त्यत आह—जिता निरस्ता राग-द्वेष-मोहा यैस्ते तथाविधाः, तत्राभिष्वङ्गलक्षणो रागः अप्रीतिलक्षणो द्वेषः अज्ञानलक्षणश्च मोहः, च-शब्द एतदभावगुणसमुच्चयार्थः, 'नान्यथावादिनः तेन' इति तेन कारणेन ते नान्यथावादिन इति। उक्तं च—"रागाद्वा द्वेषाद्वा" इत्यादि गाथार्थः ॥४९॥ उक्तस्तावद्धचातव्यप्रथमो भेदः, अधुना द्वितीय उच्यते—

रागद्दोस-कसाया ऽऽसवादिकिरियासु वट्टमाणाणं।
इह-परलोयावाओ झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥५०॥

राग-द्वेष-कषायाऽऽश्रवादिक्रियासु प्रवर्तमानानामिह-परलोकापायान् ध्यायेत्। यथा रागादिक्रिया ऐहिकामुष्मिकविरोधिनी, उक्तं च—रागः सम्पद्यमानोऽपि दुःखदो दुष्टगोचरः। महाव्याध्यभिभूतस्य कुपथ्यान्नाभिलाषवत् ॥१॥ तथा 'द्वेषः सम्पद्यमानोऽपि तापयत्येव देहिनम्। कोटरस्थो ज्वलन्नाशु दावानल इव

ज्ञापक हेतु और उदाहरण के असम्भव होने पर यद्यपि तत्त्व को ठीक से नहीं जाना जा सकता है तो भी उसके विषय में बुद्धिमान् जीव को 'सर्वज्ञ का मत—उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तु का स्वरूप—यथार्थ है, वह असत्य नहीं हो सकता' ऐसा विचार करना चाहिए ॥४७-४८॥ इसका कारण यह है कि—

जगत् में श्रेष्ठ जिन भगवान् चूंकि राग, द्वेष और मोह को जीतकर—उनसे रहित होकर—परकृत प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए धर्मोपदेश आदि के द्वारा दूसरों के उपकार में तत्पर रहते हैं; अतएव वे अन्यथा कथन नहीं कर सकते—वस्तुस्वरूप का असत्य व्याख्यान नहीं कर सकते। वस्तुस्वरूप का असत्य व्याख्यान वही किया करता है जो सर्वज्ञ न होकर राग, द्वेष एवं मोह के वशीभूत होता है ॥४९॥

अब क्रमप्राप्त ध्यातव्य के द्वितीय भेदरूप अपाय का वर्णन करते हैं—

वर्जनीय (अकार्य) के परित्यागी ध्याता को राग, द्वेष, कषाय और आस्रव क्रियाओं में प्रवर्तमान प्राणियों के इस लोक और पर लोक सम्बन्धी विनाश का विचार करना चाहिए ॥

विवेचन—धर्मध्यानी छोड़ने योग्य असदाचरण का त्याग करता है तथा प्रमाद से रहित होकर रागादि क्रियाओं में प्रवर्तमान जीवों को जो इस लोक और परलोक में दुख सहना पड़ता है उसका

द्रुमम् ॥२॥' तथा 'दृष्ट्यादिभेदभिन्नस्य रागस्यामुष्मिकं फलम् । दीर्घः संसार एवोक्तः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ॥३॥' इत्यादि । तथा 'दोसानलसंसत्तो इह लोए चेव दुक्खिओ जीवो । परलोगंमि य पावो पावइ निरयानलं तत्तो ॥१॥ इत्यादि । तथा कषायाः—क्रोधादयः, तदपायाः पुनः—कोहो य माणो य अणिग्गहीया माया य लोहो य पवड्ढमाणा । चत्तारि एए कसिणो कसाया सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥१॥ तथाऽऽश्रवाः — कर्मबन्धहेतवो मिथ्यात्वादयः, तदपायः पुनः—मिच्छत्तमोहियमई जीवो इहलोग एव दुक्खाइं । निरओवमाइं पावो पावइ पसमाइगुणहीणो ॥१॥ तथा—अज्ञानं खलु कष्टं क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः । अयं हितमहितं वा न वेत्ति येनावृतो लोकः ॥१॥ तथा—जीवा पाविंति इहं पाणवहादविरईए पावाए । नियसुयघायणमाई दोसे जणगरहिए पावा ॥१॥ परलोगंमिवि एवं आसवकिरियाहि अज्जिए कम्मे । जीवाण चिरमवाया निरयाइगई भमंताणं ॥२॥ इत्यादि । आदिशब्दः स्वगतानेकभेदख्यापकः, प्रकृतिस्थित्यनुभाव-प्रदेशबन्धभेदग्राहक इत्यन्ये, क्रियास्तु कायिक्यादिभेदाः पञ्च, एताः पुनरुत्तरत्र न्यक्षेण वक्ष्यामः, विपाकः पुनः—किरियासु वट्टमाणा काइगमाईसु दुक्खिया जीवा । इह चेव य परलोए संसारपवड्ढया भणिया ॥१॥ ततश्चैवं रागादिक्रियासु वर्तमानानामपायान् ध्यायेत । किंविशिष्टः सन्नित्याह— 'वर्ज्यपरिवर्जी' तत्र वर्जनीयं वर्ज्यम् अकृत्यं परिगृह्यते, तत्परिवर्जी अप्रमत्त इति गाथार्थः ॥५०॥ उक्तः खलु द्वितीयो ध्यातव्यभेदः, अधुना तृतीय उच्यते, तत्र—

पयइ-ठिइ-पएसा ऽणुभावभिन्नं सुहासुहविहत्तं ।
जोगाणुभावजणियं कम्मविवागं विचिंतेज्जा ॥५१॥

'प्रकृति-स्थिति-प्रदेशा ऽनुभावभिन्नं शुभाशुभविभक्तम्' इति अत्र प्रकृतिशब्देनाष्टौ कर्मप्रकृतयोऽभिधीयन्ते ज्ञानावरणीयादिभेदा इति, प्रकृतिरंशो भेद इति पर्यायाः । स्थितिः तासामेवावस्थानं जघन्यादिभेदभिन्नम् । प्रदेशशब्देन जीवप्रदेश-कर्मपुद्गलसम्बन्धोऽभिधीयते । अनुभावशब्देन तु विपाकः । एते च प्रकृत्यादयः शुभाशुभभेदभिन्ना भवन्ति । ततश्चैतदुक्तं भवति—प्रकृत्यादिभेदभिन्नं शुभाशुभविभक्तं 'योगा-

---

चिन्तन किया करता है । जिस प्रकार रोगी प्राणी कुपथ्य के सेवन से दुख पाता है उसी प्रकार विषयानुरागी जीव रागवश इस लोक में अनेक प्रकार के कष्ट को सहता है । जैसे—रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर मछलियाँ धीवर के काँटे में फंसकर मरण के दुख को सहती हैं, स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हुआ हाथी अज्ञानतावश कृत्रिम हथिनी को यथार्थ हथिनी मानकर गड्ढे में पड़ता है और परतन्त्र होता हुआ अनेक दुःखों को सहता है; इत्यादि । वह दीर्घसंसारी होकर इस लोक के समान परलोक में भी दुर्गति के दुख को सहता है । जिस प्रकार वृक्ष के कोटर में लगी हुई आग उस वृक्ष को भस्म कर देती है उसी प्रकार द्वेष भी प्राणी को इस लोक में सन्तप्त किया करता है तथा परलोक में नरकादि दुर्गति के दुख को प्राप्त कराता है । इसी प्रकार क्रोधादि कषायों के वशीभूत हुए प्राणी भी दोनों लोकों में अनेक प्रकार के दुःखों को भोगा करते हैं । कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व, अज्ञान एवं प्राणिहिंसादि से निवृत्ति न होने रूप अविरति आदि आस्रव कहलाते हैं । इन आस्रवों में प्रवृत्त रहनेवाले प्राणी भी उभय लोकों में नाना प्रकार के दुःखों को सहा करते हैं । इस प्रकार के चिन्तन का नाम ही अपायविचय है ॥५०॥

आगे उक्त ध्यातव्य के तृतीय भेदभूत विपाक का विवेचन किया जाता है—

प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाव के भेद से भेद को प्राप्त होनेवाला कर्म का विपाक शुभ और अशुभ इन दो भेदों में विभक्त है । मन, वचन व काय रूप योगों और अनुभाव—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय रूप जीवगुणों—से उत्पन्न होनेवाले उस कर्मविपाक का धर्मध्यानी को विचार करना चाहिए ॥

विवेचन—कर्म का जो उदय—फल देने की उन्मुखता है—उसका नाम विपाक है । वह कर्मविपाक प्रकृति के भेद से, स्थिति के भेद से, प्रदेश के भेद से और अनुभाव के भेद से अनेक प्रकार का होकर भी शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) इन दो भेदो में विभक्त है । प्रकृति नाम अंश या भेद का

नुभावजनितं मनोयोगादिगुणप्रभवं कर्मविपाकं विचिन्तयेदिति गाथार्थः ॥५१॥ भावार्थः पुनर्वृद्धविवरणादवसेयः । तच्चेदम्—इह पयइभिन्नं सुहासुहविहत्तं कम्मविवागं विचिंतेज्जा, तत्थ पयईउत्ति कम्मणो भेया अंसा णाणावरणिज्जाइणो अट्ठ, तेहिं भिन्नं विहत्तं सुहं पुण्णं सायाइयं असुहं पावं तेहिं विहत्तं विभिन्नविपाकं जहा कम्मपयडीए तहा विसेसेण चिंतिज्जा । किं च—ठिइविभिन्नं च सुहासुहविहत्तं कम्मविवागं विचिंतेज्जा—ठिइत्ति तासिं चेव अट्ठण्हं पयडीणं जहण्ण-मज्झिमुक्कोसा कालावत्था जहा कम्मपडीए । किं च—पएसभिन्नं शुभाशुभं यावत्—'कृत्वा पूर्वविधानं पदयोस्तावेव पूर्ववद् वर्ग्यौ । वर्ग-घनौ कुर्यातां तृतीयराशेस्ततः प्राग्वत्' ॥१॥ 'कृत्वा विधानम्' इति २५६, अस्य राशेः पूर्वपदस्य घनादि कृत्वा तस्यैव वर्गादि ततः द्वितीयपदस्येदमेव विपरीतं क्रियते, तत एतावेव वर्ग्येते, ततस्तृतीयपदस्य घर्ग-घनौ क्रियते, एवमनेन क्रमेणायं राशिः १६७७७२१६ चिंतेज्जा, पएसोत्ति जीव-पएसाणं कम्मपएसेहिं सुहुमेहिं एगखेत्तावगाढेहिं पुट्ठोगाढअणंतरअणु-बायर-उद्धाइभेएहिं बद्धाणं वित्थरओ कम्मपयडीए भणियाणं कम्मविवागं विचिंतेज्जा । किं च—अणुभावभिन्नं सुहासुहविहत्तं कम्मविवागं विचिंतेज्जा, तत्थ अणुभावोत्ति तासिं चेवऽट्ठण्हं पयडीणं पुट्ठ-बद्ध-निकाइयाणं उदयाउ अणुभवणं, तं च कम्मविवागं जोगाणुभावजणियं विचिंतेज्जा, तत्थ जोगा मण-वयण-काया, अणुभावो जीवगुण एव, स च मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषायाः, तेहिं अणुभावेण य जणियमुप्पाइयं जीवस्स कम्मं जं तस्स विवागं उदयं विचिंतिज्जइ । उक्तस्तृतीयो ध्यातव्यभेदः, साम्प्रतं चतुर्थ उच्यते, तत्र—

जिणदेसियाइ लक्खण-संठाणा ऽऽसण-विहाण-माणाइं ।
उप्पायट्ठिइभंगाइ पज्जवा जे य दव्वाणं ॥५२॥

जिनाः—प्राग्निरूपितशब्दार्थास्तीर्थकराः, तैर्देशितानि—कथितानि जिनदेशितानि, कान्यत आह—लक्षण-संस्थानाऽऽसन-विधान-मानानि । किम् ? विचिन्तयेदिति पर्यन्ते वक्ष्यति षष्ठ्यां गाथायामिति । तत्र लक्षणादीनि विचिन्तयेत्, अत्रापि गाथान्ते द्रव्याणामित्युक्तं तत्प्रतिपदमायोजनीयमिति । तत्र लक्षणं

है । उससे प्रकृत में ज्ञानावरणादि रूप आठ कर्मप्रकृतियों को ग्रहण किया गया है । वे कर्मप्रकृतियां जीव के साथ सम्बद्ध होकर जितने काल तक रहती हैं उसे स्थिति कहा जाता है । वह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की है । जीवप्रदेशों के साथ जो कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध होता है वह प्रदेश कहलाता है । अनुभाव नाम विपाक या कर्मफल के अनुभवन का है । उक्त प्रकृति आदि अनेक भेद रूप होकर भी सामान्य से शुभ और अशुभ इन दो भेदों के अन्तर्गत हैं । उनमें सातावेदनीय आदि कर्मप्रकृतियां और असातावेदनीय आदि कर्मप्रकृतियाँ क्रम से इष्ट व अनिष्ट फल देने के कारण शुभ और अशुभ मानी गई हैं । इन सबकी विशेष प्ररूपणा षट्खण्डागम, कषायप्राभृत और कर्मप्रकृति आदि कर्मग्रन्थों में विस्तार से की गई है ॥५१॥

आगे क्रमप्राप्त ध्यातव्य के चतुर्थ भेद का निरूपण छह गथाओं द्वारा किया जाता है—

धर्मध्यानी को जिन भगवान के द्वारा उपदिष्ट द्रव्यों के लक्षण, आकार, आसन, विधान (भेद) और मान का तथा उत्पाद, स्थिति (ध्रौव्य) और भंग(व्यय) इन पर्यायों का भी विचार करना चाहिए ॥

विवेचन—आगे गाथा ५७ में जो 'विचिंतेज्जा' क्रियापद प्रयुक्त है उसके साथ इन गाथाओं का सम्बन्ध है । इससे गाथा का अर्थ यह है कि जिन देव ने धर्मास्तिकायादि द्रव्यों के उपर्युक्त लक्षण आदि का जिस प्रकार से निरूपण किया है, धर्मध्यानी को उसी प्रकार से उनका चिन्तन करना चाहिए ।

लक्षण जैसे—जिस प्रकार अविनष्ट नेत्रों से युक्त प्राणी के पदार्थज्ञान में दीपक या सूर्य का प्रकाश सहायक होता है उसी प्रकार जो जीवों और पुद्गलों के गमन में बिना किसी प्रकार की प्रेरणा के सहायक होता है वह धर्मास्तिकाय कहलाता है । इसी प्रकार जैसे बैठते हुए प्राणी की स्थिति में पृथिवी कारण (उदासीन) होती है वैसे ही जो जीवों और पुद्गलों की स्थिति में अप्रेरक कारण होता है उसका नाम अधर्मास्तिकाय है । जिस प्रकार बेरों आदि को घट आदि स्थान देते हैं उसी प्रकार जो

धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां गत्यादि, तथा संस्थानं मुख्यवृत्त्या पुद्गलरचनाकारलक्षणं परिमण्डलाद्यजीवानाम्, यथोक्तम्—परिमंडले य वट्टे तंसे चउरंस आयते चेव । जीव-शरीराणां च समचतुरस्रादि । यथोक्तम्—समचउरंसे नग्गोहमंडले साइ वामणे खुज्जे । हुंडेवि य संठाणे जीवाणं छ मुणेयव्वा ॥१॥ तथा धर्माधर्मयोरपि लोकक्षेत्रापेक्षया भावनीयमिति । उक्तं च—हेट्ठा मज्झे उवरि छव्वी-झल्लरि-मुइंगसंठाणे । लोगो अद्धागारो अद्धाखेत्तागिई नेओ ॥१॥ तथाऽऽसनानि आधारलक्षणानि धर्मास्तिकायादीनां लोकाकाशादीनि स्वस्वरूपाणि वा, तथा विधानानि धर्मास्तिकायादीनामेव भेदानित्यर्थः, यथा—'धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायस्स पएसे' इत्यादि, तथा मानानि—प्रमाणानि धर्मास्तिकायादीनामेवात्मीयानि । तथोत्पाद-स्थिति-भङ्गादिपर्याया ये च 'द्रव्याणां' धर्मास्तिकायादीनां तान् विचिन्तयेदिति, तत्रोत्पादादिपर्यायसिद्धिः 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' [त. सू. ५-२९] इति वचनात्, युक्तिः पुनरत्र—घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पत्ति-स्थितिष्वयम् । शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥१॥ पयोव्रतो न दद्ध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥२॥ ततश्च धर्मास्तिकायो विवक्षितसमयसम्बन्धरूपापेक्षयोत्पद्यते, तदनन्तरातीतसमयसम्बन्धरूपापेक्षया तु विनश्यति, धर्मास्तिकाय-द्रव्यात्मना तु नित्य इति । उक्तं च—सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः । सत्योश्चित्यपचित्योराकृति-जातिव्यवस्थानात् ॥१॥ आदिशब्दादगुरुलघ्वादिपर्यायपरिग्रहः, चशब्दः समुच्चयार्थ इति गाथार्थः ॥५२॥ किं च—

पंचत्थिकायमइयं लोगमणाइणिहणं जिणक्खायं ।
णामाइभेयविहियं तिविहमहोलोयभेयाइं ॥५३॥

जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्थान देता है उसे आकाश कहा जाता है । जो ज्ञानस्वरूप होकर समस्त पदार्थों का ज्ञाता और कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता है उसे जीव कहते हैं । वे जीव संसारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार के हैं । स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण व शब्द से युक्त होकर जो मूर्त स्वभाववाले हैं वे पुद्गल कहलाते हैं और संघात अथवा भेद से उत्पन्न होते हैं । संस्थान—पुद्गलों का आकार गोल, त्रिकोण, चौकोण और आयत आदि अनेक प्रकार का है । जीवों के शरीरों का आकार समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, वामन, कुब्जक और हुण्ड के भेद से छह प्रकार का है । लोक का जो आकार है वही धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का है । लोक का आकार अधोलोक में वेत के आसन के समान, मध्यलोक में झालर के समान और उर्ध्वलोक में मृदंग के समान है । समस्त लोक का आकार पाँवों को फैलाकर और कटि भाग पर दोनों हाथों को रखकर खड़े हुए पुरुष के समान है । आसन—आसन का अर्थ आधार है । धर्मास्तिकाय आदि का आधार लोकाकाश, लोकाकाश का आधार क्रम से घनोदधि आदि तीन वातवलय और उनका आधार अलोकाकाश है । वह अलोकाकाश स्वप्रतिष्ठ है । अथवा उक्त द्रव्यों का आधार अपना अपना स्वरूप समझना चाहिए । विधान—विधान से अभिप्राय जीव-पुद्गलादि के भेदों का है । मान—धर्मास्तिकाय आदि का जो अपना-अपना प्रमाण है उसे मान शब्द से ग्रहण किया गया है । उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये द्रव्यों की पर्यायें (अवस्थायें) हैं । प्रत्येक द्रव्य अपने पूर्व आकार को जो छोड़ता है उसका नाम व्यय, नवीन आकार को जो ग्रहण करता है उसका नाम उत्पाद, और उन दोनों अवस्थाओं में अन्वयरूप से जो द्रव्य अवस्थित रहता है उसका नाम ध्रौव्य है । जैसे—घट को तोड़ कर उसका मुकुट बनाने पर घट का व्यय, मुकुट का उत्पाद और सुवर्णत्व की ध्रुवता है—उक्त दोनों ही अवस्थाओं में उसकी समान रूप से स्थिति है । ये तीनों प्रत्येक द्रव्य में सदा ही पाये जाते हैं और यही द्रव्यका स्वरूप है । इन सबका चिन्तन धर्मध्यानी किया करता है ॥५२॥ और भी—

जिनेन्द्र देव के द्वारा जो लोक धर्माधर्मास्तिकायादि पांच द्रव्यस्वरूप व अनादि-अनन्त निर्दिष्ट किया गया है उसका भी चिन्तन धर्मध्यानी को करना चाहिए । वह नाम-स्थापनादि के भेद से आठ या नौ प्रकार का और अधोलोकादि के भेद से तीन प्रकार का है ॥

'षड्चास्तिकायमयं लोकमनाद्यनिधनं जिनाख्यातम्' इति, क्रिया पूर्ववत् । तत्रास्तयः प्रदेशास्तेषां काया अस्तिकायाः, पञ्च च ते अस्तिकायाश्चेति विग्रहः, एते च धर्मास्तिकायादयो गत्याद्युपग्रहकरा ज्ञेया इति । उक्तं च—जीवानां पुद्गलानां च गत्युपग्रहकारणम् । धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥१॥ जीवानां पुद्गलानां च स्थित्युपग्रहकारणम् । अधर्मः पुरुषस्येव विष्ठासोरवनिर्यथा ॥२॥ जीवानां पुद्गलानां च धर्माधर्मास्तिकाययोः । बदराणां घटो यद्वदाकाशमवकाशदम् ॥३॥ ज्ञानात्मा सर्वभावज्ञो भोक्ता कर्ता च कर्मणाम् । नानासंसारि-मुक्ताख्यो जीवः प्रोक्तो जिनागमे ॥४॥ स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द-मूर्तस्वभावकाः । सङ्घात-भेदनिष्पन्नाः पुद्गला जिनदेशिताः ॥५॥ तन्मयं तदात्मकम्, लोक्यत इति लोकस्तम्, कालतः किम्भूतमित्यत आह—'अनाद्यनिधनम्' अनाद्यपर्यवसितमित्यर्थः, अनेनेश्वरादिकृतव्यवच्छेदमाह, असावपि दर्शनभेदाच्चित्र एवेत्यत आह—'जिनाख्यातं' तीर्थकरप्रणीतम्, आह—'जिनदेशितान्' इत्यस्माज्जिनप्रणीताधिकारोऽनुवर्तते एव, ततश्च जिनाख्यातमित्यतिरिच्यते ? न, अस्याऽऽदरख्यापनार्थत्वात्, आदरख्यापनादौ च पुनरुक्तदोषानुपपत्तेः । तथा चोक्तम्—अनुवादादरवीप्साभूशार्थविनियोगहेत्वसूयासु । ईषत्सम्भ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥१॥ तथा हि—'नामादिभेदविहितं' भेदतो नामादिभेदावस्थापितमित्यर्थः । उक्तं च—नामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य । पज्जवलोगो य तहा अट्ठविहो लोगंमि [ग] निक्खेवो ॥१॥ भावार्थश्चतुर्विंशतिस्तवविवरणादवसेयः, साम्प्रतं क्षेत्रलोकमधिकृत्याह—'त्रिविधं' त्रिप्रकारम् 'अधोलोकभेदादिं' इति प्राकृतशैल्याऽधोलोकादिभेदम्, आदिशब्दात्तिर्यगूर्ध्वलोकपरिग्रह इति गाथार्थः ॥५३॥ किं च तस्मिन्नेव क्षेत्रलोके इदं चेदं च विचिन्तयेदिति प्रतिपादयन्नाह—

खिइ-वलय-दीव-सागर-नरय-विमाण-भवणाइसंठाणं ।
वोमाइपइट्ठाणं नियय लोगट्ठिइविहाणं ॥५४॥

'क्षिति-वलय-द्वीप-सागर-निरय-विमान-भवनादिसंस्थानं' तत्र क्षितयः खलु घर्माद्या ईषत्प्राग्भारावसाना अष्टौ भूमयः परिग्रह्यन्ते, वलयानि घनोदधि-घनवात-तनुवातात्मकानि घर्मादिसप्तपृथिवीपरिक्षेपीण्येकविंशतिः, द्वीपाः जम्बूद्वीपादयः स्वयम्भूरमणद्वीपान्ता असंख्येयाः, सागराः लवणसागरादयः स्वयम्भूरमणसागरपर्यन्ता असंख्येया एव, निरयाः सीमन्तकाद्या अप्रतिष्ठानावसानाः संख्येयाः, यत उक्तम्—तीसा य पन्नवीसा पनरस दसेव सयसहस्साइं । तिन्नेगं पंचूणं पंच य नरगा जहाकमसो ॥१॥ विमानानि

विवेचन—जहां तक धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पांच अस्तिकाय—बहुप्रदेशी द्रव्य—देखे जाते हैं उसका नाम लोक है । वह अनादि-अनन्त है—न वह कभी किसी के द्वारा रचा गया है और न किसी के द्वारा वह नष्ट भी किया जाता है; किन्तु अनादि काल से वह इसी प्रकार से चला आया है और अनन्त काल तक इसी प्रकार रहने वाला है । उक्त लोक की विशेष प्ररूपणा टीकाकार के द्वारा आवश्यक सूत्र के चतुर्विंशतिस्तव प्रकरण में की गई है ॥५३॥

पूर्वोक्त आठ प्रकार के लोक में जो क्षेत्रलोक है उसमें क्या विचार करना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा जाता है—

पृथिवी, वलय (वायुमण्डल), द्वीप, समुद्र, नरक, विमान और भवन आदि के आकार के साथ ही जिसका आधार आकाश आदि है उस शाश्वतिक लोकस्थितिविधान का भी चिन्तन करना चाहिए ॥

विवेचन—क्षेत्रलोक में घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवा, माघवी और ईषत्प्राग्भारा ये आठ पृथिवियां हैं । इनमें ईषत्प्राग्भार को छोड़कर शेष सात पृथिवियों को सब ओर से क्रमशः घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय ये तीन वायुमण्डल घेरे हुए हैं । इस प्रकार से वे वातवलय इक्कीस (७×३) हैं । जम्बुद्वीप को आदि लेकर स्वयम्भूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप और लवणसमुद्र को आदि लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त समुद्र भी असंख्यात ही हैं । नारकबिल उक्त घर्म आदि सात पृथिवियों में क्रम से तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पांच कम एक लाख और केवल पांच हैं । चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिषी देवों के तथा सौधर्मादि कल्पवासी व कल्पातीत वैमानिक देवों के

—ज्योतिष्कादिसम्बन्धीन्यनुत्तरविमानान्तान्यसंख्येयानि, ज्योतिष्कविमानानामसंख्येयत्वात्, भवनानि भवनवास्यालयलक्षणानि असुरादिदशनिकायसम्बन्धीनि असंख्येयानि, उक्तं च—सत्तेव य कोडीओ हवंति बावत्तरिं सयसहस्सा। एसो भवणसमासो भवणवईणं वियाणेज्जा '।१।। आदिशब्दादसंख्येयव्यन्तरनगर-परिग्रहः, उक्तं च—हेट्ठोवरिजोयणसयरहिए रयणाए जोयणसहस्से। पढमे वंतरियाणं भोमा नयरा असंखेज्जा ।।१।। ततश्च क्षितयश्च वलयानि चेत्यादिद्वन्द्वः, एतेषां संस्थानम् आकारविशेषलक्षणं विचिन्तयेदिति, तथा 'व्योमादिप्रतिष्ठानम्' इत्यत्र प्रतिष्ठितिः प्रतिष्ठानम्, भावे ल्युट्, व्योम—आकाशम्, आदिशब्दाद्वाय्वादिपरिग्रहः, व्योमादौ प्रतिष्ठानमस्येति व्योमादिप्रतिष्ठानम्, लोकस्थितिविधानमिति योगः, विधिः विधानं प्रकार इत्यर्थः, लोकस्य स्थितिः लोकस्थितिः, स्थितिः व्यवस्था मर्यादा इत्यनर्थान्तरम्, तद्विधानम्, किम्भूतम् ? 'नियतम्' नित्यं शाश्वतम्, क्रिया पूर्ववदिति गाथार्थः ।।५४।। किं च—

उवओगलक्खणमणाइनिहणमत्थंतरं सरीराओ।
जीवमरूविं कारिं भोयं च सयस्स कम्मस्स ।।५५।।
तस्स य सकम्मजणियं जम्माइजलं कसायपायालं।
वसणसयसावयमणं मोहावत्तं महाभीमं ।।५६।।
अण्णाण-मारुएरियसंजोग-विजोगवीइसंताणं।
संसार-सागरमणोरपारमसुहं विचिंतेज्जा ।।५७।।

उपयुज्यतेऽनेनेत्युपयोगः साकारानाकारादिः, उक्तं च—'स द्विविधोऽष्ट-चतुर्भेदः' [त. सू.२-९], स एव लक्षणं यस्य स उपयोगलक्षणस्तम्, जीवमिति वक्ष्यति, तथा 'अनाद्यनिधनम्' अनाद्यपर्यवसितम्, भवापवर्गप्रवाहापेक्षया नित्यमित्यर्थः, तथा 'अर्थान्तरम्' पृथग्भूतम्, कुतः ? शरीरात्, जातावेकवचनम् शरीरेभ्यः औदारिकादिभ्य इति, किमित्यत आह—जीवति जीविष्यति जीवितवान् वा जीव इति तम्, किम्भूतमित्यत आह—'अरूपिणम्' अमूर्तमित्यर्थः, तथा 'कर्तारम्' निर्वर्तकम्, कर्मण इति गम्यते, तथा 'भोक्तारम्' उपभोक्तरम्, कस्य ? स्वकर्मणः आत्मीयस्य कर्मणः, ज्ञानावरणीयादेरिति गाथार्थः ।।५५।। 'तस्य च' जीवस्य

निवासस्थानों को विमान कहा जाता है। ये विमान ज्योतिषी देवों के असंख्यात और वैमानिक देवों के चौरासी लाख हैं। भवनवासी देवों के निवासस्थानों का नाम भवन है। उनके इन समस्त भवनों का प्रमाण सात करोड़ बहत्तर लाख है। व्यन्तर देवों के निवासस्थान नगर कहलाते हैं, जो असंख्यात हैं। धर्मध्यानी इन सबके आकार आदि का विचार किया करता है। साथ ही वातवलयों और आकाश के ऊपर प्रतिष्ठित जो शाश्वतिक लोक है उसकी व्यवस्था आदि का भी वह विचार करता है ।।५४।।

आगे जीव के सम्बन्ध में वह क्या विचार करे, इसे तीन गाथाओं द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

जीव का लक्षण उपयोग—ज्ञान और दर्शन है। वह अनादि-अनन्त, शरीर से भिन्न, अरूपी और अपने कर्म का कर्त्ता व भोक्ता है। उसका अपने कर्म से उत्पन्न हुआ जो संसार रूप समुद्र है वह जन्म-मरणादि रूप जल से परिपूर्ण, कषायोंरूप पातालों से सहित, संकड़ों आपत्तियोंरूप श्वापदों (हिंसक जल-जीवविशेषों) से व्याप्त, मोह रूप भँवरों से संयुक्त, महाभयंकर और अज्ञानरूप वायु से प्रेरित संयोग-वियोग रूप लहरों की परम्परा से सहित है। वह संसाररूप समुद्र अनादि-अनन्त एवं अशुभ है। उसका चिन्तन धर्मध्यानी को करना चाहिए ।।

विवेचन—जीव का लक्षण चैतन्यपरिणामरूप उपयोग है। वह साकार और अनाकार के भेद से दो प्रकार का है। जो विशेषता के साथ पदार्थ को ग्रहण करता है उसे साकार (ज्ञान) और जो किसी प्रकार की विशेषता न करके सामान्य से ही वस्तु को विषय करता है उसे अनाकार (दर्शन) उपयोग कहा जाता है। वह जीव जन्म-मरण एवं मोक्ष की परम्परा की अपेक्षा अनादि व अनन्त है। औदारिकादि शरीरों से भिन्न होकर वह अरूपी—रूप-रसादि से रहित (अमूर्तिक)—और अपने कर्म का कर्त्ता व भोक्ता है। उसका संसार—जन्म-मरणादि की परम्परा—अपने ही कर्म से उत्पन्न हुई है। प्रकृत में उक्त

'स्वकर्मजनितम्' आत्मीयकर्मनिर्वर्तितम्, कम् ? संसार-सागरमिति वक्ष्यति तम्, किम्भूतमित्यत आह—'जन्मादिजलम्' जन्म प्रतीतम्, आदिशब्दाज्जरा-मरणपरिग्रहः, एतान्येवातिबहुत्वाज्जलमिव जलं यस्मिन् स तथाविधस्तम्, तथा 'कषाय-पातालम्' कषायाः पूर्वोक्तास्त एवागाधभव-जननसाम्येन पातालमिव पातालं यस्मिन् स तथाविधस्तम्, तथा 'व्यसनशत-श्वापदवन्तम्' व्यसनानि दुःखानि द्यूतादीनि वा, तच्छतान्येव पीडाहेतुत्वात् श्वापदानि, तान्यस्य विद्यन्त इति तद्वन्तम् 'मणं' ति देशीशब्दो मत्वर्थीयः, उक्तं च—मतुयत्थंमि मुणिज्जह आलं इल्लं मणं च मणुयं चेति, तथा 'मोहावर्तम्' मोहः मोहनीयं कर्म, तदेव तत्र विशिष्टभ्रमिजनकत्वादावर्तो यस्मिन् स तथाविधस्तम्, तथा 'महाभीमम्' अतिभयानकमिति गाथार्थः ॥५६॥ किं च—'अज्ञानम्' ज्ञानावरणकर्मोदयजनित आत्मपरिणामः, स एव तत्प्रेरकत्वान्मारुतः वायुस्तेनेरितः प्रेरितः, कः ? संयोग-वियोग-वीचिसन्तानो यस्मिन् स तथाविधस्तम्, तत्र संयोगः केनचित् सह सम्बन्धः, वियोगः तेनैव विप्रयोगः, एतावेव सन्ततप्रवृत्तत्वात् वीचयः ऊर्मयस्तत्प्रवाहः सन्तान इति भावना। संसरणं संसारः, [स] सागर इव संसार-सागरस्तम्, किम्भूतम् ? 'अनोरपारम्' अनाद्यपर्यवसितम्, 'अशुभम्' अशोभनं विचिन्तयेत्, तस्य गुणरहितस्य जीवस्येति गाथार्थः ॥५७॥

तस्स य संतरणसहं सम्मद्दंसण-सुबंधणमणग्घं ।
णाणमयकण्णधारं चारित्तमयं महापोयं ॥५८॥
संवरकयनिच्छिद्दं तव-पवणाइद्धजइणतरवेगं ।
वेरग्गमग्गपडियं विसोत्तियावीइनिक्खोभं ॥५९॥
आरोढुं मुणि-वणिया महग्घसीलंग-रयणपडिपुन्नं ।
जह तं निव्वाणपुरं सिग्घमविग्घेण पावंति ॥६०॥

संसार के अपरिमित होने से उसे यहाँ समुद्र कहा गया है—जिस प्रकार समुद्र अपरिमित जल से परिपूर्ण होता है उसी प्रकार जीव का वह संसार भी जल के समान अपरिमित जन्म-मरणादि से संयुक्त है, समुद्र में जहाँ विशाल पाताल रहते हैं वहाँ संसार में उन पातालों के समान क्रोधादि कषायें विद्यमान हैं, समुद्र में यदि श्वापद (हिंसक जलजन्तुविशेष) रहते हैं तो संसार में उन श्वापदों के समान पीड़ा उत्पन्न करनेवाले सैकड़ों व्यसन हैं—सैकड़ों आपत्तियाँ अथवा लोकप्रसिद्ध जुआ आदि व्यसन हैं, समुद्र में जिस प्रकार भँवर उठते हैं उसी प्रकार संसार में जन्म-मरण की परम्परा रूप भ्रमण को उत्पन्न करने वाला मोह है, समुद्र जैसे भय को उत्पन्न करता है वैसे ही संसार भी महान् भय को उत्पन्न करने वाला है, तथा समुद्र में जहां वायु से प्रेरित होकर लहरों की परम्परा चलती है वहाँ संसार में उन लहरों की परम्परा के समान अज्ञान रूप वायु से प्रेरित होकर संयोग-वियोग की परम्परा चलती रहती है; इस प्रकार अपने ही कर्म के वश प्रादुर्भूत जो यह संसार सर्वथा समुद्र के समान है उसके चिन्तन की भी यहां प्रेरणा की गई है ॥५५-५७॥

अब उक्त संसार-समुद्र के पार पहुंचाने में कौन समर्थ है, इसे आगे की तीन गाथाओं द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

उस संसार-समुद्र से पार उतारने में वह चारित्ररूपी महती नौका समर्थ है जिसका उत्तम बन्धन सम्यग्दर्शन है, जो निष्पाप (अथवा अनर्घ—अमूल्य) है, जिसका कर्णधार (चालक) ज्ञान है, जो आस्रवों के निरोधस्वरूप संवर के द्वारा छेदरहित कर दी गई है, जिसका अतिशयित वेग तपरूप वायु से प्रेरित है, जो वैराग्य रूप मार्ग पर चल रही है, तथा जो दुर्ध्यानरूप लहरों के द्वारा क्षोभ को नहीं प्राप्त करायी जा सकती है। महा मूल्यवान् शीलांगरूप—पृथिवीकायसंरम्भादि के परित्यागरूप—रत्नों से परिपूर्ण उस चारित्ररूप विशाल नौका पर आरूढ़ होकर मुनिरूप व्यापारी उस निर्वाणपुर को—मुक्तिरूप पुरी को—बिना किसी प्रकार की विघ्न-बाधाओं के शीघ्र ही पा लेते हैं ॥

'तस्य च' संसार-सागरस्य 'संतरणसहम्' सन्तरणसमर्थम्, पोतमिति वक्ष्यति, किंविशिष्टम् ? सम्यग्दर्शनमेव शोभनं बन्धनं यस्य स तथाविधस्तम्, 'अनघम्' अपापम्, ज्ञानं प्रतीतम्, तन्मयः तदात्मकः कर्णधारः निर्यामकविशेषो यस्य यस्मिन् वा स तथाविधस्तम्, चारित्रं प्रतीतम्, तदात्मकम्, 'महापोतम्' इति महाबोहित्थम्, क्रिया पूर्ववदिति गाथार्थः ॥५८॥ इहाऽऽश्रवनिरोधः संवरस्तेन कृतं निश्छिद्रं स्थगितरन्ध्रमित्यर्थः, अनशनादिलक्षणं तपः, तदेवेष्टपुरं प्रति प्रेरकत्वात् पवन इव तपःपवनस्तेनाऽऽविद्धस्य प्रेरितस्य जवनतरः शीघ्रतरो वेगः रयो यस्य स तथाविधस्तम्, तथा विरागस्य भावो वैराग्यम्, तदेवेष्टपुरप्रापकत्वान्मार्ग इव वैराग्यमार्गस्तस्मिन् पतितः गतस्तम्, तथा विस्रोतसिका अपध्यानानि, एता एवेष्टपुरप्राप्तिविघ्नहेतुत्वाद्वीचय इव विस्रोतसिकावीचयः, ताभिर्निक्षोभ्यः निष्प्रकम्पस्तमिति गाथार्थः ॥५९॥ एवम्भूतं पोतं किम् ? 'आरोढुं' इत्यारुह्य, के ? 'मुनि-वणिजः' मन्यन्ते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनयः, त एवातिनिपुणमाय-व्ययपूर्वकं प्रवृत्तेर्वणिज इव मुनिवणिजः, पोत एव विशेष्यते—महार्घाणि शीलाङ्गानि—पृथिवीकायसंरम्भपरित्यागादीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि, तान्येवैकान्तिकात्यन्तिकसुखहेतुत्वाद्रत्नानि महार्घशीलाङ्गरत्नानि, तैः परिपूर्णः भृतस्तम्, येन प्रकारेण यथा 'तत्' प्रकान्तं 'निर्वाणपुरं' सिद्धि-पत्तनम्, परिनिर्वाणपुरं वेति पाठान्तरम् 'शीघ्रम्' आशु स्वल्पेन कालेनेत्यर्थः, 'अविघ्नेन' अन्तरायमन्तरेण 'प्राप्नुवन्ति' आसादयन्ति, तथा विचिन्तयेदिति वर्तत इत्ययं गाथार्थः ॥६०॥

तत्थ य तिरयणविणिओगमइयमेगंतियं निरावाहं ।
साभाविय निरुवमं जह सोक्खं अक्खयमुवेंति ॥६१॥

'तत्र च' परिनिर्वाणपुरे 'त्रिरत्नविनियोगात्मकम्' इति त्रीणि रत्नानि ज्ञानादीनि, विनियोगश्चैषां क्रियाकरणम्, ततः प्रसूतेस्तदात्मकमुच्यते, तथा 'ऐकान्तिकम्' इत्येकान्तभावि 'निराबाधम्' इत्याबाधारहितम्, 'स्वाभाविकम्' न कृत्रिमम् 'निरुपमम्' उपमातीतमिति, उक्तं च—'नवि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खम्' इत्यादि 'यथा' येन प्रकारेण 'सौख्यम्' प्रतीतम्, 'अक्षयम्' अपर्यवसानम् 'उपयान्ति' सामीप्येन प्राप्नुवन्ति, क्रिया प्राग्वदिति गाथार्थः ॥६१॥

विवेचन—पूर्व तीन (५५-५७) गाथाओं में जीव के स्वरूप को प्रगट करते हुए कर्मोदयजनित उसके संसार को समुद्र की उपमा देकर उसकी भयंकरता दिखलायी जा चुकी है। अब इन गाथाओं में उक्त संसार-समुद्र से मुमुक्षु प्राणी कैसे पार होते हैं, इसे नाव के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया गया है—जिस प्रकार व्यापारी जन बहुमूल्य रत्नों को साथ लेकर समुद्र से पार होने के लिए ऐसी किसी सुदृढ़ व विशाल नौका का आश्रय लेते हैं जिसके बांधने की सांकल आदि दृढ़ हैं, जो निर्दोष है, जिसका खेवटिया अतिशय कुशल है, जो निश्छिद्र होकर अनुकूल वायु के वेग से प्रेरित है, जो अभीष्ट स्थान के अनुकूल सीधे और सरल मार्ग से जा रही है, और जो आंधी (तूफान) से उठने वाली लहरों से क्षोभ को प्राप्त नहीं होती है। प्रकृत में व्यापारियों के समान मुमुक्षु जन और नौका के समान चारित्र है। वह चारित्र सम्यग्दर्शन से स्थिर, निर्दोष, सम्यग्ज्ञान के आश्रय से अनुष्ठित, कर्मागम के कारणभूत मिथ्यादर्शनादिरूप आस्रवों से रहित—संवर से सहित, बाह्य व अभ्यन्तर तप से प्रेरित, वैराग्य से परिपूर्ण और आर्त-रौद्ररूप दुर्ध्यान से क्षोभरहित होना चाहिए। ऐसे अपूर्व चारित्र के द्वारा मोक्षाभिलाषी मुनिजन कर्मकृत विघ्न-बाधाओं से सर्वथा रहित होते हुए शीघ्र ही उस भयानक संसार से रहित होकर अविनाशी व निराबाध मुक्तिसुख को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार के चिन्तन की ओर भी यहां धर्मध्यानी को प्रेरित किया गया है ॥५८-६०॥

आगे मुक्ति प्राप्त होने पर जीव को जो स्वाभाविक सुख प्राप्त होता है उसका स्वरूप बतलाते हैं—

मुमुक्षु जीव उक्त निर्वाणपुर के प्राप्त कर लेने पर वहां सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नों के उपयोगस्वरूप, ऐकान्तिक—एकान्तरूप से होने वाले, बाधा से रहित, स्वाभाविक—कृत्रिमता से रहित (आत्मीक)—और उपमातीत—सर्वोत्कृष्ट—सुख को प्राप्त कर लेते हैं ॥६१॥

किं बहुणा ? सव्वं चिय जीवाइपयत्थवित्थरोवेयं ।
सव्वनयसमूहमयं झाइज्जा समयसब्भावं ॥६२॥

किं बहुना भाषितेन ? 'सर्वमेव' निरवशेषमेव 'जीवादिपदार्थविस्तरोपेतम्' जीवाऽजीवाऽऽश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षाख्यपदार्थप्रपञ्चसमन्वितं समयसद्भावमिति योगः, किंविशिष्टम् ? 'सर्वनयसमूहात्मकं द्रव्यास्तिकादिनयसङ्घातमयमित्यर्थः, 'ध्यायेत्' विचिन्तयेदिति भावना, समयसद्भावं' सिद्धान्तार्थमिति हृदयम्, अयं गाथार्थः ॥६२॥ गतं ध्यातव्यद्वारं, साम्प्रतं येऽस्य ध्यातारस्तान् प्रतिपादयन्नाह—

सव्वप्पमायरहिया मुणओ खीणोवसंतमोहा य ।
झायारो नाण-धणा धम्मज्झाणस्स निद्दिट्ठा ॥६३॥

प्रमादाः मद्यादयः, यथोक्तम्—मज्जं विसय-कसाया निद्दा विकहा य पंचमी भणिया । सर्वप्रमादैः रहिताः सर्वप्रमादरहिताः, अप्रमादवन्त इत्यर्थः, 'मुनयः' साधवः 'क्षीणोपशान्तमोहाश्च' इति क्षीणमोहाः क्षपकनिर्ग्रन्थाः, उपशान्तमोहाः उपशामकनिर्ग्रन्थाः, च-शब्दादन्ये वाऽप्रमादिनः, 'ध्यातारः' चिन्तकाः, धर्मध्यानस्येति सम्बन्धः, ध्यातार एव विशेष्यन्ते—'ज्ञान-धनाः' ज्ञान-वित्ताः विपश्चित इत्यर्थः, 'निर्दिष्टाः' प्रतिपादितास्तीर्थकर-गणधरैरिति गाथार्थः ॥६३॥ उक्ता धर्मध्यानस्य ध्यातारः, साम्प्रतं शुक्लध्यानस्याप्याद्यभेदद्वयस्याविशेषेण एत एव यतो ध्यातार इत्यतो मा भूत्पुनरभिधेया भविष्यन्तीति लाघवार्थं चरमभेदद्वयस्य प्रसङ्गत एव तानेवाभिधित्सुराह—

एएच्चिय पुव्वाणं पुव्वधरा सुप्पसत्थसंघयणा ।
दोण्ह सजोगाजोगा सुक्काण पराण केवलिणो ॥६४॥

'एत एव' येऽनन्तरमेव धर्मध्यानध्यातार उक्ताः 'पूर्वयोः' इत्याद्ययोर्द्वयोः शुक्लध्यानभेदयोः पृथक्त्ववितर्कसविचारमेकत्ववितर्कमविचारमित्यनयोः, ध्यातार इति गम्यते, अयं पुनर्विशेषः—'पूर्वधराः' चतुर्दशपूर्वविदस्तदुपयुक्ताः, इदं च पूर्वधरविशेषणमप्रमादवतामेव वेदितव्यम्, न निर्ग्रन्थानाम्, माष-तुष-मरुदेव्यादीनामपूर्वधराणामपि तदुपपत्तेः, 'सुप्रशस्तसंहननाः' इत्याद्यसंहननयुक्ताः, इदं पुनरोघत एव विशेषणमिति तथा 'द्वयोः' शुक्लयोः, परयोः उत्तरकालभाविनोः प्रधानयोर्वा सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति-व्युपरतक्रियाऽप्रतिपातिलक्षणयोर्यथासंख्यं सयोगायोगकेवलिनो ध्यातार इति योगः, एवं च गम्मए—सुक्कज्झाणाइदुगं वोली-

---

आगे प्रकृत ध्यातव्य द्वारका उपसंहार करते हुए सिद्धान्तार्थ के चिन्तन की प्रेरणा की जाती है—

बहुत कहने से क्या ? जो समय का सद्भाव—आगम का रहस्य—जीवाजीवादि पदार्थों के विस्तार से सहित और द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक आदि नयों के समूह स्वरूप है उस सभी का चिन्तन धर्मध्यानी को करना चाहिए ॥६२॥

अब धर्मध्यान के ध्याता मुमुक्षुओं का निरूपण किया जाता है—

धर्मध्यान के ध्याता ज्ञानरूप धन से सम्पन्न वे मुनि कहे गये हैं जो मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथारूप सब प्रमादों से रहित होते हुए क्षीणमोह—मोहनीय कर्म के क्षय में उद्यत—अथवा उपशान्तमोह—उक्त मोहनीय कर्म के उपशम में उद्यत हैं ॥६३॥

ये जो धर्मध्यान के ध्याता कहे गये है वे ही चूंकि आदि के दो शुक्लध्यानों के भी ध्याता हैं, अत एव उनका निरूपण फिर से न करना पड़े; इस लाघव की अपेक्षा कर अन्तिम दो शुक्लध्यानों के साथ उनका निर्देश यहीं पर—धर्मध्यान के ही प्रकरण में—किया जाता है—

ये ही पूर्वोक्त धर्मध्यान के ध्याता पूर्व दो शुक्लध्यानों के—पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार ध्यानों के—ध्याता हैं । विशेष इतना है कि वे अतिशय प्रशस्त संहनन—वज्रर्षभनाराचसंहनन—से युक्त होते हुए पूर्वधर—चौदह पूर्वों के ज्ञाता (श्रुतकेवली) होते हैं । अन्तिम शुक्लध्यानों के—सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति और व्युपरतक्रियाप्रतिपाति इन दो ध्यानों के—ध्याता क्रम से सयोगकेवली और अयोगकेवली होते है ॥६४॥

ण्णस्स ततियमप्पत्तस्स एयाए झाणंतरियाए वट्टमाणस्स केवलणाणमुप्पज्जइ, केवली य सुक्कलेसोऽज्झाणी य जाव सुहुमकिरियमनियट्टि त्ति गाथार्थः ॥६४॥ उक्तमानुषङ्गिकम्, इदानीमवसरमाप्तमनुप्रेक्षाद्वारं व्याचिख्यासुरिदमाह—

झाणोवरमेऽवि मुणी णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो ।
होइ सुभावियचित्तो धम्मज्झाणेण जो पुव्विं ॥६५॥

इह ध्यानं धर्मध्यानमभिगृह्यते, तदुपरमेऽपि तद्विगमेऽपि, 'मुनिः' साधुः 'नित्यं' सर्वकालमनित्यादिचिन्तनापरमो भवति, आदिशब्दादशरणैकत्व-संसारपरिग्रहः । एताश्च द्वादशानुप्रेक्षा भावयितव्याः—इष्टजनसम्प्रयोगर्द्धिविषयसुखसम्पदः [तथारोग्यम् । देहश्च यौवनं जीवितं च सर्वाण्यनित्यानि ॥१॥ जन्म-जरामरण-भयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते । जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥२॥ एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते । तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मनः कार्यम् ॥३॥ अन्योऽहं स्वजनात्परिजनाच्च विभवाच्छरीरकाच्चेति । यस्य नियता मतिरियं न बाधते तं हि शोककलिः ॥४॥ अशुचिकरणसामर्थ्यादाद्युत्तरकारणाशुचित्वाच्च । देहस्याशुचिभावः स्थाने स्थाने भवति चिन्त्यः ॥५॥ माता भूत्वा दुहिता भगिनी भार्या च भवति संसारे । व्रजति सुतः पितृतां भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव ॥६॥ मिथ्यादृष्टिरविरतः प्रमादवान् यः कषायदण्डरुचिः । तस्य तथास्रवकर्मणि यतेत तन्निग्रहे तस्मात् ॥७॥ या पुण्य-पापयोरग्रहणे वाक्काय-मानसी वृत्तिः । सुसमाहितो हितः संवरो वरददेशितश्चिन्त्यः ॥८॥ यद्वद्विशोषणादुपचितोऽपि यत्नेन जीर्यते दोषः । तद्वत्कर्मोपचितं निर्जरयति संवृतस्तपसा ॥९॥ लोकस्याधस्तिर्यक्त्वं चिन्तयेदूर्ध्वमपि च बाहुल्यम् । सर्वत्र जन्म-मरणे रूपिद्रव्योपयोगांश्च ॥१०॥ धर्मोऽयं स्वाख्यातो जगद्धितार्थं जिनैर्जितारिगणैः । येऽत्र रतास्ते संसार-सागरं लीलयोत्तीर्णाः ॥११॥ मानुष्यकर्मभूम्यार्यदेशकुलकल्पतायुरुपलब्धौ । श्रद्धा-कथक-श्रवणेषु सत्स्वपि सुदुर्लभा बोधिः ॥१२॥ प्रशमर. १५१–६२] इत्यादिना ग्रन्थेन, फलं चासां सचित्तादिष्वनभिष्वङ्ग-भवनिर्वेदाविति भावनीयम्, अथ किंविशिष्टोऽनित्यादिचिन्तनापरमो भवतीत्यत आह—'सुभावितचित्तः' सुभावितान्तःकरणः, केन ? 'धर्मध्यानेन' प्राग्निरूपितशब्दार्थेन, 'यः' कश्चित् 'पूर्वम्' आदाविति गाथार्थः ॥६५॥ गतमनुप्रेक्षाद्वारम्, अधुना लेश्याद्वारप्रतिपादनायाह—

होंति कमविसुद्धाओ लेसाओ पीय-पम्म-सुक्काओ ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व-मंदाइभेयाओ ॥६६॥

इह 'भवन्ति' सञ्जायन्ते, 'क्रमविशुद्धाः' परिपाटिविशुद्धाः, काः ? लेश्याः, ताश्च पीत-पद्म-शुक्लाः, एतदुक्तं भवति—पीतलेश्यायाः पद्मलेश्या विशुद्धा, तस्या अपि शुक्ललेश्येति क्रमः, कस्यैता भवन्त्यत

इस प्रकार ध्याता का निरूपण करके अब क्रमप्राप्त अनुप्रेक्षाद्वार का व्याख्यान किया जाता है—

जिस मुनि ने पूर्व में धर्मध्यान के द्वारा चित्त को सुवासित कर लिया है वह धर्मध्यान के समाप्त हो जाने पर भी सदा अनित्य व अशरण आदि अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन में तत्पर होता है ॥

विवेचन—ध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त है, इससे अधिक समय तक वह नहीं रहता । ऐसी स्थिति में ध्यान के समाप्त हो जाने पर ध्याता क्या करे, इस आशंका के समाधानस्वरूप यहां यह कहा गया है कि उक्त धर्मध्यान के विनष्ट हो जाने पर धर्मध्यान का ध्याता अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, संसार, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, धर्मस्वाख्यात और बोधिदुर्लभ; इन बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है । इनके स्वरूप के दिग्दर्शन में टीकाकार के द्वारा प्रशमरतिप्रकरणगत १२ (१५१–६२) श्लोक उद्धृत किये गये हैं । उनका स्वरूप अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है ॥६५॥

आगे लेश्याद्वार का वर्णन किया जाता है—

धर्मध्यान को प्राप्त हुए जीव के क्रम से विशुद्धि को प्राप्त होने वाली पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्यायें होती है । इनमें प्रत्येक तीव्र व मन्द आदि (मध्यम) भेदों से युक्त हैं ॥

विवेचन—जिस प्रकार कृष्णादि वर्ण वाली किसी वस्तु की समीपता से स्फटिक मणि में तद्रूप

आह—'धर्मध्यानोपगतस्य' धर्मध्यानयुक्तस्येत्यर्थः, किंविशिष्टाश्चैता भवन्त्यत आह—'तीव्र-मन्दादिभेदाः' इति, तत्र तीव्रभेदाः पीतादिस्वरूपेष्वन्त्याः, मन्दभेदास्त्वाद्याः, आदिशब्दान्मध्यमपक्षपरिग्रहः, अथवौघत एव परिणामविशेषात् तीव्र-मन्दभेदा इति गाथार्थः ॥६६॥ उक्तं लेश्याद्वारम्, इदानीं लिङ्गद्वारं विवृण्वन्नाह —

आगम-उवएसाऽऽणा-णिसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं ।
भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥६७॥

इहागमोपदेशाऽऽज्ञा-निसर्गतो यद् 'जिनप्रणीतानां' तीर्थकरप्ररूपितानां द्रव्यादिपदार्थानाम् 'श्रद्धानम्' अवितथा एत इत्यादिलक्षणं धर्मध्यानस्य तल्लिङ्गम्, तत्त्वश्रद्धानेन लिङ्ग्यते धर्मध्यायीति, इह चागमः सूत्रमेव, तदनुसारेण कथनम् उपदेशः, आज्ञा त्वर्थः, निसर्गः स्वभाव इति गाथार्थः ॥६७॥ किं च—

जिणसाहूगुणकित्तण-पसंसणा-विणय-दाणसंपण्णो ।
सुअ-सील-संजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ॥६८॥

'जिन-साधुगुणोत्कीर्तन-प्रशंसा-विनय-दानसम्पन्नः' इह जिन-साधवः प्रतीताः, तद्गुणाश्च निरतिचारसम्यग्दर्शनादयस्तेषामुत्कीर्तनं सामान्येन संशब्दनमुच्यते, प्रशंसा त्वहो श्लाघ्यतया भक्तिपूर्विका स्तुतिः, विनयः अभ्युत्थानादि, दानम् अशनादिप्रदानम्, एतत्सम्पन्नः एतत्समन्वितः, तथा श्रुत-शील-संयमरतः, तत्र श्रुतं सामायिकादिबिन्दुसारान्तम्, शीलं व्रतादिसमाधानलक्षणम्, संयमस्तु प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणः, यथोक्तम्—'पञ्चाश्रवात्' इत्यादि, एतेषु भावतो रतः, किम् ? धर्मध्यानीति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥६८॥ गतं लिङ्गद्वारम्, अधुना फलद्वारावसरः, तच्च लाघवार्थं शुक्लध्यानफलाधिकारे वक्ष्यतीत्युक्तं धर्मध्यानम् ।

परिणमन हुआ करता है उसी प्रकार कर्म के निमित्त से आत्मा का जो परिणाम होता है उसका नाम लेश्या है । वह छह प्रकार की है—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल । इनमें प्रथम तीन अशुभ व अन्तिम तीन शुभ हैं । धर्मध्यानी के जो पीत आदि तीन शुभ लेश्यायें होती हैं वे क्रम से विशुद्धि को प्राप्त हैं—पीत लेश्या की अपेक्षा पद्म और पद्म की अपेक्षा शुक्ल इस प्रकार वे उत्तरोत्तर विशुद्ध हैं । इनमें प्रत्येक तीव्र, मध्यम और मन्द भेदों से युक्त हैं—उनमें जो अन्तिम अंश हैं वे तीव्र और आदि के अंश मन्द हैं, शेष मध्य के अनेक अंश मध्यम हैं ॥६६॥

अब क्रमप्राप्त लिंग द्वार का वर्णन किया जाता है—

आगम, उपदेश, आज्ञा अथवा स्वभाव से जो जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट जीवाजीवादि पदार्थों का श्रद्धान उत्पन्न होता है वह धर्मध्यान का लिंग—उसका परिचायक हेतु है । आगम नाम सूत्र का है । उस सूत्र के अनुसार जो कथन किया जाता है वह उपदेश कहलाता है । इस उपदेश का जो अर्थ या अभिप्राय होता है उसे आज्ञा कहा जाता है । स्वभाव और निसर्ग ये समानार्थक शब्द हैं ॥६७॥

आगे इसी प्रसंग में धर्मध्यानी का स्वरूप कहा जाता है—

जो जिन, साधु और उनके गुणों के कीर्तन; प्रशंसा, विनय एवं दान से सम्पन्न होता हुआ श्रुत, शील और संयम में लीन होता है उसे धर्मध्यानी जानना चाहिए ॥

विवेचन—धर्मध्यानी की पहिचान तत्त्वार्थश्रद्धान से होती है, यह पूर्व गाथा में कहा जा चुका है । इसके अतिरिक्त उसमें और अन्य कौन से गुण होते हैं, इसका निर्देश प्रकृत गाथा में किया जा रहा है—वह जिन, साधु और उनके गुणों का कीर्तन व प्रशंसा करता है । उक्त जिन आदि का सामान्य से शब्दों द्वारा उल्लेख करना, इसका नाम कीर्तन और स्तुतिरूप में भक्तिपूर्वक उनको बढ़ा-चढ़ाकर कहना इसका नाम प्रशंसा है । जिन आदि को देखकर उठ खड़े होना व आदर व्यक्त करना, इसे विनय कहा जाता है । भोजन आदि के देने रूप दान प्रसिद्ध ही है । उक्त धर्मध्यान का ध्याता सामायिक आदि बिन्दुसार पर्यन्त श्रुत के परिशीलन में उद्यत रहता हुआ व्रतादि के संरक्षण रूप शील व हिंसादि के परित्यागरूप संयम में तत्पर रहता है ॥६८॥

अब यद्यपि फलद्वार अवसरप्राप्त है, पर लाघव की अपेक्षा उसका कथन यहां न करके आगे

इदानीं शुक्लध्यानावसर इत्यस्य चान्वर्थः प्राग्निरूपित एव, इहापि च भावनादीनि फलान्तानि तान्येव द्वादश द्वाराणि भवन्ति, तत्र भावना-देश-कालाऽऽसनविशेषेषु (धर्म)ध्यानादस्याविशेष एवेत्यत एतान्यनादृत्याऽऽलम्बनान्यभिधित्सुराह—

अह खंति-मद्दवऽज्जव-मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ ।
आलंबणाइँ जेहिं सुक्कज्झाणं समारुहइ ॥६९॥

'अथ' इत्यासनविशेषानन्तर्ये, 'क्षान्ति-मार्दवाऽऽर्जव-मुक्तयः' क्रोध-मान-माया-लोभपरित्यागरूपाः, परित्यागश्च क्रोधनिवर्तनमुदयनिरोधः उदीर्णस्य वा विफलीकरणमिति, एवं मानादिष्वपि भावनीयम्, एता एव क्षान्ति-मार्दवाऽऽर्जव-मुक्तयो विशेष्यन्ते—'जिनमतप्रधानाः' इति जिनमते तीर्थकरदर्शने कर्मक्षयहेतुतामधिकृत्य प्रधानाः जिनमतप्रधानाः, प्राधान्यं चासामकषायं चारित्रं चारित्राच्च नियमतो मुक्तिरिति कृत्वा, ततश्चैता आलम्बनानि प्राग्निरूपितशब्दार्थानि, यैरालम्बनैः करणभूतैः शुक्लध्यानं समारोहति, तथा च क्षान्त्याद्यालम्बना एव शुक्लध्यानं समासादयन्ति, नाऽन्य इति गाथार्थः ॥६९॥ व्याख्यातं शुक्लध्यानमधिकृत्याऽऽलम्बनद्वारम् । साम्प्रतं क्रमद्वारावसरः, क्रमश्चाऽऽद्ययोर्धर्मध्यान एवोक्तः, इह पुनरयं विशेषः—

तिहुयणविसयं कमसो संखिविउ मणो अणुंमि छउमत्थो ।
झायइ सुनिप्पकंपो झाणं अमणो जिणो होइ ॥७०॥

त्रिभुवनम् अधस्तिर्यगूर्ध्वलोकभेदम्, तद्विषयः गोचरः आलम्बनं यस्य मनस इति योगः, तत्त्रिभुवनविषयम्, 'क्रमशः' क्रमेण परिपाट्या प्रतिवस्तुपरित्यागलक्षणया, 'संक्षिप्य' सङ्कोच्य, किम् ? 'मनः' अन्तःकरणम्, क्व ? 'अणौ' परमाणौ, निधायेति शेषः, कः ? 'छद्मस्थः' प्राग्निरूपितशब्दार्थः, 'ध्यायति' चिन्तयति 'सुनिष्प्रकम्पः' अतीव निश्चल इत्यर्थः, 'ध्यानम्' शुक्लम्, ततोऽपि प्रयत्नविशेषान्मनोऽपनीय 'अमनाः' अविद्यमानान्तःकरणः 'जिनो भवति' अर्हन् भवति, चरमयोर्द्वयोर्ध्यातीति वाक्यशेषः, तत्राप्याद्यस्यान्त-

---

शुक्लध्यान के फलद्वार में किया जाने वाला है । इस प्रकार धर्मध्यान के समाप्त हो जाने पर अब शुक्लध्यान अवसरप्राप्त है । उसकी प्ररूपणा में भी वे ही भावना आदि (२८-२९) बारह द्वार हैं, जिनका कथन धर्मध्यान के प्रकरण में किया जा चुका है । उनमें भावना, देश, काल और आसनविशेष इन द्वारों में यहां धर्मध्यान से कुछ विशेषता नहीं है, अतः इनको छोड़कर आगे आलम्बन द्वार का निरूपण किया जाता है—

क्रोध, मान, माया और लोभ के परित्याग स्वरूप जो क्रम से क्षान्ति (क्षमा), मार्दव, आर्जव और मुक्ति हैं वे जिनमत में प्रधान होते हुए प्रकृत शुक्लध्यान के आलम्बन हैं । कारण यह कि इनके आश्रय से मुमुक्षु ध्याता उस शुक्लध्यान के ऊपर आरूढ़ होता है । उक्त क्रोधादि कषायों के परित्याग से अभिप्राय उनसे निवृत्त होने, उनके उदय के रोकने अथवा उदय को प्राप्त हुए उनके निष्फल करने का रहा है । जिनमत में प्रधान उन्हें इसलिए कहा गया है कि मुक्ति का कारणभूत जो चारित्र है वह उक्त क्रोधादि कषायों के अभाव में ही प्रादुर्भूत होता है ॥६९॥

अब शुक्लध्यान के अधिकार में क्रमद्वार अवसरप्राप्त है । धर्मध्यान के प्रकरण में जो क्रमद्वार का कथन किया गया है उसे आदि के दो शुक्लध्यानों के भी सम्बन्ध में समझना चाहिए । विशेषता यहां यह है—

छद्मस्थ ध्याता तीनों लोकों के विषय करने वाले मन को क्रम से संकुचित करके परमाणु में स्थापित करता हुआ अतिशय स्थिरतापूर्वक शुक्लध्यान का चिन्तन करता है । तत्पश्चात् प्रयत्नविशेष द्वारा परमाणु से भी उसे हटाकर उस मन से रहित होता हुआ जिन—अरहन्त केवली—हो जाता है और तब अन्तिम दो शुक्लध्यानों का चिन्तन करता है । उनमें से जब शैलेशी अवस्था के प्राप्त होने में अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहता है तब प्रथम का—सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती शुक्लध्यान का—और तत्पश्चात् शैलेशी अवस्था में द्वितीय का—व्युपरतक्रिया-अप्रतिपाती शुक्लध्यान का—चिन्तन करता है ॥७०॥

मुहूर्तेन शैलेशीमप्राप्तः, तस्यां च द्वितीयस्येति गाथार्थः ॥७०॥ आह—कथं पुनश्छद्मस्थस्त्रिभुवनविषयं मनः संक्षिप्याणौ धारयति, केवली वा ततोऽप्यपनयतीति ? अत्रोच्यते—

जह सव्वसरीरगयं मंतेण विसं निरुंभए डंके ।
तत्तो पुणोऽवणिज्जइ पहाणयरमंतजोगेणं ॥७१॥

'यथा' इत्युदाहरणोपन्यासार्थः, 'सर्वशरीरगतम्' सर्वदेहव्यापकम्, 'मन्त्रेण' विशिष्टवर्णानुपूर्वीलक्षणेन, 'विषम्' मारणात्मकं द्रव्यम्, 'निरुध्यते' निश्चयेन ध्रियते, क्व ? 'डङ्के' भक्षणदेशे, 'ततः' डङ्कात्पुनरपनीयते, केनेत्यत आह—'प्रधानतरमन्त्रयोगेन' श्रेष्ठतरमन्त्रयोगेनेत्यर्थः, मन्त्र-योगाभ्यामिति च पाठान्तरं वा, अत्र पुनर्योगशब्देनागदः परिगृह्यते इति गाथार्थः ॥७१॥ एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः—

तह तिहुयण-तणुविसयं मणोविसं जोगमंतबलजुत्तो ।
परमाणुंमि निरुंभइ अवणेइ तओवि जिण-वेज्जो ॥७२॥

तथा 'त्रिभुवन-तनुविषयम्' त्रिभुवन-शरीरालम्बनमित्यर्थः, मन एव भवमरणनिबन्धनत्वाद्विषम्, 'मन्त्र-योगबलयुक्तः' जिनवचन-ध्यानसामर्थ्यसम्पन्नः परमाणौ निरुणद्धि, तथाऽचिन्त्यप्रयत्नाच्चापनयति 'ततोऽपि' तस्मादपि परमाणोः, कः ? 'जिन-वैद्यः' जिन-भिषग्वर इति गाथार्थः ॥७२॥ अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तान्तरमभिधातुकाम आह—

उस्सारियेंधणभरो जह परिहाइ कमसो हुयासुव्व ।
थोविंधणावसेसो निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥७३॥
तह विसइंधणहीणो मणोहुयासो कमेण तणुयंमि ।
विसइंधणे निरुंभइ निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥७४॥

'उत्सारितेन्धनभरः' अपनीतदाह्यसङ्घातः यथा 'परिहीयते' हानिं प्रतिपद्यते 'क्रमशः' क्रमेण 'हुताशः' वह्निः, 'वा' विकल्पार्थः, स्तोकेन्धनावशेषः हुताशमात्रं भवति, तथा 'निर्वाति' विध्यायति 'ततः' स्तोकेन्धनादपनीतश्चेति गाथार्थः ॥७३॥ अस्यैव दृष्टान्तोपनयमाह—तथा विषयेन्धनहीनः' गोचरेन्धनरहित इत्यर्थः, मन एव दुःख-दाहकारणत्वाद् हुताशो मनोहुताशः, 'क्रमेण' परिपाट्या 'तनुके' कृशे, क्व ? 'विषयेन्धने' अणावित्यर्थः, किम् ? 'निरुध्यते' निश्चयेन ध्रियते, तथा 'निर्वाति ततः' तस्मादणोरपनीतश्चेति गाथार्थः ॥७४॥ पुनरप्यस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तोपनयावाह—

आगे छद्मस्थ तीनों लोकों के विषय करने वाले उस मन को संकुचित करके कैसे परमाणु में स्थापित करता है तथा केवली उससे भी उसे कैसे हटाते हैं, इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

जिस प्रकार समस्त शरीर में व्याप्त विष को मंत्र के द्वारा डंक में—काटने के स्थान में—रोका जाता है और तत्पश्चात् अतिशय श्रेष्ठ मंत्र के द्वारा डंकस्थान से भी उसे हटा दिया जाता है, उसी प्रकार तीनों लोकरूप शरीर को विषय करने वाले मनरूप विष को ध्यानरूप मंत्र के बल से युक्त ध्याता परमाणु में रोकता है और तत्पश्चात् जिनरूप वैद्य उस परमाणु से भी उसे हटा देता है ॥७१–७२॥

इसी को आगे दूसरे दृष्टान्त द्वारा पुष्ट किया जाता है—

जिस प्रकार ईंधन के समुदाय के हट जाने पर अग्नि क्रम से अल्प ईंधन के शेष रह जाने तक उत्तरोत्तर हानि को प्राप्त होती है और तत्पश्चात् अल्प ईंधन के भी समाप्त हो जाने पर वह बुझ जाती है उसी प्रकार विषयरूप ईंधन की हानि को प्राप्त हुई मनरूप अग्नि भी क्रम से उक्त विषयरूप ईंधन के अल्प रह जाने पर परमाणु में रुक जाती है और तत्पश्चात् उस विषयरूप ईंधन के सर्वथा नष्ट हो जाने पर वह मनरूप अग्नि भी बुझ जाती है। अभिप्राय यह है कि मन का विषय यद्यपि असीमित है, फिर भी विषयाकांक्षा के उत्तरोत्तर हीन होने पर उस मन का विषय परमाणु मात्र रह जाता है, तथा अन्त में उक्त विषयाकांक्षा का सर्वथा अभाव हो जाने पर वह मन भी विषयातीत होकर नष्ट हो जाता है ॥७३–७४॥

तोयमिव नालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा ।
परिहाइ कमेण जहा तह जोगिमणोजलं जाण ॥७५॥

'तोयमिव' उदकमिव 'नालिकायाः' घटिकायाः, तथा तप्तं च तदायसभाजनं लोहभाजनं च तप्तायसभाजनम्, तदुदरस्थम्, वा विकल्पार्थः, परिहीयते क्रमेण यथा, एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः—'तथा' तेनैव प्रकारेण योगिमन एवाविकलत्वाज्जलं योगिमनोजलं 'जानीहि' अवबुद्धयस्व, तथाऽप्रमादानलतप्तजीव-भाजनस्थं मनोजलं परिहीयत इति भावना, अलमतिविस्तरेणेति गाथार्थः ॥७५॥ 'अपनयति ततोऽपि जिनवैद्यः' इति वचनाद् एवं तावत् केवली मनोयोगं निरुणद्धीत्युक्तम्, अधुना शेषयोगनियोगविधिमभिधातुकाम आह—

एवं चिय वयजोगं निरुंभइ कमेण कायजोगंपि ।
तो सेलेसोव्व थिरो सेलेसी केवली होइ ॥७६॥

'एवमेव' एभिरेव विषादिदृष्टान्तैः, किम् ? वाग्योगं निरुणद्धि, तथा क्रमेण काययोगमपि निरुणद्धीति वर्तते, ततः 'शैलेश इव' मेरुरिव स्थिरः सन् शैलेशी केवली भवतीति गाथार्थः ॥७६॥ इह च भावार्थो नमस्कारनिर्युक्तौ प्रतिपादित एव, तथाऽपि स्थानाशून्यार्थं स एव लेशतः प्रतिपाद्यते तत्र योगानामिदं स्वरूपम्—औदारिकादिशरीरयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, तथौदारिक-वैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः, तथौदारिक-वैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोग इति । स चामीषां निरोधं कुर्वन् कालतोऽन्तर्मुहूर्तभाविनि परमपदे भवोपग्राहिकर्मसु च वेदनीयादिषु समुद्घाततो निसर्गेण वा समस्थितिषु सत्स्वेतस्मिन् काले करोति, परिमाणतोऽपि—पज्जत्तमित्तसन्निस्स जत्तियाइं जहण्णजोगिस्स । होंति मणोदव्वाइं तव्वावारो य जम्मत्तो ॥१॥

उसे पुष्ट करने के लिए और भी उदाहरण दिया जा रहा है—

जिस प्रकार नालिका (क्षुद्र घट) का जल अथवा तपे हुए लोहपात्र के मध्य में स्थित जल क्रम से क्षीण होता जाता है उसी प्रकार योगी के मनरूप जल को जानना चाहिए । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मिट्टी के पात्र में स्थित जल क्रम से उत्तरोत्तर चूता रहता है, अथवा अग्नि से सन्तप्त लोहे के पात्र में स्थित जल क्रम से जलकर क्षीण होता जाता है उसी प्रकार अग्नि के समान सन्तप्त करने वाले प्रमाद के उत्तरोत्तर हीन होते जाने से योगी का मन उत्तरोत्तर इन्द्रियविषय की ओर से विमुख होता हुआ केवली अवस्था में सर्वथा क्षय को प्राप्त हो जाता है ॥७५॥

अब शेष वचनयोग और काययोग के निरोधक्रम को भी दिखलाया जाता है—

इसी प्रकार से—मनयोग के समान—वह (केवली) क्रम से वचनयोग और काययोग का भी निरोध करता है । तत्पश्चात् वह शैलेश—पर्वतों के अधिपति मेरु—के समान स्थिर होकर शैलेशी केवली हो जाता है ॥

विवेचन—केवली जिन मनयोग आदि का निरोध करते हैं उनका स्वरूप इस प्रकार है—औदारिक आदि शरीरों से युक्त आत्मा के वीर्य का जो विशेष परिणमन होता है उसका नाम काययोग है । औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के व्यापार से जिस वचनद्रव्य के समूह (वचनवर्गणा) का आगमन होता है उसकी सहायता से होने वाले जीव के व्यापार को वचनयोग कहा जाता है । इन्हीं तीनों शरीरों के व्यापार से ग्रहण किये गये मनद्रव्य (मनोवर्गणा) की सहायता से जो जीव का व्यापार होता है वह मनयोग कहलाता है । मोक्षपद की प्राप्ति में जब अन्तर्मुहूर्त मात्र काल शेष रह जाता है तब संसार के कारणभूत वेदनीय आदि अघातिया कर्मों की स्थिति के समुद्घात के द्वारा अथवा स्वभाव से ही समान हो जाने पर केवली उक्त योगों का निरोध किया करते हैं । जघन्य योग वाले पर्याप्त मात्र संज्ञी जीवके जितने मनद्रव्य होते हैं और जितना उनका व्यापार होता है उनके असंख्यातगुणे हीन का प्रत्येक समय में निरोध करते हुए केवली असंख्यात समयों में समस्त मनयोग का निरोध कर देते हैं । तत्पश्चात्

तदसङ्खगुणविहीणे समए समए निरुंभमाणो सो। मणसो सव्वनिरोहं कुणइ असंखेज्जसमएहिं ॥२॥ पज्जत्तमित्तबिंदियजहण्णवइजोगपज्जया जे उ। तदसंखगुणविहीणे समए समए निरुंभंतो ॥३॥ सव्ववइजोगरोहं संखाईएहिं कुणइ समएहिं। तत्तो य सुहुमपणगस्स पढमसमओववन्नस्स ॥४॥ जो किर जहण्णजोओ तदसंखेज्जगुणहीणमेक्केक्के। समए निरुंभमाणो देहतिभागं च मुंचंतो ॥५॥ रुंभइ स कायजोगं संखाईएहिं चेव समएहिं। तो कयजोगनिरोहो सेलेसीभावणामेइ ॥६॥ सेलेसो किर मेरू सेलेसी होइ जा तहाऽचलया। होउं च असेलेसो सेलेसी होइ थिरयाए ॥७॥ अहवा सेलुव्व इसी सेलेसी होइ सो उ थिरयाए। सेव अलेसीहोई सेलेसीहो अलोवाओ ॥८॥ सीलं व समाहाणं निच्छयओ सव्वसंवरो सो य। तस्सेसो सीलेसो सीलेसी होइ तयवत्थो ॥९॥ हस्सक्खराइ मज्झेण जेण कालेण पंच भण्णंति। अच्छइ सेलेसिगओ तत्तियमेत्तं तओ कालं ॥१०॥ तणुरोहारंभाओ झायइ सुहुमकिरियाणियट्टि सो। वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाई सेलेसिकालंमि ॥११॥ तयसंखेज्जगुणाए गुणसेढीएँ रइयं पुरा कंमं। समए समए खवयं कमसो सेलेसिकालेणं ॥१२॥ सव्वं खवेइ तं पुण निल्लेवं किंचि दुचरिमे समए। किंचिच्च होंति चरमे सेलेसीए तयं

पर्याप्त मात्र दो इन्द्रिय जीव के जघन्य वचनयोग की जितनी अवस्थायें हैं उनके असंख्यातगुणे हीन वचनयोग की अवस्थाओं का वे प्रत्येक समय में निरोध करते हुए असंख्यात समय में समस्त वचनयोग का निरोध कर देते हैं। इस प्रकार वचनयोग का भी निरोध हो जाने पर वे सूक्ष्म पर्याप्तक जीव का उत्पन्न होने के प्रथम समय में जितना जघन्य योग होता है उससे असंख्यातगुणे हीन का प्रत्येक समय में निरोध करते हैं और शरीर के तृतीय भाग को छोड़ते हुए असंख्यात समयों में काययोग का भी निरोध कर देते हैं। इस प्रकार काययोग का निरोध कर चुकने पर वे शैलेशी भावना को प्राप्त होते हैं। शैलेश नाम मेरु पर्वत का है, उस मेरु के समान जो स्थिरता प्राप्त होती है उसे शैलेशी कहा जाता है। पूर्व में शैलेश न होकर पश्चात् स्थिरता के आश्रय से शैलेश हो जाना, यह शैली का अभिप्राय है। 'सेलेसी' यह शब्द प्राकृत का है। इसका संस्कृत रूपान्तर जैसे 'शैलेशी' होता है वैसे ही 'शैलर्षि' भी होता है, उसका अर्थ होता है शैल के समान स्थिर ऋषि, ऐसे ऋषि केवली ही होते हैं। अथवा 'स एव अलेसी सेलेसी' इस निरुक्ति के अनुसार उसका अभिप्राय लेश्या से रहित केवली ही होता है[1]। अथवा प्रकारान्तर से सर्वसंवररूप शील का जो ईश (स्वामी) है उसे शीलेश कहा जाता है। वे केवली जिन ही होते हैं, जो पूर्व में शीलेश नहीं थे वे उस केवली अवस्था में शीलेश हो जाते हैं, अतः उन्हें अशीलेश से शैलेशी कहा जाता है[2]। इस प्रकार योगनिरोध करके शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए केवली, जिस मध्यम काल से अ, इ, उ, ऋ और लृ इन पांच ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण होता है उतने काल उस शैलेशी अवस्था में स्थित रहते हैं। यही अयोगकेवली का काल है। केवली कायनिरोध के प्रारम्भ से सूक्ष्मक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान का चिन्तन करते हैं और तत्पश्चात् उक्त शैलेशी अवस्था में वे सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाति शुक्लध्यान का चिन्तन करते हैं। इस शैलेशीकाल में केवली असंख्यातगुणित गुणश्रेणी रूप से रचे गये पूर्वसंचित कर्म का प्रत्येक समय में क्षय करते हुए सब का क्षय कर देते हैं। उनमें कुछ कर्म का निर्लेप क्षय वे शैलेशीकाल के द्विचरम समय में और कुछ का उसके अन्तिम समय में क्षय करते हैं। उनमें से चरम समय में जिन कर्मप्रकृतियों का क्षय किया जाता है वे ये हैं—मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर,

---

१. ततो अंतोमुहुत्तं सेलेसिं पडिवज्जदि। ततोऽन्तर्मुहूर्तमयोगिकेवली भूत्वा शैलेश्यमेष भगवानलेश्यभावेन प्रतिपद्यते इति सूत्रार्थः। किं पुनरिदं शैलेश्यं नाम? शीलानामीशः शैलेशः, तश्य भावः शैलेश्यं सकलगुण-शीलानामैकाधिपत्यप्रतिलम्भनमित्यर्थः। जयध. अ. प. १२४६ (धव. पु १०, पृ. ३२६ का टि. १)

२. शीलेशः सर्वसंवररूपचरणप्रभुस्तस्येयमवस्था। शैलेशो वा मेरुस्तस्येव याऽवस्था स्थिरतासाधर्म्यात् सा शैलेशी। सा च सर्वथा योगनिरोधे पंचह्रस्वाक्षरोच्चारकालमाना। व्याख्याप्रज्ञप्ति अभय. वृ. १, ८, ७२ (धव. पु. ६, पृ. ४१७ का टि. १)

वोच्छं ॥१३॥ मणुयगइ-जाइ-तस-बादरं च पज्जत्त-सुभगमाएज्जं । अन्नयरवेयणिज्जं नराउमुच्चं जसो नामं ॥१४॥ संभवओ जिणणामं नराणुपुव्वी य चरिमसमयंमि । सेसा जिणसंताओ दुचरिमसमयंमि निट्ठंति ॥१५॥ ओरालियाहि सव्वाहि चयइ विप्पजहणाहि जं भणियं । निस्सेस तहा न जहा देसच्चाएण सो पुव्वं ॥१६॥ तस्सोदइयाभावा भव्वत्तं च विणियत्तए समयं । सम्मत्त-णाण-दंसण-सुह-सिद्धत्ताणि मोत्तूणं ॥१७॥ उजुसेढिं पडिवन्नो समयपएसंतरं अफुसमाणो । एगसमएण सिज्झइ अह सागारोवउत्तो सो ॥१८॥ अलमतिप्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥७६॥ उक्तं क्रमद्वारम्, इदानीं ध्यातव्यद्वारं विवृण्वन्नाह—

उप्पाय-ट्ठिइ-भंगाइपज्जयाणं जमेगवत्थुंमि ।
नाणानयाणुसरणं पुव्वगयसुयाणुसारेणं ॥७७॥
सवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं ।
होइ पुहुत्तवितक्कं सवियारमरागभावस्स ॥७८॥

'उत्पाद-स्थिति-भङ्गादिपर्यायाणाम्' उत्पादादयः प्रतीताः, आदिशब्दान्मूर्तामूर्तग्रहः, अमीषां पर्यायाणां यदेकस्मिन् द्रव्ये अण्वात्मादौ, किम् ? नानानयैः द्रव्यास्तिकादिभिरनुस्मरणं चिन्तनम्, कथम् ? पूर्वगतश्रुतानुसारेण पूर्वविदः, मरुदेव्यादीनां त्वन्यथा ॥७७॥ तत्किमित्याह—'सविचारम्' सह विचारेण वर्तत इति सविचारम्, विचारः अर्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रम इति, आह च—'अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरतः' अर्थः द्रव्यम्, व्यञ्जनं शब्दः, योगः मनःप्रभृति, एतदन्तरतः एतावद्भेदेन सविचारम्, अर्थाद् व्यञ्जनं संक्रामतीति विभाषा, 'तकम्' एतत् प्रथमं शुक्लम्' आद्यशुक्लं भवति, किंनामेत्यत आह—'पृथक्त्ववितर्कं सविचारम्' पृथक्त्वेन भेदेन, विस्तीर्णभावेनान्ये, वितर्कः श्रुतं यस्मिन् तत्तथा, कस्येदं भवतीत्यत आह—

पर्याप्त, सुभग, आदेय, साता-असाता में से कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, उच्चगोत्र, यशःकीर्ति, यदि तीर्थंकर नामकर्म सम्भव है तो वह और मनुष्यगत्यानुपूर्वी । शेष जिन कर्मप्रकृतियों का सत्त्व केवली के होता है उन्हें वे द्विचरम समय में क्षीण करते हैं । उस समय केवली के सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, सुख और सिद्धत्व को छोड़कर औदयिक भावों के साथ भव्यत्व भी नष्ट हो जाता है । तब केवली ऋजुश्रेणि (ऋजुगति) को प्राप्त होकर समय के प्रदेशान्तर का स्पर्श न करते हुए साकार उपयोग के साथ एक समय में सिद्ध हो जाते हैं—मोक्षपद को प्राप्त कर लेते हैं ॥७६॥

इस प्रकार क्रम द्वार को समाप्त करके अब ध्यातव्य द्वार का वर्णन करते हैं—

एक वस्तु में उत्पाद, स्थिति (ध्रौव्य) और भंग (व्यय) आदि अवस्थाओं का द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक आदि अनेक नयों के आश्रय से जो पूर्वगत श्रुत के अनुसार चिन्तन होता है वह प्रथम शुक्लध्यान माना गया है । वह अर्थान्तर, व्यंजनान्तर और योगान्तर की अपेक्षा सविचार है । पृथक्त्ववितर्क सविचार नाम का यह प्रथम शुक्लध्यान रागभाव से रहित—वीतराग छद्मस्थ के होता है ॥

विवेचन—चार प्रकार के शुक्लध्यान में प्रथम पृथक्त्ववितर्क सविचार ध्यान है । पृथक्त्व का अर्थ भेद या विस्तार और वितर्क का अर्थ श्रुत है । तदनुसार यह अभिप्राय हुआ कि जिस ध्यान में श्रुत के सामर्थ्य से द्रव्य की उत्पादादि अवस्थाओं का भेदपूर्वक चिन्तन होता है उसे पृथक्त्ववितर्क जानना चाहिए । इस ध्यान में अर्थ से अर्थान्तर, व्यंजन से व्यंजनान्तर और विवक्षित योग से योगान्तर में संक्रमण (परिवर्तन) होता रहता है; इसी से इसे सविचार कहा गया है । कारण यह है कि अर्थ, व्यंजन और योग के संक्रमण का नाम ही विचार है; उस विचार से सहित होने के कारण उसे सविचार कहना सार्थक है । अर्थ शब्द से यहाँ ध्यान के विषयभूत द्रव्य व पर्याय को ग्रहण किया गया है । इस ध्यान का ध्याता कभी द्रव्य का चिन्तन करता है तो कभी उसको छोड़कर पर्याय का चिन्तन करता है, तत्पश्चात् पुनः द्रव्य का चिन्तन करता है; इस प्रकार इसमें अर्थ का संक्रमण होता रहता है । व्यंजन का अर्थ शब्द है । इस ध्यान का ध्याता कभी एक श्रुतवचन का चिन्तन करता है तो कभी उसको छोड़ अन्य श्रुतवचन का चिन्तन करता है; इस प्रकार व्यंजन का भी संक्रमण होता है । इसी प्रकार तीनों योगों के बीच भी उसमें संक्रमण होता रहता है । पूर्वगत श्रुत के पारगामी श्रुतकेवली ही इस ध्यान के अधि-

'अरागभावस्य' रागपरिणामरहितस्येति गाथार्थः ॥७८॥

जं पुण सुणिप्पकंपं निवायसरणप्पईवमिव चित्तं ।
उप्पाय-ठिइ-भंगाइयाणमेगंमि पज्जाए ॥७९॥
अवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ तयं बितियसुक्कं ।
पुव्वगयसुयालंबणमेगत्तवितक्कमवियारं ॥८०॥

यत्पुनः 'सुनिष्प्रकम्पम्' विक्षेपरहितं 'निवातशरणप्रदीप इव' निर्गतवातगृहैकदेशस्थदीप इव 'चित्तम्' अन्तःकरणम्, क्व ? उत्पाद-स्थिति-भङ्गादीनामेकस्मिन् पर्याये ॥७९॥ ततः किमत आह—अविचारम् असंक्रमम्, कुतः ? अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरतः इति पूर्ववत्, तमेवंविधं द्वितीयं शुक्लं भवति, किममिधानमित्यत आह—'एकत्ववितर्कमविचारम्' एकत्वेन अभेदेन, वितर्कः व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो वा यस्य तत्तथा, इदमपि च पूर्वगतश्रुतानुसारेणैव भवति, अविचारादि पूर्ववदिति गाथार्थः ॥८०॥

निव्वाणगमणकाले केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स ।
सुहुमकिरियाऽनियट्टि तइयं तणुकायकिरियस्स ॥८१॥

कारी होते हैं ॥७७–७८॥

अब आगे ध्यातव्य के इस प्रकरण में द्वितीय शुक्लध्यान का निर्देश किया जाता है—

वायु से रहित घर के दीपक के समान जो चित्त (अन्तःकरण) उत्पाद, स्थिति और भंग इनमें से किसी एक ही पर्याय में अतिशय स्थिर होता है वह एकत्ववितर्क अविचार नाम का दूसरा शुक्लध्यान है। वह अर्थान्तर, व्यंजनान्तर और योगान्तर के संक्रमण से रहित होने के कारण अविचार होकर पूर्वगत श्रुत का आश्रय लेनेवाला है ॥

विवेचन—जिस प्रकार घरके भीतर स्थित दीपक वायु के अभाव में कम्पन से सर्वथा रहित होता हुआ स्थिर रूप में जलता है—उसकी लौ इधर-उधर नहीं घूमती है, उसी प्रकार ध्यान की अस्थिरता के कारणभूत राग, द्वेष व मोह के न रहने से एकत्ववितर्क अविचार शुक्लध्यान स्थिर रहता है। पूर्वोक्त पृथक्त्ववितर्क सविचार ध्यान में जहां उत्पाद, स्थिति और भंग इन अवस्थाओं का भेदपूर्वक परिवर्तित रूप में चिन्तन होता था वहाँ इस ध्यान में उनका चिन्तन भेद को लिये हुए परिवर्तित रूप में नहीं होता, किन्तु उक्त तीनों अवस्थाओं में से यहां किसी एक ही अवस्था का भेद के विना चिन्तन होता है। इसी प्रकार पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान में अर्थ, व्यंजन और योग का परस्पर संक्रमण होता था, अर्थात् उस ध्यान का ध्याता अर्थ का विचार करता हुआ उसे छोड़कर व्यंजन (शब्द) का विचार करने लगता था, पश्चात् उस व्यंजन को भी छोड़कर योग का अथवा पुनः अर्थ का चिन्तन करता था। अथवा ध्येयस्वरूप अर्थ द्रव्य या पर्याय है, उक्त ध्याता कभी द्रव्य का चिन्तन करता है तो कभी उसे छोड़कर पर्याय का चिन्तन करता है, तत्पश्चात् पुनः द्रव्य का चिन्तन करता है; यह अर्थसंक्रमण हुआ। व्यंजन का अर्थ वचन—श्रुतवचन—है, उक्त ध्याता एक श्रुतवचन का ध्यान करता हुआ उसे छोड़कर अन्य का ध्यान करता है, उसको भी छोड़ अन्य का ध्यान करता है; इस प्रकार उक्त ध्यान में व्यंजन का संक्रमण चालू रहता है। उसी प्रकार योग का भी संक्रमण उसमें हुआ करता है—वह कभी काययोग को छोड़कर अन्य योग को ग्रहण करता है तो फिर उसे भी छोड़कर पुनः काययोग को ग्रहण करता है। अर्थ, व्यंजन और योग का इस प्रकार का संक्रमण प्रकृत एकत्ववितर्क शुक्लध्यान में नहीं रहता, इसीलिए उसे अविचार कहा गया है। पूर्वगत श्रुत का आलम्बन उन दोनों ही शुक्लध्यानों में समान रूप से विद्यमान रहता है ॥७९–८०॥

आगे क्रमप्राप्त तृतीय शुक्लध्यान के विषय का निर्देश किया जाता है—

मुक्ति गमन के समय कुछ योगनिरोध कर चुकने वाले सूक्ष्म काय की क्रिया से संयुक्त केवली के सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति नाम का तीसरा शुक्लध्यान होता है ॥

'निर्वाणगमनकाले' मोक्षगमनप्रत्यासन्नसमये 'केवलिनः' सर्वज्ञस्य मनो-वाग्योगद्वये निरुद्धे सति अर्द्धनिरुद्धकाययोगस्स, किम् ? 'सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्ति' सूक्ष्मा क्रिया यस्व तत्तथा, सूक्ष्मक्रियं च तदनिवर्ति चेति नाम, निवर्तितुं शीलमस्येति निवर्ति, प्रवर्द्धमानतरपरिणामात् न निवर्ति अनिवर्ति तृतीयम्, ध्यानमिति गम्यते, 'तनुकायक्रियस्य' इति तन्वी उच्छ्वास-निःश्वासादिलक्षणा कायक्रिया यस्य स तथाविधस्तस्येति गाथार्थः ॥८१॥

तस्सेव य सेलेसीगयस्स सेलोव्व णिप्पकंपस्स ।
वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइज्झाणं परमसुक्कं ॥८२॥

'तस्यैव च' केवलिनः, 'शैलेशीगतस्य' शैलेशी प्राग्वर्णिता, तां प्राप्तस्य, किंविशिष्टस्य ? निरुद्धयोगत्वात् 'शैलेश इव निष्प्रकम्पस्य' मेरोरिव स्थिरस्येत्यर्थः, किम् ? व्यवच्छिन्नक्रियं योगाभावात्, तत्

विवेचन—पूर्वप्ररूपित एकत्ववितर्क अविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के विनष्ट हो जाने पर जीव सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हो जाता है, तब वह केवली कहलाता है। केवली तीर्थंकर भी होते हैं व सामान्य भी होते हैं। वे अधिक से अधिक कुछ कम (आठ वर्ष व अन्तर्मुहूर्त कम) एक पूर्वकोटि काल तक इस जीवनमुक्त अवस्था में रह सकते हैं। उनकी आयु जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाती है तब यदि वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघातिया कर्मों की स्थिति आयु-कर्म की स्थिति के बराबर रहती है तो वे उस समय मन व वचन योगों का पूर्णरूप से निरोध करके बादर काययोग का भी निरोध कर देते हैं और सूक्ष्म—उच्छ्वास-निःश्वासरूप—काययोग का आलम्बन लेकर प्रकृत सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति शुक्लध्यान पर आरूढ़ होते हैं। यह ध्यान तीनों कालों के विषयभूत अनन्त पदार्थों के प्रकाशक केवलज्ञानस्वरूप है। 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' इस सूत्र में जो 'चिन्ता' शब्द है वह ध्यानसामान्य का वाचक है। इस प्रकार जैसे कहीं पर श्रुतज्ञान को ध्यान कहा जाता हैं वैसे ही केवलज्ञान को भी ध्यान समझना चाहिए। सूक्ष्म काययोग में स्थित रहते हुए चूंकि इस ध्यान की प्रवृत्ति होती है, इसीलिए उसे सूक्ष्मक्रिय कहा गया है। सूक्ष्म काययोग में वर्तमान केवली इस ध्यान के आश्रय से उस सूक्ष्म काययोग का भी निरोध किया करते हैं। तत्पश्चात् वे अन्तिम व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति शुक्लध्यान के उन्मुख होते हैं। परन्तु यदि पूर्वोक्त प्रकार से उनके वेदनीय आदि की स्थिति आयु कर्म की स्थिति के समान न होकर उससे अधिक होती है तो वे उसे आयु कर्म की स्थिति के समान करने के लिए चार समयों में क्रम से दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करते हैं। तत्पश्चात् चार समयों में उक्त समुद्घातों में फैले हुए आत्मप्रदेशों को क्रम से प्रतर, कपाट और दण्ड के रूप में संकुचित करके शरीरस्थ करते हैं। इस प्रकार ध्यान के बल से लोकपूरण समुद्घात में वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मों की स्थिति को आयु कर्म की स्थिति के समान करके सूक्ष्म काययोग में स्थित होते हुए वे सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति ध्यान के ध्याता होते हैं। प्रतिपतन या निवर्तन स्वभाव वाला न होने से इस ध्यान को अप्रतिपाति या अनिवर्ति कहा गया है ॥८१॥

आगे उक्त केवली के होने वाले व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति परम शुक्लध्यान का निर्देश किया जाता है—

शैल (पर्वत) के समान कम्पन—हलन-चलन क्रिया—से रहित होकर शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए उक्त केवली के व्युच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाति नाम का सर्वोत्कृष्ट शुक्लध्यान होता है ॥

विवेचन—उक्त क्रम से जब तीनों योगों का पूर्णरूप से निरोध हो जाता है तब योग से रहित हुए वे केवली अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होकर शैलेशी अवस्था (देखो पीछे गा. ७६) को प्राप्त होते हुए इस व्युच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाति नामक चौथे शुक्लध्यान के ध्याता होते हैं। इससे पूर्व जो श्वासोच्छ्वास के प्रचाररूप सूक्ष्म काय की क्रिया थी, उसके भी विनष्ट हो जाने से इसे व्युच्छिन्नक्रिय या दूसरे शब्द से व्युपरतक्रिय कहा गया है। साथ ही चूंकि सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा करने

'अप्रतिपाति' अनुपरतस्वभावमिति, एतदेव चास्य नाम, ध्यानं परमशुक्लम्—प्रकटार्थमिति गाथार्थः ॥८२॥ इत्थं चतुर्विधं ध्यानमभिधायाधुनैतत्प्रतिबद्धमेव वक्तव्यताशेषमभिधित्सुराह—

पढमं जोगे जोगेसु वा मयं बितियमेयजोगंमि।
तइयं च कायजोगे सुक्कमजोगंमि य चउत्थं ॥८३॥

'प्रथमम्' पृथक्त्ववितर्कसविचारम् 'योगे' मनआदौ योगेषु वा सर्वेषु 'मतम्' इष्टम्, तच्चागमिकश्रुतपाठिनः, 'द्वितीयम्' एकत्ववितर्कमविचारं तदेकयोग एव, अन्यतरस्मिन् संक्रमाभावात्, तृतीयं च सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्ति काययोगे, न योगान्तरे, शुक्लम् 'अयोगिनि च' शैलेशीकेवलिनि 'चतुर्थम्' व्युपरतक्रियाऽप्रतिपातीति गाथार्थः ॥८३॥ आह शुक्लध्यानोपरिमभेदद्वये मनो नास्त्येव, अमनस्कत्वात् केवलिनः, ध्यानं च मनोविशेषः 'ध्यै चिन्तायाम्' इति पाठात्, तदेतत्कथम् ? उच्यते—

जह छउमत्थस्स मणो झाणं भण्णइ सुनिच्चलो संतो।
तह केवलिणो काओ सुनिच्चलो भन्नए झाणं ॥८४॥

यथा छद्मस्थस्य मनः, किम् ? ध्यानं भण्यते सुनिश्चलं सत्, 'तथा' तेनैव प्रकारेण योगत्वाव्यभिचारात्केवलिनः कायः सुनिश्चलो भण्यते ध्यानमिति गाथार्थः ॥८४॥ आह—चतुर्थे निरुद्धत्वादसावपि न भवति, तथाविधभावेऽपि च सर्वभावप्रसङ्गः, तत्र का वार्तेति ? उच्यते—

पुव्वप्पओगओ चिय कम्मविणिज्जरणहेउतो यावि।
सद्दत्थबहुत्ताओ तह जिणचंदागमाओ य ॥८५॥

के विना उससे निवर्तन (लौटना) सम्भव नहीं है, इसीलिए उसे अनिवर्ति भी कहा जाता है; अथवा उससे प्रतिपतन (गिरना) सम्भव न होने के कारण उसे दूसरे समानार्थक शब्द से अप्रतिपाति भी कहा जाता है। जिस प्रकार तीसरा सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति ध्यान केवलज्ञानस्वरूप है उसी प्रकार यह भी केवलज्ञानस्वरूप है। विशेषता इतनी है कि जहां तीसरा सूक्ष्मकाययोग के परिणाम स्वरूप था वहां यह चौथा शुक्लध्यान योगरहित आत्मपरिणामस्वरूप है ॥८२॥

आगे उक्त चार शुक्लध्यान योग की अपेक्षा किस अवस्था में होते हैं, यह दिखलाते हैं—

उक्त चार शुक्लध्यानों में प्रथम पृथक्त्ववितर्क सविचार ध्यान योग अथवा योगों में होता है—वह मन आदि तीनों योगों में परिवर्तिरूप से होता है, द्वितीय एकत्ववितर्क अविचार ध्यान तीनों योगों में से किसी एक ही योग में अपरिवर्तितरूप से होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियअनिवर्ति ध्यान एक काययोग में ही होता है, तथा चौथा व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति ध्यान योग का सर्वथा अभाव हो जाने पर अयोग अवस्था में ही होता है ॥८३॥

यहां यह आशंका हो सकती थी कि केवली के जब मन का ही सद्भाव नहीं रहा तब उनके के दो ध्यान—सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति और व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति—कैसे सम्भव हैं, क्योंकि मनविशेष का नाम ही तो ध्यान है ? इसके समाधानस्वरूप आगे यह कहा जा रहा है—

जिस प्रकार छद्मस्थ के अतिशय निश्चलता को प्राप्त हुए मन को ध्यान कहा जाता है, उसी प्रकार केवली के अतिशय निश्चलता को प्राप्त हुए शरीर को ध्यान कहा जाता है, क्योंकि योग की अपेक्षा वे दोनों ही समान हैं ॥८४॥

यहां पुनः यह शंका उपस्थित होती है कि अयोगकेवली के तो काययोग का भी निरोध हो चुका है, फिर उनके व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति नामक चौथे ध्यान के समय वह (काययोग) भी कैसे रह सकता है ? इसके समाधानस्वरूप आगे कहा जाता है—

संसार में स्थित केवली के चित्त का अभाव हो जाने पर भी पूर्व प्रयोग की अपेक्षा, कर्मनिर्जरा का कारण होने से, शब्दार्थ की बहुतता से और जिनप्रणीत आगम के आश्रय से सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति

चित्ताभावेवि सया सुहुमोवरयकिरियाइ भण्णंति ।
जीवोवओगसब्भावओ भवत्थस्स झाणाइं ॥८६॥

काययोगनिरोधिनो योगिनोऽयोगिनोऽपि चित्ताभावेऽपि सूक्ष्मोपरतक्रियो भण्यते, सूक्ष्मग्रहणात् सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्तिनो ग्रहणम्, उपरतग्रहणाद् व्युपरतक्रियाऽप्रतिपातिन इति, पूर्वप्रयोगादिति हेतुः, कुलालचक्रभ्रमणवदिति दृष्टान्तोऽभ्यूह्यः, यथा चक्रं भ्रमणनिमित्तदण्डादिक्रियाऽभावेऽपि भ्रमति तथाऽस्यापि मनःप्रभृतियोगोपरमेऽपि जीवोपयोगसद्भावतः भावमनसो भावात् भवस्थस्य ध्याने इति, अपिशब्दश्चोदनानिर्णयप्रथमहेतुसम्भावनार्थः, चशब्दस्तु प्रस्तुतहेत्वनुकर्षणार्थः, एवं शेषहेतवोऽप्यनया गाथया योजनीयाः, विशेषस्तूच्यते—'कर्मविनिर्जरणहेतुतश्चापि' कर्मविनिर्जरणहेतुत्वात् क्षपकश्रेणिवत्, भवति च क्षपकश्रेण्यामिवास्य भवोपग्राहिकर्मनिर्जरेति भावः, चशब्दः प्रस्तुतहेत्वनुकर्षणार्थः, अपिशब्दस्तु द्वितीयहेतुसम्भावनार्थ इति, 'तथा शब्दार्थबहुत्वात्' यथैकस्यैव हरिशब्दस्य शक्र-शाखामृगादयोऽनेकार्थाः एवं ध्यानशब्दस्यापि, न विरोधः, 'ध्यै चिन्तायाम्, ध्यै कायनिरोधे, ध्यै अयोगित्वे' इत्यादि, तथा जिनचन्द्रागमाच्चैतदेवमिति, उक्तं च—'आगमश्चोपपत्तिश्च सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम् । अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये ॥१॥ इत्यादि गाथाद्वयार्थः ॥८५-८६॥ उक्तं ध्यातव्यद्वारम्, ध्यातारस्तु धर्मध्यानाधिकार एवोक्ताः, अधुनाऽनुप्रेक्षाद्वारमुच्यते—

सुक्कज्झाणसुभावियचित्तो चिंतेइ झाणविरमेऽवि ।
णियमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपन्नो ॥८७॥

शुक्लध्यानसुभावितचित्तश्चिन्तयति ध्यानविरमेऽपि नियतमनुप्रेक्षाश्चतस्रश्चारित्रसम्पन्नः, तत्परिणामरहितस्य तदभावादिति गायार्थः ॥८७॥ ताश्चैताः—

और व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति ध्यान कहे जाते हैं। कारण इसका यह है कि उनके जीवोपयोगरूप चित्त का सद्भाव पाया जाता है ॥

विवेचन—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कुम्हार के चाक को एक बार लकड़ी से घुमा देने पर वह लकड़ी के अलग कर देने पर भी पूर्व प्रयोग की अपेक्षा कुछ समय तक स्वयं ही घूमता रहता है उसी प्रकार केवली के मनयोगादि का निरोध हो जाने पर भी पूर्वकालीन जीव के उपयोगरूप भावमन के बने रहने से सयोगकेवली के सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति शुक्लध्यान (तीसरा) और अयोगकेवली के व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति शुक्लध्यान (चौथा) सम्भव है। दूसरे, जिस प्रकार कर्मनिर्जरा का कारणभूत ध्यान क्षपकश्रेणि में विद्यमान रहता है उसी प्रकार चूंकि वह कर्मनिर्जरा केवली के भी होती ही है, अतएव उस निर्जरा का कारणभूत ध्यान उनके भी होना ही चाहिए। तीसरे, एक शब्द के अनेक अर्थ हुआ करते हैं—जैसे 'हरि' शब्द के इन्द्र और बन्दर आदि अनेक अर्थ। तदनुसार 'ध्यान' शब्द की प्रकृतिभूत 'ध्यै' धातु के भी चिन्ता, काययोगनिरोध और योगाभावरूप अनेक अर्थ होते हैं। इनमें से यहां—चतुर्थ शुक्लध्यान में—योगों के अभावरूप अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। चौथा कारण यह है कि जो भी अतीन्द्रिय पदार्थ हैं उनके सद्भाव का परिज्ञान आगम और युक्ति से ही हुआ करता है, तदनुसार चूंकि अयोगकेवली के चौथे शुक्लध्यान का उल्लेख आगम में किया गया है, अतः चित्त के अभाव में भी उनके उस ध्यान को स्वीकार करना चाहिए ॥८५-८६॥

इस प्रकार ध्यातव्य द्वार के समाप्त हो जाने पर अब क्रमप्राप्त ध्याता की प्ररूपणा की जानी चाहिए, पर चूंकि उसकी प्ररूपणा धर्मध्यान के प्रकरण (गा. ६४) में की जा चुकी है, अतएव उसकी पुनः प्ररूपणा न करके अब आगे अनुप्रेक्षा द्वार की प्ररूपणा की जाती है—

जिसका चित्त शुक्लध्यान से सुसंस्कृत हो चुका है वह चारित्र से युक्त ध्याता ध्यान के समाप्त हो जाने पर भी सदा चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है ॥८७॥

वे चार अनुप्रेक्षायें ये हैं—

आसवदारावाए तह संसारासुहाणुभावं च ।
भवसंताणमणन्तं वत्थूणं विपरिणामं च ॥८८॥

आश्रवद्वाराणि मिथ्यात्वादीनि, तदपायान् दुःखलक्षणान्, तथा संसारानुभावं च 'धी संसारो' इत्यादि, भवसन्तानमनन्तं भाविनं नारकाद्यपेक्षया, वस्तूनां विपरिणामं च सचेतनाचेतनानाम् 'सव्वट्ठाणाणि असासयाणि' इत्यादि, एताश्चतस्रोऽप्यपायाशुभानन्त-विपरिणामानुप्रेक्षा आद्यद्वयभेदसङ्गता एव द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥८८॥ उक्तमनुप्रेक्षाद्वारम्, इदानीं लेश्याद्वाराभिधित्सयाऽऽह—

सुक्काए लेसाए दो ततियं परमसुक्कलेस्साए ।
थिरयाजियसेलेसिं लेसाईयं परमसुक्कं ॥८९॥

आस्रवद्वारों से होने वाले अपाय, संसार की अशुभरूपता या दुःखरूपता का प्रभाव, जन्म-मरणरूप भवसन्तान की अनन्तता और चेतन-अचेतन वस्तुओं का विपरिणाम—विरुद्ध परिणाम (नश्वरता); ये वे चार अनुप्रेक्षायें हैं जिनका सदा चिन्तन किया जाता है ॥

विवेचन—ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। ऐसी अवस्था में उस ध्यान के समाप्त हो जाने पर ध्याता क्या करता है, इसे स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया है कि वह ध्यान (शुक्लध्यान) के समाप्त होने पर इन चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है—१ आस्रवद्वारापाय—कर्मागम के द्वार-भूत जो मिथ्यात्व व अविरति आदि हैं उनसे जीवों को नरकादि दुर्गतियों में पड़कर जो दुख भोगने पड़ते हैं उनका चिन्तन इस अनुप्रेक्षा में किया जाता है। २ संसाराशुभानुभाव (या संसारासुखानुभाव)—संसार की अशुभरूपता स्पष्ट है। प्राणी एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करता है, फिर उसको भी छोड़कर अन्य शरीर को ग्रहण करता है, इस प्रकार अन्य अन्य शरीर के ग्रहण करने और छोड़ने का नाम ही संसार है जो नरकादि चतुर्गतिस्वरूप है। यदि परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो उन चारों गतियों में से किसी में भी सुख नहीं है। कारण यह कि अभीष्ट विषयों के प्राप्त होने पर जो सुख का आभास होता है वह सर्वदा रहने वाला नहीं है—विनश्वर है। यद्यपि देवगति में सुख की कल्पना की जाती है, पर वस्तुतः वहां भी सुख नहीं है। वहां पर भी अधिक ऋद्धि के धारक देवों को देखकर मन में ईर्ष्याभाव व संक्लेश होता है। इसके अतिरिक्त वह देव अवस्था भी सदा रहने वाली नहीं है—आयु के समाप्त होने पर उसे भी छोड़ना पड़ता है। उस समय अधिक व्याकुलता होती है। इतना अवश्य है कि जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे देवपर्याय से च्युत होते हुए संक्लेश को प्राप्त नहीं होते। इत्यादि प्रकार से इस दूसरी अनुप्रेक्षा में संसार की अशुभता, असारता या दुःखरूपता का विचार किया जाता है। ३ भवसन्तान की अनन्तता—संसार परिभ्रमण के कारण मिथ्यात्व, राग, द्वेष एवं मोह आदि हैं। उनमें भी मिथ्यात्व प्रमुख है। जब तक इस जीव की दृष्टि मिथ्यात्व से कलुषित रहती है तब तक वह मिथ्यादृष्टि अपरीतसंसारी होता है—उसका संसार अनन्त बना रहता है। इसके विपरीत जिसकी दृष्टि मिथ्यात्वजनित कालुष्य को छोड़कर समीचीनता को प्राप्त कर लेती है उस सम्यग्दृष्टि का संसार परीत हो जाता है—तब वह अनन्तसंसारी न रहकर अधिक से अधिक अर्धपुद्गल प्रमाण संसार वाला हो जाता है। अभव्य का संसार अनन्त ही रहता है। इस प्रकार का चिन्तन अनन्त भवसन्तान नामक इस तीसरी अनुप्रेक्षा में किया जाता है। ४ वस्तुविपरिणाम—संसार में जो भी चेतन-अचेतन वस्तुयें हैं उनमें विविध प्रकार का परिणाम होता रहता है, स्थायी कोई भी वस्तु नहीं है। वस्तु का स्वभाव ऐसा ही है। इत्यादि विचार इस अनुप्रेक्षा में चालू रहता है। ये चारों अनुप्रेक्षायें प्रथम दो शुक्लध्यानों से ही सम्बद्ध हैं, अन्तिम दो शुक्लध्यानों से उनका सम्बन्ध नहीं है; इतना यहां विशेष समझना चाहिए ॥८८॥

अब क्रमप्राप्त लेश्या द्वार का वर्णन किया जाता है—

प्रथम दो शुक्लध्यान शुक्ललेश्या में होते हैं, तीसरा सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति शुक्लध्यान परमशुक्ल-

सामान्येन शुक्लायां लेश्यायां 'द्वे' आद्ये उक्तलक्षणे, 'तृतीयम्' उक्तलक्षणमेव, परमशुक्ललेश्यायाम्, 'स्थिरताजितशैलेशम्' मेरोरपि निष्प्रकम्पतरमित्यर्थः, लेश्यातीतं 'परमशुक्लम्' चतुर्थमिति गाथार्थः ॥८९॥ उक्तं लेश्याद्वारम्, अधुना लिङ्गद्वारं विवरीषुस्तेषां नाम-प्रमाण-स्वरूप-गुणभावनार्थमाह—

अवहाऽसंमोह-विवेग-विउसग्गा तस्स होंति लिंगाइं ।
लिंगिज्जइ जेहिं मुणी सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ॥९०॥

अवधाऽसम्मोह-विवेक-व्युत्सर्गाः 'तस्य' शुक्लध्यानस्य भवन्ति लिङ्गानि, 'लिङ्ग्यते' गम्यते यैर्मुनिः शुक्लध्यानोपगतचित्त इति गाथाक्षरार्थः ॥९०॥ अधुना भावार्थमाह—

चालिज्जइ बीभेइ य धीरो न परीसहोवसग्गेहिं ।
सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु ॥९१॥

चाल्यते ध्यानात् न परीषहोपसर्गैर्बिभेति वा 'धीरः' बुद्धिमान् स्थिरो वा न तेभ्य इत्यवधलिङ्गम्, 'सूक्ष्मेषु' अत्यन्तगहनेषु 'न सम्मुह्यते' न सम्मोहमुपगच्छति, 'भावेषु' पदार्थेषु, न देवमायासु अनेकरूपास्वित्यसम्मोहलिङ्गमिति गाथाक्षरार्थः ॥९१॥

देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे ।
देहोवहिवोसग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥९२॥

देहविविक्तं पश्यत्यात्मानं तथा च सर्वसंयोगानिति विवेकलिङ्गम्, देहोपधिव्युत्सर्गं निःसङ्गः सर्वथा करोति व्युत्सर्गलिङ्गमिति गाथार्थः ॥९२॥ गतं लिङ्गद्वारम्, साम्प्रतं फलद्वारमुच्यते, इह च लाघवार्थं प्रथमोपन्यस्तं धर्मफलमभिधाय शुक्लध्यानफलमाह, धर्मफलानामेव शुद्धतराणामाद्यशुक्लद्वयफलत्वात्, अत आह—

लेश्या में होता है, तथा स्थिरता से शैलेश (मेरु) को जीत लेने वाला—सुमेरु के समान अडिग—चौथा परमशुक्लध्यान लेश्या से अतीत (रहित) है ॥८९॥

अब लिंग द्वार का वर्णन करते हुए उन लिंगों के नाम, प्रमाण, स्वरूप और गुण का विचार किया जाता है—

अवध (अव्यथ ?), असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग ये उक्त शुक्लध्यान के लिंग—परिचायक हेतु हैं। इनके द्वारा जिस मुनि का चित्त उस शुक्लध्यान में संलग्न है उसका बोध होता है ॥९०॥

आगे उक्त चार लिंगों में से प्रथमतः अवध और असम्मोह का स्वरूप कहा जाता है—

वह धीर—विद्वान् या स्थिर—शुक्लध्यानी परीषह और उपसर्गों के द्वारा न तो ध्यान से विचलित होता है और न भयभीत भी होता है, यह उस शुक्लध्यान के परिचायक प्रथम अवध लिंग का स्वरूप है। साथ ही वह सूक्ष्म—अतिशय गहन—पदार्थों के विषय में व अनेक प्रकार की देवनिर्मित माया के विषय में मूढता को प्राप्त नहीं होता, इसे उसका ज्ञापक असम्मोह लिंग जानना चाहिए ॥९१॥

अब आगे की गाथा में विवेक और व्युत्सर्ग इन दो लिंगों का निर्देश किया जाता है—

उक्त ध्याता मुनि आत्मा को शरीर से भिन्न देखता है तथा सब संयोगों को भी देखता है, अर्थात् वह ज्ञान-दर्शन स्वरूप चेतन आत्मा को जड़ शरीर से पृथक् देखता हुआ उस शरीर और उससे सम्बद्ध स्त्री-पुत्रादि व धन गृहादि के साथ उस संयोग सम्बन्ध का अनुभव करता है जो पृथग्भूत दो या अधिक पदार्थों में हुआ करता है। यही उक्त ध्यान का परिचायक विवेक लिंग है। इसके अतिरिक्त वह परिग्रह—ममत्व बुद्धि—से रहित होकर शरीर और अन्य परिग्रह का सर्वथा परित्याग करता है—उनमें से किसी को भी अपना नहीं मानता, यह उक्त शुक्लध्यान का परिचायक व्युत्सर्ग लिंग है ॥९२॥

इस प्रकार लिंग द्वार को समाप्त करके आगे क्रमप्राप्त फलद्वार का निरूपण करते हैं। उसमें लाघव की अपेक्षा करके पूर्वोक्त धर्मध्यान के फल का निर्देश करते हुए उसी को शुक्लध्यान का भी फल कहा जाता है, क्योंकि धर्मध्यान के जो फल हैं वे ही अतिशय विशुद्धि को प्राप्त होते हुए आदि के दो शुक्लध्यानों के फल हैं—

होंति सुहासव-संवर-विणिज्जराऽमरसुहाइं विउलाइं।
झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥९३॥

भवन्ति 'शुभाश्रव-संवर-निर्जराऽमरसुखानि' शुभाश्रवः पुण्याश्रवः, संवरः अशुभकर्मागमनिरोधः, विनिर्जरा कर्मक्षयः, अमरसुखानि देवसुखानि, एतानि च दीर्घस्थिति-विशुद्ध्युपपाताभ्यां 'विपुलानि' विस्तीर्णानि, 'ध्यानवरस्य' ध्यानप्रधानस्य फलानि 'शुभानुबन्धीनि' सुकुलप्रत्यायातिपुनर्बोधिलाभ-भोगप्रव्रज्या-केवल-शैलेश्यपवर्गानुबन्धीनि 'धर्मस्य' ध्यानस्येति गाथार्थः ॥९३॥ उक्तानि धर्मफलानि, अधुना शुक्लमधिकृत्याह—

ते य विसेसेण सुभासवादओऽणुत्तरामरसुहं च।
दोण्हं सुक्काण फलं परिनिव्वाणं परिल्लाणं ॥९४॥

ते च विशेषेण 'शुभाश्रवादयः' अनन्तरोदिताः, अनुत्तरामरसुखं च द्वयोः शुक्लयोः फलमाद्ययोः, 'परिनिर्वाणम्' मोक्षगमनं 'परिल्लाणं' ति चरमयोर्द्वयोरिति गाथार्थः ॥९४॥ अथवा सामान्येनैव संसारप्रतिपक्षभूते एते इति दर्शयति—

आसवदारा संसारहेयवो जं ण धम्म-सुक्केसु।
संसारकारणाइ तओ धुवं धम्म-सुक्काइं ॥९५॥

आश्रवद्वाराणि संसारहेतवो वर्तन्ते, तानि च यस्मान्न शुक्ल-धर्मयोर्भवन्ति संसारकारणानि तस्माद् 'ध्रुवम्' नियमेन धर्म-शुक्ले इति गाथार्थः ॥९५॥ संसारप्रतिपक्षतया च मोक्षहेतुर्ध्यानमित्यावेदयन्नाह—

संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो तवो पहो तासिं।
झाणं च पहाणंगं तवस्स तो मोक्खहेऊयं ॥९६॥

संवर-निर्जरे 'मोक्षस्य पन्थाः' अपवर्गस्य मार्गः, तपः 'पन्थाः' मार्गः, 'तयोः' संवर-निर्जरयोः, ध्यानं च प्रधानाङ्गं तपसः आन्तरकारणत्वात्, ततो मोक्षहेतुस्तद् ध्यानमिति गाथार्थः ॥९६॥ अमुमेवार्थं सुखप्रतिपत्तये दृष्टान्तैः प्रतिपादयन्नाह—

शुभास्रव—पुण्य कर्मों का आगमन, पापास्रव के निरोधस्वरूप संवर, संचित कर्मों की निर्जरा और देवसुख; ये दीर्घ स्थिति, विशुद्धि एवं उपपात से विस्तार को प्राप्त होकर उत्तम कुल एवं बोधि की प्राप्ति आदि रूप शुभ के अनुबन्धी—उसकी परम्परा के जनक—होते हुए उत्तम धर्मध्यान के फल हैं। अभिप्राय यह है कि धर्मध्यान से पुण्य कर्मों का बन्ध, पाप कर्मों का निरोध और पूर्वोपार्जित कर्म की निर्जरा होती है। ये सब उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होने वाले हैं। इसके अतिरिक्त उससे पर भव में देवगति की प्राप्ति होने वाली है, जहां आयु की दीर्घता व सांसारिक सुखोपभोग की बहुलता होती है। अन्त में उक्त धर्मध्यान के प्रभाव से केवलज्ञान को प्राप्त करके शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हुए मुमुक्षु ध्याता को मुक्तिसुख भी प्राप्त होने वाला है ॥९३॥

इस प्रकार धर्मध्यान के फलों का निर्देश करके अब शुक्लध्यान को लक्ष्य करके यह कहा जाता है—

विशेषरूप से धर्मध्यान के फलभूत वे ही शुभास्रव आदि तथा अनुपम देवसुख, यह प्रारम्भ के दो शुक्लध्यानों का भी फल है। अन्तिम दो शुक्लध्यानों का फल मोक्ष की प्राप्ति है ॥९४॥

अथवा सामान्य से ही धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान संसार के विरोधी हैं, इसे आगे दिखलाते हैं—

जो मिथ्यात्वादि आस्रवद्वार संसार के कारण हैं, वे चूंकि धर्म और शुक्ल ध्यानों में सम्भव नहीं हैं, इसीलिए धर्म और शुक्ल ध्यान नियमतः संसार के कारण नहीं हैं, किन्तु मुक्ति के कारण हैं ॥९५॥

आगे यह दिखलाते हैं कि संसार का विरोधी होने से ही वह ध्यान मोक्ष का कारण है—

संवर और निर्जरा ये मोक्ष के मार्ग (उपाय) हैं, उन संवर और निर्जरा का मार्ग तप है, तथा उस तप का प्रधान कारण ध्यान है; इसीलिए वह (ध्यान) परम्परा से मोक्ष का कारण है ॥९६॥

अंबर-लोह-महीणं कमसो जह मल-कलंक-पंकाणं ।
सोज्झावणयण-सोसे साहेंति जलाऽणलाऽइच्चा ।।९७।।
तह सोज्झाइसमत्था जीवंबर-लोह-मेइणिगयाणं ।
झाण-जलाऽणल-सूरा कम्म-मल-कलंक-पंकाणं ।।९८।।

'अम्बर-लोह-महीनाम्' वस्त्र-लोहाऽऽर्द्रक्षितीनाम् 'क्रमशः' क्रमेण यथा मल-कलङ्क-पङ्कानां यथासङ्ख्यं शोध्या-[ध्य-]पनयन-शोषान् यथासङ्ख्यमेव 'साधयन्ति' निर्वर्तयन्ति जलाऽनलाऽऽदित्या इति गाथार्थः ।।९७।। तथा शोध्यादिसमर्था जीवाऽम्बर-लोह-मेदिनीगतानां 'ध्यानमेव जलानल-सूर्याः' कर्मैव मल-कलङ्क-पङ्कास्तेषामिति गाथार्थः ।।९८।। किं च—

तापो सोसो भेओ जोगाणं झाणओ जहा निययं ।
तह ताव-सोस-भेया कम्मस्स वि झाइणो नियमा ।।९९।।

तापः शोषो भेदो योगानां 'ध्यानतः' ध्यानात् यथा 'नियतम्' अवश्यम्, तत्र तापः दुःखम्, तत एव शोषः दौर्बल्यम्, तत एव भेदः विदारणम्, योगानां वागादीनम्, 'तथा' तेनैव प्रकारेण ताप-शोष-भेदाः कर्मणोऽपि भवन्ति, कस्य ? 'ध्यायिनः' न यदृच्छया नियमेनेति गाथार्थः ९९।। किं च—

जह रोगासयसमणं विसोसण-विरेयणोसहविहीहिं ।
तह कम्मामयसमणं झाणाणसण।इजोगेहिं ।।१००।।

यथा 'रोगाशयशमनम्' रोगनिदानचिकित्सा, 'विसोषण-विरेचनौषधविधिभिः' अभोजन-विरेकौ-(चौ-)षधप्रकारैः, तथा 'कर्मामयशमनम्' कर्म-रोगचिकित्सा ध्यानानशनादिभिर्योगैः, आदिशब्दाद् ध्यानवृद्धिकारकशेषतपोभेदग्रहणमिति गाथार्थः ।।१००।। किं च—

जह चिरसंचियमिंधणमनलो पवणसहिओ दुयं दहइ ।
तह कम्मेंधणममियं खणेण झाणाणलो डहइ ।।१०१।।

यथा 'चिरसञ्चितम्' प्रभूतकालसञ्चितम् 'इन्धनम्' काष्ठादि 'अनलः' अग्निः 'पवनसहितः' वायुसमन्वितः 'द्रुतम्' शीघ्रं च 'दहति' भस्मीकरोति, तथा दुःख-तापहेतुत्वात् कर्मैवेन्धनम् कर्मेन्धनम् 'अमितम्' अनेकभवोपात्तमनन्तम्, 'क्षणेन' समयेन ध्यानमनल इव ध्यानानलः असौ 'दहति' भस्मीकरोतीति गाथार्थः ।।१०१।।

इसको आगे अनेक दृष्टान्तों के द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

जिस प्रकार जल वस्त्रगत मैल को धोकर उसे स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से संलग्न कर्मरूप मैल को धोकर उसे शुद्ध कर देने वाला है, जिस प्रकार अग्नि लोहे के कलंक (जंग आदि) को दूर कर देती है उसी प्रकार ध्यान जीव से सम्बद्ध कर्मरूप कलंक को पृथक् कर देने वाला है, तथा जिस प्रकार सूर्य पृथिवी के कीचड़ को सुखा देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से संलग्न कर्मरूप कीचड़ को सुखा देने वाला है ।।९७-९८।। इसके अतिरिक्त—

ध्यान से जिस प्रकार वचनादि योगों का नियम से ताप (दुख), शोषण (दुर्बलता) और भेद (विदारण) होता है उसी प्रकार उस ध्यानसे ध्याता के कर्म का भी नियम से ताप, शोषण और भेद हुआ करता है ।।९९।। और भी—

जिस प्रकार रोग को सुखा देने वाली (लंघन) अथवा रेचक—रोग के कारणभूत मल को बाहिर निकाल देने वाली—औषधियों के प्रयोग से उस रोग को शान्त कर दिया जाता है उसी प्रकार ध्यान और उपवास आदि के विधान से कर्मरूप रोग को शान्त कर दिया जाता है ।।१००।। और भी—

जिस प्रकार वायु से सहित अग्नि दीर्घ काल से संचित ईंधन को शीघ्र जला देती है उसी प्रकार ध्यानरूप अग्नि अपरिमित—अनेक पूर्व भवों में संचित—कर्मरूप ईंधन को क्षण भर में भस्म कर देती है ।।१०१।। अथवा—

जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति ।
झाण-पवणावहूया तह कम्म-घणा विलिज्जंति ॥१०२॥

यथा वा 'घनसङ्घाताः' मेघौघाः क्षणेन 'पवनाहताः' वायुप्रेरिता विलयं विनाशं यान्ति गच्छन्ति, 'ध्यान-पवनावधूताः' ध्यान-वायुविक्षिप्ताः तथा कर्मैव जीवस्वभावावरणाद् घनाः कर्म-घनाः, उक्तं च—स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभ्रवत् ॥१॥ इत्यादि, 'विलीयन्ते' विनाशमुपयान्तीति गाथार्थः ॥१०२॥ किं चेदमन्यत् इहलोकप्रतीतमेव ध्यानफलमिति दर्शयति—

न कसायसमुत्थेहि य बाहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं ।
ईसा-विसाय-सोगाइएहिं झाणोवगयचित्तो ॥१०३॥

'न कषायसमुत्थैश्च' न क्रोधाद्युद्भवैश्च 'बाध्यते' पीड्यते मानसैर्दुःखैः, मानसग्रहणात्ताप इत्याद्यपि यदुक्तं तन्न बाध्यते 'ईर्ष्या-विषाद-शोकादिभिः' तत्र प्रतिपक्षाभ्युदयोपलम्भजनितो मत्सरविशेष ईर्ष्या, विषादः वैक्लव्यम्, शोकः दैन्यम्, आदिशब्दाद् हर्षादिपरिग्रहः, ध्यानोपगतचित्त इति प्रकटार्थमयं गाथार्थः ॥१०३॥

सीयाऽऽयवाइएहि य सारीरेहिं सुबहुप्पगारेहिं ।
झाणसुनिच्चलचित्तो न ब[बा]हिज्जइ निज्जरापेही ॥१०४॥

इह कारणे कार्योपचारात् शीतातपादिभिश्च, आदिशब्दात् क्षुदादिपरिग्रहः, 'शारीरैः सुबहुप्रकारैः' अनेकभेदैः 'ध्यानसुनिश्चलचित्तः' ध्यानभावितमतिर्न बाध्यते, ध्यानसुखादिति गम्यते, अथवा न शक्यते चालयितुं तत एव 'निर्जरापेक्षी' कर्मक्षयापेक्षक इति गाथार्थः ॥१०४॥ उक्तं फलद्वारम्, अधुनोपसंहरन्नाह—

इय सव्वगुणाधाणं दिट्ठादिट्ठसुहसाहणं झाणं ।
सुपसत्थं सद्धेयं नेयं झेयं च निच्चंपि ॥१०५॥

'इय' एवमुक्तेन प्रकारेण 'सर्वगुणाधानम्' अशेषगुणस्थानं दृष्टादृष्टसुखसाधनं ध्यानमुक्तन्यायात् सुष्ठु प्रशस्तं सुप्रशस्तम्, तीर्थकर-गणधरादिभिरासेवितत्वात्, यतश्चैवमतः श्रद्धेयं नान्यथैतदिति भावनया 'ज्ञेयम्' ज्ञातव्यं स्वरूपतः 'ध्येयम्' अनुचिन्तनीयं क्रियया, एवं च सति सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्यासेवितानि भवन्ति, 'नित्यमपि' सर्वकालमपि, आह—एवं तर्हि सर्वक्रियालोपः प्राप्नोति ? न, तदासेवनस्यापि तत्त्वतो ध्यानत्वात्, नास्ति काचिदसौ क्रिया यया साधूनां ध्यानं न भवतीति गाथार्थः ॥१०५॥

॥ समाप्तं ध्यानशतकम् ॥

जिस प्रकार मेघों के समूह वायु से ताडित होकर क्षणभर में विलय को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यानरूप वायु से विघटित होकर कर्मरूपी मेघ भी विलीन हो जाते हैं—क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं ॥१०२॥ और तो क्या, ध्यान का फल इस लोक में भी अनुभव में आता है—

जिसका चित्त ध्यान में संलग्न है वह क्रोधादि कषायों से उत्पन्न होने वाले ईर्ष्या, विषाद और शोक आदि मानसिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता ॥१०३॥

मानसिक दुःखों के समान शारीरिक दुःखों से भी वह बाधा को प्राप्त नहीं होता—

जिसका चित्त ध्यान के द्वारा अतिशय स्थिरता को प्राप्त कर चुका है वह कर्मनिर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ शीत व उष्ण आदि बहुत प्रकार के शारीरिक दुःखों से भी बाधा को प्राप्त नहीं होता—वह उन्हें निराकुलतापूर्वक सहता है ॥१०४॥

इस प्रकार ध्यान के फल को दिखला कर अन्त में उसका उपसंहार करते हुए यह कहा गया है—

इस प्रकार सब गुणों के आधारभूत तथा दृष्ट और अदृष्ट सुख के साधक उस अतिशय प्रशस्त ध्यान का सदा श्रद्धान करना चाहिए, उसे जानना चाहिए और उसका चिन्तन करना चाहिए ॥१०५॥

॥ ध्यानशतक समाप्त हुआ ॥

परिशिष्ट १

वृत्तिकार हरिभद्र सूरि ने गा. ३२ की टीका में 'एतेषां च स्वरूपं प्रत्याख्यानाध्ययने न्यक्षेण वक्ष्यामः' यह संकेत किया है। तदनुसार प्रत्याख्यानाध्ययन में जो सम्यक्त्व के शंकादि अतिचारों से सम्बद्ध सन्दर्भ दिया गया है उसे यहां उद्धृत किया जाता है—

शङ्कनं शङ्का, भगवदर्हत्प्रणीतेषु पदार्थेषु धर्मास्तिकायादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिदौर्बल्यात् सम्यगनवधार्यमाणेषु संशय इत्यर्थः, किमेवं स्यात् नैवमिति। संशयकरणं शङ्का, सा पुनर्द्विभेदा—देशशङ्का सर्वशङ्का च। देशशङ्का देशविषया, यथा किमयमात्माऽसङ्ख्येयप्रदेशात्मकः स्यादथ निष्प्रदेशो निरवयवः स्यादिति। सर्वशङ्का पुनः सकलास्तिकायजात एव किमेवं नैवं स्यादिति। मिथ्यादर्शनं च त्रिविधम्—अभिगृहीताऽनभिगृहीत-संशयभेदात्। तत्र संशयो मिथ्यात्वमेव। यदाह—पयमक्खरं च एक्कं जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं। सेसं रोयंतोवि हु मिच्छद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१॥ तथा—सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः। मिथ्यादृष्टिः सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाज्ञा च ॥१॥ एकस्मिन्नप्यर्थे सन्दिग्धे प्रत्ययोऽर्हति हि नष्टः। मिथ्यात्वदर्शनं तत् स चादिहेतुर्भवगतीनाम् ॥२॥ तस्मात् मुमुक्षुणा व्यपगतशङ्केन सता जिनवचनं सत्यमेव सामान्यतः प्रतिपत्तव्यं, संशयास्पदमपि सत्यं सर्वज्ञाभिहितत्वात्, तदन्यपदार्थवत्, मतिदौर्बल्यादिदोषात्तु कात्स्न्र्येन सकलपदार्थस्वभावावधारणमशक्यं छद्मस्थेन। यदाह—न हि नामानाभोगश्छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति। ज्ञानावरणीयं हि ज्ञानावरणप्रकृति कर्म ॥१॥ इह चोदाहरणम्—जो संकं करेइ सो विणस्सति, जहा सो पेज्जापायओ, पेज्जाए मासा जे परिभज्जमाणा ते छूढा, अंधगारए लेहसालाओ आगया दो पुत्ता पियंति, एगो चिंतेति—एयाओ मच्छियाओ, संकाए तस्स वग्गुलो वाउ जाओ, मओ य। बिइओ चिंतेइ—न मम माया मच्छिया देइ, जीओ। एते दोषाः।

काङ्क्षणं काङ्क्षा—सुगतादिप्रणीतदर्शनेषु ग्राहोऽभिलाष इत्यर्थः, तथा चोक्तम्—कंखा अन्नन्नदंसणग्गाहो। सा पुनर्द्विभेदा—देशकाङ्क्षा सर्वकाङ्क्षा च। देशकाङ्क्षैकदैशविषया, एकमेव सौगतं दर्शनं काङ्क्षति, चित्तजयोऽत्र प्रतिपादितोऽयमेव च प्रधानो मुक्तिहेतुरित्यतो घटमानकमिदं न दूरापेतमिति। सर्वकाङ्क्षा तु सर्वदर्शनान्येव काङ्क्षति, अहिंसादिप्रतिपादनपराणि सर्वाण्येव कपिल-कणभक्षाऽक्षपादादिमतानीह लोकें च नात्यन्तक्लेशप्रतिपादनपराण्यतः शोभनान्येवेति, अथवैहिकामुष्मिकफलानि काङ्क्षति, प्रतिषिद्धा चेयमर्हद्भिरतः प्रतिषिद्धानुष्ठानादेनां कुर्वतः सम्यक्त्वातिचारो भवति, तस्मादैकान्तिकमव्याबाधमपवर्गं विहायान्यत्र काङ्क्षा न कार्येति। एत्थोदाहरणम्—राया कुमारामच्चो य आसेणावहिया अडविं पविट्ठा, छुहापरद्धा वणफलाणि खायंति, पडिनियत्ताण राया चिंतेइ—लड्डुय-पूयलगमादीणि सव्वाणि खामि, आगया दोवि जणा, रण्णा सूयारा भणिया—जं लोए पयरइ तं सव्वं सव्वे रंधेहत्ति, उवट्ठवियं च रन्नो, सो राया पेच्छणयदिट्ठंतं करेइ, कप्पडिया बलिएहिं धाडिज्जइ, एवं मिट्ठस्स अवगासो होहितित्ति कणकुंडगमंडगादीणिवि खइयाणि, तेहिं सूलेण मओ, अमच्चेण वमण-विरेयणाणि कयाणि, सो आभागी भोगाण जाओ, इयरो विणट्ठो।

विचिकित्सा मतिविभ्रमः, युक्त्यागमोपपन्नेऽप्यर्थे फलं प्रति सम्मोहः—किमस्य महतस्तपःक्लेशायासस्य सिकताकणकवलनादेरायत्यां मम फलसम्पद् भविष्यति किं वा नेति, उभयथेह

क्रियाः फलवत्यो निष्फलाश्च दृश्यन्ते कृषीवलानाम् । न चेयं शङ्कातो न भिद्यते इत्याशङ्कनीयम्, शङ्का हि सकलासकलपदार्थभाक्त्वेन द्रव्य-गुणविषया, इयं तु क्रियाविषयैव, तत्त्वतस्तु सर्वं एते प्रायो मिथ्यात्वमोहनीयोदयतो भवन्तो जीवपरिणामविशेषाः सम्यक्त्वातिचारा उच्यन्ते, न सूक्ष्मेक्षिकाऽत्र कार्येति । इयमपि न कार्या, यतः सर्वज्ञोक्तकुशलानुष्ठानाद् भवत्येव फलप्राप्तिरिति । अत्र चौरोदाहरणम्—सावगो नंदीसरवरगमणं दिव्वगंधाणं (तं) देवसंघरिसेण मित्तस्स पुच्छणं विज्जाए दाणं साहूणं मसाणे चउप्पायं सिक्कगं, हेट्ठा इंगाला खायरो य सूलो अट्ठसयं वारा परिजवित्ता पाओ सिक्कगस्स छिज्जइ, एवं बितिओ तइए चउत्थे य छिण्णे आगासेणं वच्चति, तेण विज्जा गहिया, किण्हचउद्दसिरत्तिं साहेइ मसाणे, चोरो य नगरारक्खिएहिं परिब्भममाणो तत्थेव अतियओ, ताहे वेढेउं सुसाणे ठिया पभाए घिप्पिहितित्ति, सो य भमंतो तं विज्जासाहयं पेच्छइ, तेण पुच्छिओ भणति—विज्जं साहेमि । चोरो भणति—केण दिण्णा ? सो भणति—सावगेण, चोरेण भणितम्—इमं दव्वं गिण्हाहि विज्जं देहि, सो सड्ढो वितिगिच्छति—सिज्झेज्जा न वत्ति । तेण दिण्णा, चोरो चिंतेइ—सावगो कीडियाएवि पावं नेच्छइ, सच्चमेयं, सो साहिउमारद्धो, सिद्धा, इयरो सड्ढो गहिओ, तेण आगासगएण लोओ भेसिओ ताहे सो मुक्को, सड्ढावं दोवि जाया । एवं निव्वितिगिच्छेण होयव्वं । अथवा विद्वज्जुगुप्सा—विद्वांसः साधवः विदितसंसारस्वभावाः परित्यक्तसमस्तसङ्गाः, तेषां जुगुप्सा निन्दा, तथाहि—तेऽस्नानात् प्रस्वेदजलक्लिन्नमलत्वात् दुर्गन्धिवपुषो भवन्ति, तान् निन्दति—को दोषः स्यात् यदि प्रासुकेन वारिणाऽङ्गक्षालनं कुर्वीरन् भगवन्तः ? इयमपि न कार्या, देहस्यैव परमार्थतोऽशुचित्वात् । एत्थ उदाहरणम्—एको सड्ढो पच्चंते वसति, तस्स धूयाविवाहे कहवि साहवो आगया, सा पिउणा भणिया—पुत्तिगे ! पडिलाहेहि साहुणो, सा मंडियपसाहिया पडिलाभेति, साहूण जल्लगंधो तीए अग्घाओ, चिंतेइ—अहो अणवज्जो भट्टारगेहिं धम्मो देसिओ, जइ फासुएण ण्हाएज्जा को दोसो होज्जा ? सा तस्स ठाणस्स अणालोइयऽपडिक्कंता कालं किच्चा रायगिहे गणियाए पोट्टे उववन्ना, गब्भगता चेव अरइं जणेति, गब्भपाडणेहि य न पडइ, जाया समाणी उज्झिया, सा गंधेण तं वणं वासेति, सेणिओ य तेण पएसेण निग्गच्छइ सामिणो वंदगो, सो खंधावारो तीए गंधं न सहइ, रण्णा पुच्छियं किमेयंति, कहियं दारियाए गंधो, गंतूण दिट्ठा, भणति—एसेव पढमपुच्छत्ति, गओ सेणिओ, पुव्वुद्दिट्ठवुत्तंते कहिते भणइ राया—कहिं एसा पच्चणुभविस्सइ सुहं दुक्खं वा ? सामी भणइ—एएण कालेण वेदियं, सा तव चेव भज्जा भविस्सति अग्गमहिसी, अट्ठ संवच्छराणि जाव तुज्झं रममाणस्स पुट्ठीए हंसोवल्लीलीं काही, तं जाणिज्जासि, वंदित्ता गओ, सो य अवहरिओ गंधो, कुलपुत्तएण साहरिया, संवड्ढिया जोव्वणत्था जाया, कोमुइवारे अम्मयाए समं आगया, अभओ सेणिओ [य] पच्छण्णा कोमुइवारं पेच्छंति, तीए दारियाए अंगफासेण अज्झोववण्णो णाममुद्दं दसियाए तीए बंधति, अभयस्स कहियं—णामसुद्दा हारिया, मग्गाहि, तेण मणुस्सा दारेहिं ठविया, एक्केक्कं माणुस्सं पलोएउं नीणिज्जइ, सा दारिया दिट्ठा चोरोत्ति गहिया, परिणीया य, अण्णया य बज्झुक्केण रमंति, रायाणिउ तेण पोत्तेण वाहेंति, इयरा पोत्तं देंति, सा विलग्गा, रण्णा सरियं, मुक्का य पव्वइया । एयं विउदुगुंछाफलं ।

परपाषंडानां सर्वज्ञप्रणीतपाषण्डव्यतिरिक्तानां प्रशंसा, प्रशंसनं प्रशंसा स्तुतिरित्यर्थः । परपाषण्डानामोघतस्त्रीणि शतानि त्रिशष्टयधिकानि भवन्ति । यत उक्तम्—असीयसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीति । अण्णाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसं ॥१॥ इयमपि गाथा विनेयजनानुग्रहार्थं ग्रन्थान्तरप्रतिबद्धाऽपि लेशतो व्याख्यायते—'असियसयं किरियाणं' इति अशीत्युत्तरं शतं क्रियावादिनाम्—तत्र न कर्त्तारं विना क्रिया सम्भवति तामात्मसमवा-

यिनीं वदन्ति ये तच्छीलाश्च ते क्रियावादिनः । ते पुनरात्माद्यस्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणाः अनेनोपायेनाशीत्यधिकशतसङ्ख्या विज्ञेयाः—जीवाजीवाश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-पुण्यापुण्य-मोक्षाख्यान् नव पदार्थान् विरचय्य परिपाट्या जीवपदार्थस्याधः स्व-परभेदावुपन्यसनीयौ, तयोरधो नित्यानित्यभेदौ, तयोरप्यधः कालेश्वरात्मनियति-स्वभावभेदाः पञ्च न्यसनीयाः, पुनश्चेत्थं विकल्पाः कर्त्तव्याः—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालत इत्येको विकल्पः, विकल्पार्थश्चायम्—विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालतः कालवादिनः, उक्तेनैवाभिलापेन द्वितीयो विकल्पः ईश्वरवादिनः, तृतीयो विकल्प आत्मवादिनः 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि, नियतिवादिनश्चतुर्थो विकल्पः, पञ्चमविकल्पः स्वभाववादिनः, एवं स्वत इत्यत्यजता लब्धाः पञ्च विकल्पाः, परत इत्यनेनापि पञ्चैव लभ्यन्ते, नित्यत्वापरित्यागेन चैते दश विकल्पाः, एवमनित्यत्वेनापि दशैव, एकत्र विंशतिर्जीवपदार्थेन लब्धाः, अजीवादिष्वप्यष्टस्वेवमेव प्रतिपदं विंशतिर्विकल्पानामतो विंशतिर्नवगुणा शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनामिति । अक्किरियाणं च भवति चुलसीतित्ति—अक्रियावादिनां च भवति चतुरशीतिर्भेदा इति, न हि कस्यचिदवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया समस्ति, तद्भाव एवावस्थितेरभावादित्येवंवादिनोऽक्रियावादिनः, तथा चाहुरेके—क्षणिकाः सर्वसंस्काराः, अस्थितानां कुतः क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते ॥१॥ इत्यादि, एते चात्मादिनास्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन चतुरशीतिर्द्रष्टव्याः—एतेषां हि पुण्यापुण्यवर्जितपदार्थसप्तकन्यासस्तथैव जीवस्याधः स्व-परविकल्पभेदद्वयोपन्यासः, असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यभेदौ न स्तः, कालादीनां तु पञ्चानां षष्ठी यदृच्छा न्यस्यते, पश्चाद्विकल्पभेदाभिलापः—नास्ति जीवः स्वतः कालत इत्येको विकल्पः, एवमीश्वरादिभिरपि यदृच्छावसानैः, सर्वे च षड् विकल्पाः, तथा नास्ति जीवः परतः कालत इति षडेव विकल्पाः, एकत्र द्वादश, एवमजीवादिष्वपि षट्सु प्रतिपदं द्वादश विकल्पाः, एकत्र सप्त द्वादशगुणाश्चतुरशीतिर्विकल्पा नास्तिकानामिति । अण्णाणिय सत्तट्ठित्ति—अज्ञानिकानां सप्तषष्टिर्भेदा इति, तत्र कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तदेषामस्तीति अज्ञानिकाः, नन्वेवं लघुत्वात् प्रक्रमस्य प्राक् बहुव्रीहिणा भवितव्यं ततश्चाज्ञाना इति स्यात्, नैष दोषः ज्ञानान्तरमेवाज्ञानं मिथ्यादर्शनसहचारित्वात्, ततश्च जातिशब्दत्वाद् गौरखरवदरप्यमित्यादिवदज्ञानिकत्वमिति, अथवा अज्ञानेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा अज्ञानिकाः—असञ्चित्य कृतवैफल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणाः अमुनोपायेन सप्तषष्टिर्ज्ञातव्याः—तत्र जीवादिनवपदार्थान् पूर्ववत् व्यवस्थाप्य पर्यन्ते चोत्पत्तिमुपन्यस्याधः सप्त सदादयः उपन्यसनीयाः, सत्त्वमसत्त्वं सदसत्त्वं अवाच्यत्वं सदवाच्यत्वं असदवाच्यत्वं सदसदवाच्यत्वमिति चैकैकस्य जीवादेः सप्त सप्त विकल्पाः, एते नव सप्तकाः त्रिषष्टिः, उत्पत्तेस्तु चत्वार एवाद्या विकल्पाः, तद्यथा—सत्त्वमसत्त्वं सदसत्त्वं अवाच्यत्वं चेति, त्रिषष्टिमध्ये क्षिप्ताः सप्तषष्टिर्भवन्ति, को जानाति जीवः सन्नित्येको विकल्पः, ज्ञातेन वा किम् ? एवमसदादयोऽपि वाच्याः, उत्पत्तिरपि किं सतोऽसतः सदसतोऽवाच्यस्येति को जानातीति ? एतन्न कश्चिदपीत्यभिप्रायः । 'वेणइयाणं च बत्तीसत्ति—वैनयिकानां च द्वात्रिंशद् भेदाः, विनयेन चरन्ति विनयो वा प्रयोजनमेषामिति वैनयिकाः, एते चानवधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन द्वात्रिंशदवगन्तव्याः—सुरनृपति-यति-ज्ञाति-स्थविराधम-मातृ-पितॄणां प्रत्येकं कायेन वचसा मनसा दानेन च देश-कालोपपन्नेन विनयः कार्य इत्येते चत्वारो भेदाः, सुरादिष्वष्टसु स्थानकेषु, एकत्र मिलिता द्वात्रिंशदिति, सर्वसङ्ख्या पुनरेतेषां त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि । न चैतत् स्वमनीषिकाव्याख्यानम्, यस्मादन्यैरप्युक्तम्—आस्तिकमतमात्माद्या नित्यानित्यात्मका नव पदार्थाः । काल-नियति-स्वभावेश्वरात्मकृताः (तकाः) स्व-परसंस्था ॥१॥ काल-यदृच्छा-नियतीश्वर-स्वभावात्म-

नश्चतुरशीतिः । नास्तिकवादिगणमतं न सन्ति भावाः स्वपरसंस्थाः ॥२॥ अज्ञानिकवादिमतं नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान् । भावोत्पत्तिं सदसद्द्वैतावाच्यां च को वेत्ति ? ॥३॥ वैनयिकमतं विनयश्चेतोवाक्कायदानतः कार्यः । सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु सदा ॥४॥ इत्यलं प्रसङ्गेन प्रकृतं प्रस्तुमः , एतेषां प्रशंसा न कार्या—पुण्यभाज एते सुलब्धमेभिर्यद् जन्मेत्यादिलक्षणा, एतेषां मिथ्यादृष्टित्वादिति । अत्र चोदाहरणम्—पाडलिपुत्ते चाणक्को, चंदगुत्तेणं भिक्खुगाणं वित्ती हरिता, ते तस्स धम्मं कहेंति, राया तूसति चाणक्कं पलोएति, ण य पसंसति ण देति, तेण चाणक्कभज्जा ओलग्गिता, ताए सो करणिं गाहितो, ताधे कथितेण भणितं तेण सुभासियंति, रण्णा तं अण्णं च दिण्णं, बिदियदिवसे चाणक्को भणति—कीस दिन्नं ? राया भणइ—तुज्झेहिं पसंसितं, सो भणइ—ण मे पसंसितं, सव्वारंभपवित्ता कहं लोगं पत्तियाविंतित्ति ! पच्छा ठितो, केत्तिता एरिसा तम्हा ण कायव्वा ।

परपाषण्डैः अनन्तरोक्तस्वरूपैः सह संस्तवः परपाषण्डसंस्तवः, इह संवासजनितः परिचयः संवसन-भोजनालापादिलक्षणः परिगृह्यते, न स्तुतिरूपः, तथा च लोके प्रतीत एव संपूर्वः स्तौतिः परिचय इति, 'असंस्तुतेषु प्रसभं कुलेषु···'इत्यादाविति, अयमपि न समाचरणीयः, तथा हि एकत्र संवासे तत्प्रक्रियाश्रयणात् तत्क्रियादर्शनाच्च तस्यासकृदभ्यस्तत्वादवाप्तसहकारिकारणात् मिथ्यात्वोदयतो दृष्टिभेदः सञ्जायते अतोऽतिचारहेतुत्वान्न समाचरणीयोऽयमिति । अत्र चोदाहरणं—सोरट्ठसड्ढगो पुव्वभणितो ।

विशेष—इस सन्दर्भ में जो उदाहरण दिये गये हैं वे आवश्यकचूर्णि (पृ. २७९ आदि), निशीथचूर्णि (१, पृ. १५ आदि—सन्मति ज्ञानपीठ), श्रावकप्रज्ञप्ति टीका (गा. ९१ व ९३) तथा पंचाशकचूर्णि (१, पृ. ४५ आदि) में भी उपलब्ध होते हैं, पर वे सर्वत्र अशुद्धियों से परिपूर्ण हैं ।

□□□

२ गाथानुक्रमणिका

अट्टं रुद्दं धम्मं	५	जह छउमत्थस्स मणो	८४
अणुवकयपराणुग्गह	४९	जह रोगासयसमणं	१००
अण्णाण-मारुएरिय	५७	जह वा घणसंघाया	१०२
अमणुण्णाणं सद्दाइ	६	जह सव्वसरीरगयं	७१
अवहाऽसंमोह-विवेग	९०	जं थिरमज्झवसाणं	२
अवियारमत्थ-वंजण	८०	जं पुण सुणिप्पकंपं	७९
अह खंति-मद्दवऽज्जव	६९	जिणदेसियाइ लक्खण	५२
अंतोमुहुत्तपरओ	४	जिण-साहूगुणकित्तण	६८
अंतोमुहुत्तमेत्तं	३	जो (तो) जत्थ समाहाणं	३७
अंबर-लोह-महीणं	९७	झाइज्जा निरवज्जं	४६
आगमउवएसाऽऽणा	६७	झाणप्पडिवत्तिकमो	४४
आरोढुं मुणि-वणिया	६०	झाणस्स भावणाओ	२८
आलंबणाइ वायण	४२	झाणोवरमेवि मुणी	६५
आसवदारावाए	८८	णाणे णिच्चब्भासो	३१
आसवदारा संसार	९५	तत्तोऽणुप्पेहाओ	२९
इट्ठाणं विसयाईण	८	तत्थ य तिरयण	६१
इय करण-कारणाणुमइ	२३	तत्थ य मइदोब्बलेणं	४७
इय सव्वगुणाधाणं	१०५	तदविरय-देसविरया	१८
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगाइ	७७	तस्सऽक्कंदण-सोयण	१५
उवओगलक्खणमणाइ	५५	तस्स य सकम्मजणियं	५६
उस्सारियेंधणभरो	७३	तस्स य संतरणसहं	५८
एए च्चिय पुव्वाणं	६४	तस्सेव य सेलेसी	८२
एयं चउविहं राग	१०	तह लिव्वकोह-लोहा	२१
एयं चउव्विहं राग	२४	तह तिहुयण-तणुविसयं	७२
एवं चिय वयजोगं	७६	तह विसइंधणहीणो	७४
कालोऽवि सो च्चिय	३८	तह सूल-सीसरोगाइ	७
कावोय-नील काला	१४	तह सोज्झाइसमत्था	९८
कावोय-नील-काला	२५	तापो सोसो भेओ	९९
किं बहुणा सव्वं चिय	६२	तिहुयणविसयं कमसो	७०
कुणओ व पसत्था-	१२	ते य विसेसेण	९४
खिइ-वलय-दीव-सागर	५४	तो जत्थ समाहाणं	३७
चालिज्जइ बीभेइ य	९१	तो देस-काल-चेट्ठा	४१
चित्ताभावेवि सया	८६	तोयमिव नालियाए	७५
जच्चिय देहांवत्था	३९	थिरकयजोगाणं पुण	३६
जह चिरसंचियमिंधण	१०१	देविंद-चक्कवट्टित्तणाइं	९

देहविवित्तं पेच्छइ	९२	वीरं सुक्कज्झाणग्गि-	१
न कसायसमुत्थेहि य	१०३	सत्तवह-वेह-बंधण	१९
नवकम्माणायाणं	३३	सद्दाइविसयगिद्धो	१७
निच्चं चिय जुवइ-पसू	३५	सद्दाइविसयसाहण	२२
निव्वाणगमणकाले	८१	सुविसारसत्थ-वंजण	७८
निंदइ य नियकयाइं	१६	सव्वप्पमायरहिया	६३
पढमं जोगे जोगेसु	८३	सव्वासु वट्टमाणा	४०
पयइ-ठिइ-पएसा	५१	संकाइदोसरहिओ	३२
परवसणं अहिणंदइ	२७	संवरकयनिच्छिद्दं	५९
पंचत्थिकायमइयं	५३	संवर-विणिज्जराओ	९६
पिसुणासब्भासब्भूय	२०	सीयाऽऽयवाइएहि य	१०४
पुव्वकयब्भासो	३०	सुक्कज्झाणसुभाविय	८७
पुव्वप्पओगओ चिय	८५	सुक्काए लेस्साए	८९
मज्झत्थस्स उ मुणिणो	११	सुणिउणमणाइणिहणं	४५
राग-दोस-कसाया	५०	सुविदियजगस्सभावो	३४
रागो दोसो मोहो	१३	हेऊदाहरणासंभवे	४८
लिंगाइ तस्स उस्सण्ण	२६	होंति कमविसुद्धाओ	६६
विसमंमि समारोहइ	४३	होंति सुहासव-संवर	९३

३ टीकागत विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका

शब्द	गाथांक
अज्ञान	५७
अणुव्रत	१८
अधर्मास्तिकाय	५३
अनाकार उपयोग	५५
अनित्यत्वानुप्रेक्षा	२९
अनुकम्पा	३२
अनुत्तर विमान	५४
अनुयोगद्वार	४५
अनेकान्त	४५
अन्तर्मुहूर्त	३
अन्यदृष्टिप्रशंसा	३२
अपध्यान	५९
अप्रतिष्ठान	५४
अप्रमत्तसंयत	१८
अभूतोद्भावनवचन	२०
अर्थान्तराभिधान	२०
अयोगी	८६
अर्हत्	७०
अवधलिंग	९१
अशरणभावना	६५
असम्मोहलिंग	९१
असि	१९
आगमिक श्रुतपाठी	८३
आज्ञा	२८
आयतन	३२
आयु	३३
आवश्यक	४२
आश्रव	५०
आश्रवक्रिया	५०
आस्तिक्य	३२
आहारक शरीर	५५, ७६
इहलोकभय	३४
ईषत्प्राग्भार	५४
उच्छ्वास-निःश्वास	३, ८१
उदाहरण	४८
उपधि	९२
उपयोग	५५
उपलक्षण	१८
उमास्वातिवाचक	१८
उल्मुक	१९
एकत्वभावना	६५
ओघ	२, १०, २४
औदारिक शरीर	५५, ७६
कर्मप्रकृति	५१
कर्मविपाक	५१
कर्वट	३६
कल्पित उदाहरण	४८
कषाय	५१
कायक्रिया	८१
काययोग	७६
काययोगनिग्रह	४४
कायिक ध्यान	३७
कायोत्सर्ग	३९
कारक हेतु	४८
काल	३८
कालसौकरिक	२३
कांक्षा	३२
कुतीर्थिक	२०
कुन्त	१९
कूटप्रयोग	२०
कृतयोग	३६
कृतयोगी	१२
केवल	४५
केवली	४४

क्षपक श्रेणी ८५
क्षयोपशम ३३
क्षेत्रलोक ५३
खेट ३६
गणधर ३५, ३८, ४६, ६३
गम ४६
गीतार्थ १२
गुणश्रेणि ७६
गोत्र ३३
घन ५४
घनवात ५४
घनोदधि ९
चतुर्दशपूर्वी ४५
चतुर्विंशतिदण्डक ४६
चतुर्विंशतिस्तव ५३
चमर ५, १७
चरणधर्म ५, १७, ४२
चरित उदाहरण ४८
चारित्र ६९
चिलातीपुत्र ४५
चैत्यधन २२
जिन १७
जीव ५५
ज्योतिष्क विमान ५४
ज्ञान ७६
ज्ञानावरणीय ५१, ५५
तनुवात ५४
तप १०
तिर्यग्गति ५, १३
तीर्थंकर १७, ३५, ३८, ६३
दण्डायत ३९
दर्शन ७
दर्शनदीपक गुण ३२
दावानल ५०
द्यूतकार ३५
द्रव्यनिक्षेप ५३
द्रव्यार्थादेश ४५
द्रव्यास्तिक नय ६२, ७७
द्वादशानुप्रेक्षा ६५
द्वादशांगी ४५
द्वीप ३८
द्वेष ६, ४९
धर्मध्यान ५, १२, २७, २९
धर्म्यध्यान ११, १२, २९
नगर ३६
नमस्कारनिर्युक्ति ७६
नय ४५, ६२
नरक ५, २१
नामकर्म ३३
नामनिक्षेप ५३
निकाचित ५१
निर्ग्रन्थ ६४
निर्जरा ४२
निर्वेद ३२
नैगम ४५
परममुनि ११
परलोक ५०
परसमय ३२
परीषह ९१
पर्याप्त ७६
पर्यायलोक ५३
पंचास्तिकाय ५३
पाताल ५६
पाषण्डप्रशंसा ३२
पाषण्डसंस्तव ३२
पुद्गल ५३
पुनरुक्त दोष ५३
पुरुषवेद ३३
पूर्ववित् ७७
प्रत्याख्यानाध्ययन ३२
प्रत्युपेक्षण ४२
प्रभावना ३२
प्रमाद ५१, ६३
प्रवचन १७
प्रशम ३२, ५०
प्राण ३
बलदेव ९
बाह्य करण २६
भरत ९
भवनवासी ५४

आवमन	८६
भिन्नमुहूर्त	३, ४
भूत	३७
भूतनिह्नववचन	२०
भूतोपघात वचन	२०
मतिज्ञान	४५
मत्वर्थ	५६
मनःपर्याय	४०
मनोयोग	३, ७६
मरुदेवी	६४, ७७
मिथ्यात्व	५०
मिथ्यादर्शन	५१
मिथ्यादृष्टि	१८
मुखवस्त्रिका	४२
मुहूर्त	३, ३८
मृषानुबन्धी	१८
मृषावाद	२६
मेरु	७६
मोक्ष	९, १२
मोह	४९
योग	३, ३६
योगी	१, ८६
रति	३३
रत्ना पृथिवी	५४
राग	८, ४९
लब्धि	४५
लव	३
लान्तव	४५
लोक	५३
वणिक्	२०
वाग्योग	३, ७६
वाग्योगनिग्रह	४४
वाचकमुख्य	५
वाचना	२८
वाचिक ध्यान	३७
वाणिज्य	१६
विचार	७८
विचिकित्सा	३२
वितर्क	८०
विपाक	१९
विवेकलिंग	९२
विषयसंरक्षणानुबन्धी	१९(उ.)
वीरासन	३९
वेदनीय	७६
वैमानिक	४५
व्यञ्जकहेतु	४८
व्यवहारनय	२०
व्युत्सर्गलिंग	९२
शक्ति	१९
शिल्पकला	१६
शैलेश्य	४४
श्रावक	१८, २२, २३
श्रुतज्ञान	३१, ४५
श्रुतज्ञानी	४५
श्रुतधर्म	५, ४२
श्वापद	५६
षड्जीवनिकाय	४६
सन्निवेश	३६
समय	३
समुद्घात	७६
सम्यक्त्व	३२, ३३
सम्यग्दृष्टि	१८, २३, ३१, ४५
सर्वज्ञ	४८
सर्वसंयत	२३
सर्वार्थविमान	४५
संवेग	३२
संसार	५७
संहनन	३६, ६४
साकारोपयुक्त	७६
सात	३३
सामाचारी	४२
सिद्धिगति	५
सिंहमारक	२७
सीमन्तक	५४
सूत्र	३१
स्तुतिकार	४५
स्तेयानुबन्धी	१८
स्तोक	३
स्वसमय	३२
हास्य	३३
हिंसानुबन्धी	१८, २६
हेतु	४८
ह्रस्वाक्षर	७६

४ मूल ग्रन्थगत विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका

शब्द	संस्कृत रूप	अर्थ	गाथांक
अक्कंदण	आक्रन्दन	महान शब्द के द्वारा चिल्लाना	१५
अजोगी	अयोगिन्	शैलेशी केवली	८२
अज्जव	आर्जव	मायापूर्ण व्यवहार का त्याग	६६
अज्झवसाण	अध्यवसान	मन, एकाग्रता का आलम्बन	२
अट्टज्झाण	आर्तध्यान	संक्लेश रूप परिणाम	५
अणज्ज	अनार्य	हेय धर्म प्रवर्तक	२१
अणिच्चाइभावणा	अनित्यादिभावना	अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन	६५
अणुचिंता	अनुचिन्ता	विस्मरण न होने देने के लिए मन से ही सूत्र का अनुस्मरण	४२
अणुत्तरामर	अनुत्तरामर	अनुत्तर विमानवासी देव	६४
अणुपेहा	अनुप्रेक्षा	स्मृतिरूप ध्यान से भ्रष्ट हुए जीव की चित्तवृत्ति	२, २६
अणुभाव	अनुभाव	कर्मविपाक	५१
अत्थ	अर्थ	द्रव्य-पर्याय	७६
अमण	अमन	अन्तःकरण से रहित केवली	७०
अमणुण्ण	अमनोज्ञ	मन के प्रतिकूल, अनिष्ट	३
अवह	अवध	परीषह व उपसर्ग के द्वारा ध्यान से विचलित या भयभीत न होना	६०, ६१
अवाय	अपाय	अपाय, दुख	८८
अविचार	अविचार	अर्थ, व्यंजन और योग के संक्रमण से रहित	८०
अविरय	अविरत	व्रत रहित मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि	१८, २३
असब्भवयण	असभ्य वचन	असभ्य वचन, अपशब्द	२०
असब्भूय वयण	असद्भूत वचन	तीन प्रकार का असत्य वचन	२०
असम्मोह	असम्मोह	सूक्ष्म पदार्थों व देवमाया के विषय में मूढता का अभाव	६०, ६१
अंकण	अंकन	कुत्ता व शृगाल आदि के पांवों से चिह्नित करना	१६
अंतोमुहुत्त	अन्तर्मुहूर्त	भिन्नमुहूर्त काल	३, ४
आगम	आगम	सूत्र	६७
आणा	आज्ञा	सूत्र का अर्थ	६७
आमरणदोस	आमरण दोष	स्व अथवा अन्य के महती आपत्ति को प्राप्त होने पर भी कालसौकरिक के समान मरण पर्यन्त पश्चाताप न करना	२६
आयरिय	आचार्य	सूत्रार्थ के ज्ञान के लिए मुमुक्षु जन जिसकी सेवा किया करते हैं	४७

आलंबण	आलम्बन	धर्मध्यान पर आरूढ होने के लिए जिसका सहारा लिया जाता है	१२, ४२, ६९
आसव	आस्रव	कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व आदि	५०
आसवदारावाय	आस्रवद्वारापाय	मिथ्यात्व आदि से उत्पन्न होने वाला दुःख	८८
ईसा	ईर्ष्या	प्रतिपक्षी के अभ्युदय को देखकर मन में उत्पन्न होनेवाले मात्सर्यभावरूप ईर्ष्या	१०
उदाहरण	उदाहरण	दृष्टान्त	४८
उप्पाय	उत्पाद	उत्पाद, उत्पत्ति	५२, ७७, ७९
उवएस	उपदेश	सूत्र के अनुसार कथन करना	६७
उवओग	उपयोग	साकार (ज्ञान) व निराकार(दर्शन)	५५
उवसग्ग	उपसर्ग	उपसर्ग, देव-मनुष्यादि कृत उपद्रव	९१
उवसंतमोह	उपशान्तमोह	उपशामक निर्ग्रन्थ	६३
उस्सण्णदोस	उत्सन्न दोष	हिंसानुबन्धी आदि किसी एक रौद्रध्यान में निरन्तर प्रवृत्त रहना	२६
एगत्तवितक्कमवियार	एकत्ववितर्क अविचार	जिस ध्यान में भेद से रहित व्यंजन, अर्थ व योग के संक्रमण रहित वितर्क (श्रुत) होता है	८०
कम्म	कर्म	ज्ञानावरणादिरूप परिणत पुद्गल	१
कम्मविवाग	कर्मविपाक	कर्मोदय	५१
कलुस	कलुष	आत्मा को कलुषित करने वाली कषाय	२०
कायकिरिय	कायक्रिया	उच्छ्वास-निःश्वासरूप काय की क्रिया	८१
कायजोग	कायवोग	औदारिकादि शरीर से युक्त जीव के वीर्य की परिणतिविशेष	३, ७६
काल	काल	कलासमूह अथवा चन्द्र-सूर्य आदि की गमन-क्रिया से उपलक्षित दिन आदि	३८
काला लेस्सा	कृष्णलेश्या	कृष्णलेश्या	१४, २५
कावोयलेस्सा	कापोत लेश्या	कापोत लेश्या	१४, २५
कित्तण	कीर्तन	सामान्य से निर्देश करना	६८
केवली	केवलिन्	केवलज्ञान से संयुक्त	४४, ७६
खंति	क्षान्ति	क्षान्ति—क्रोध का परित्याग	६९
खिइ	क्षिति	घर्मा आदि आठ पृथिवियां	५४
खीणमोह	क्षीणमोह	क्षपक निर्ग्रन्थ	६३
गम	गम	चतुर्विंशतिदण्डक आदि	४६
चक्कवट्टी	चक्रवर्तिन्	चक्र के धारक भरतादि सम्राट्	९
चारित्त	चारित्र	चारित्र, अशुभ क्रिया का परित्याग, अनिन्द्य आचरण	३३, ५८
चारित्तभावणा	चारित्रभावना	समस्त सावद्य योग की निवृत्तिरूप क्रिया का अभ्यास	३३
चित्त	चित्त	भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता रूप तीन प्रकार का अनवस्थित अध्यवसान	२, ३, ७९
चिंता	चिन्ता	भावना और अनुप्रेक्षा से रहित मन की प्रवृत्ति	२, ४

छउमत्थ	छद्मस्थ	ज्ञानादि गुणों के आवारक घातिकर्मरूप छद्म में स्थित (अल्पज्ञ)	३, ७०, ८४
जिण	जिन	तीर्थंकर केवली—राग, द्वेष एवं मोह के विजेता	३,१७,४६,६८,७०
जिणमय	जिनमत	प्रवचन, तीर्थङ्करदर्शन	१७, ६६
जिणवरणमाण	जिनानाम् आज्ञा	जिनाज्ञा, जिनवाणी	४६
जोईसर	ये गेश्वर, योगीश्वर, योगिस्मर्य	योगों से प्रधान, योगियों से अथवा योगियों के ईश्वर, योगियों के द्वारा ध्यातव्य	१
जोग	योग	औदारिक आदि शरीरों के संयोग से उत्पन्न होने वाले आत्मपरिणाम का विशेष व्यापार	३, ७८, ८०
जोगणिरोह	योगनिरोध	मन, वचन व काय योगों का विनाश	३
जोगी	योगिन्	धर्म या शुक्ल ध्यानरूप योग से सहित	१, ७५
झाइयव्व	ध्यातव्य	ध्यान के योग्य आज्ञा आदि	२८
झाण	ध्यान	स्थिर अध्यवसान, अन्तर्मुहूर्त काल तक एक वस्तुमें चित्त का अवस्थान अथवा योगनिरोध	२, ३
झाणज्झयण	ध्यानाध्ययन	ध्यानप्रतिपादक अध्ययन, प्रकृत ग्रन्थ का नाम	१
झाणप्पडिवत्तिकम	ध्यानप्रतिक्रम	मनयोगादिके निग्रहरूप ध्यानप्रतिपत्ति की परिपाटी	४४
झाणसंताण	ध्यानसन्तान	ध्यान का प्रवाह	४
झायार	ध्यातृ (ध्यातारः)	प्रमादादि रहित ध्याता	२८
ठिइ	स्थिति	ज्ञानावरणादिरूप कर्मप्रकृतियों के जघन्यादिरूप में अवस्थित रहने का काल, धर्मास्तिकायादि का द्रव्यरूप में अवस्थान	५१, ५२
णाण	ज्ञान	वस्तु का मतिज्ञानादिरूप बोध	३१, ५८
णाणावरण	ज्ञानावरण	ज्ञान का आच्छादक कर्मविशेष	४७
णाणाविहदोस	नानाविध दोष	चमड़ी के छिलने व नेत्रों के निकालने आदि रूप अनेक हिंसादि के उपायों में निरन्तर प्रवृत्त रहना	२६
णिज्जरा	निर्जरा	कर्म का क्षय	६३
तणुकायकिरिय	तनुकायक्रिय	उच्छ्वास-निःश्वासादिरूप सूक्ष्म कायक्रिया से युक्त	८१
तव	तपस्	अनशन आदि रूप तप	१२, ५६
ताडण	ताडन	छाती व शिर का कूटना एवं बालों का नोंचना आदि	१५
तिरयण	त्रिरत्न	ज्ञान, दर्शन व चारित्ररूप तीन रत्न	६१
तिरियगइ	तिर्यग्गति	तिर्यंचगति	१०
थेज्ज	स्थैर्य	जिनशासन में स्थिरता	३२
दहण	दहन	अग्नि आदि से जलाना	१६
दंसणसुद्धी	दर्शनशुद्धि	शंकादि दोषों के परिहारपूर्वक प्रशमादि गुणों से युक्तता	३२

दान	दान	भोजन आदि का प्रदान करना	६८
दीव	द्वीप	जम्बूद्वीप आदि	५४
देविंद	देवेन्द्र	देवों का प्रभु	९
देसविरय	देशविरत	एक-दो आदि अणुव्रतों के धारक श्रावक	१८
देसासंजय	देशासंयत	देशतः संयम से रहित	२३
देहोवहिवोसग्ग	देहोपधिव्युत्सर्ग	देह व उपाधि का त्याग	९२
दोस	द्वेष	प्रीति का अभाव	६, ४९
धम्म	धर्म, धर्म्य	धर्म—दुर्गति में पड़ते हुए जीव का उद्धारक, धर्म्य—श्रुत और चारित्ररूप धर्म से अनुगत ध्यान विशेष	५, १७
धम्मज्झाणी	धर्मध्यानिन्	धर्मध्यान का ध्याता	६८
नय	नय	नैगम-संग्रहादि के भेद से नय अनेक प्रकार का है	४६, ६२
नरय	नरक	सीमन्तक आदि नारकबिल	५४
नियाण	निदान	इस तप या त्याग के आश्रय से मैं देवेन्द्र या चक्रवर्ती हो जाऊं, इस प्रकार की प्रार्थना	९
निव्वाण	निर्वाण	निर्वाण, मोक्ष	५, ६०, ८१
नीललेस्सा	नीललेश्या	लेश्याविशेष	१४, २५
पएस	प्रदेश	जीवप्रदेशों के साथ कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध	५१
पज्जव	पर्याय	उत्पादादिरूप पर्याय	५२
पणिहाण	प्रणिधान	प्राणिहिंसादि को न करते हुए भी उसके प्रति दृढ़ अध्यवसाय	१९, २०
पमाण	प्रमाण	समस्त वस्तु का ग्राहक ज्ञान	४६
पमाय	प्रमाद	मद्यादि प्रमाद	१७, ६३
पम्हलेस्सा	पद्मलेश्या	पीत लेश्या से विशुद्ध एक लेश्या	६६
पयइ	प्रकृति	ज्ञानावरणादिरूप आठ कर्मप्रकृतियां	५१
परमसुक्क	परमशुक्ल	शैलेशीगत केवली का उत्कृष्ट शुक्लध्यान	८२, ८९
परमसुक्कलेस्सा	परमशुक्ललेश्या	सयोग केवली की अतिशय विशुद्ध लेश्या	८९
परमाणु	परमाणु	जिसका विभाग न हो सके ऐसा पुद्गलविशेष	७२
परिदेवन	परिदेवन	बार-बार संक्लेशयुक्त भाषण	१५
परियट्टणा	परावर्तन	पूर्वपठित सूत्र आदि का विस्मरण न होने देने तथा निर्जरा के निमित्त जो अभ्यास किया जाता है	४२
परीसह	परीषह	क्षुधा-तृषा आदि की वेदना	९१
पसम	प्रश्रम, प्रशम	स्वमत और परमत के तत्त्वविषयक अभ्यास से उत्पन्न होने वाला प्रकृष्ट श्रम (प्रश्रम) अथवा कषायों की शान्ति-रूप प्रशम	३२
पसंसणा	प्रशंसना, प्रशंसा	भक्तिपूर्वक स्तुति	६८
पंचत्थिकाय	पंचास्तिकाय	प्रदेशसमूह वाले धर्मास्तिकायादि पांच द्रव्य	५३

पायाल	पाताल	अगाध जल से परिपूर्ण लवणादि समुद्रगत पाताल (गर्तविशेष)	५६
पिसुणवयण	पिशुनवचन	अनिष्टसूचक वचन	२०
पीयलेस्सा	पीतलेश्या	पद्मलेश्या से कुछ कम विशुद्ध एक लेश्या	६६
पुच्छण	प्रच्छना, प्रश्न	सूत्र आदि में शंका के उत्पन्न होने पर उसे दूर करने के लिये गुरु से पूछना	४२
पुव्वगयसुय	पूर्वगत श्रुत	उत्पादपूर्वादिरूप पूर्वगत श्रुत	७७, ८०
पुव्वधर	पूर्वधर	उपयोग सहित चौदह पूर्वों के ज्ञाता	६४
पुहुत्तवितक्क-सवियार	पृथक्त्ववितर्कसविचार	भेद अथवा विस्तार के साथ श्रुत से युक्त एक शुक्लध्यान	७८
बहुलदोस	बहुलदोष	हिंसानुबन्धी आदि सभी रौद्रध्यानों में निरन्तर प्रवृत्त रहना	२६
बंधण	बन्धन	रस्सी या सांकल आदि से बांधना	१९
बाहिरकरण	बाह्यकरण	वचन व काय	२६
भव	भव	जहां प्राणी कर्म के वशीभूत होते हैं, जन्म-मरणरूप संसार	५
भवकाल	भवकाल	मोक्षगमन के समीपवर्ती शैलेशी अवस्था के अन्तर्गत अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल	४४
भवण	भवन	भवनवासी देवों के भवन	५४
भवसंताण-अणंत	भवसन्तान अनन्त	शुक्लध्यान में चिन्तनीय एक अनुप्रेक्षा	८८
भंग	भंग	क्रमभेद व स्थानभेद से उत्पन्न होने वाले भेद, द्रव्य की एक विनाशरूप अवस्था	४६, ५२, ७७, ७९
भावणा	भावना	ज्ञान-दर्शनादि रूप चार भावनायें	२८
भावणा	भावना	ध्यानाभ्यास की क्रिया	२, ३०
भूयघायवयण	भूतघात वचन	छेदन-भेदनादिरूप प्राणिघात सूचक वचन	३०
मज्झत्थ	मध्यस्थ	राग-द्वेष के बीच में स्थित (उदासीन)	३१
मणोजोग	मनोयोग	औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के व्यापार से आने वाली मनोवर्गणा के आश्रय से होने वाला जीव का व्यापार	७१
मणोजोगणिग्गह	मनोयोगनिग्रह	मनोयोग का विनाश	४४
मणोधारण	मनोधारण	अशुभ व्यापार से रहित मन का अवस्थान	३१
मद्दव	मार्दव	मानकषाय के परित्यागरूप धर्मविशेष	६१
मंत	मन्त्र	विशिष्ट वर्णों की आनुपूर्वीरूप मंत्रवाक्य	७१
माणसदुक्ख	मानसिक दुःख	मानसिक संक्लेश	१०३
मायावी	मायाविन्	माया से युक्त	३०
मारण	मारण	तलवार आदि के द्वारा प्राणों का वियोग करना	१९
मुणि	मुनि	लोक की त्रैकालिक अवस्थाओं को जाननेवाला साधु	१६, ६१
मुत्ति	मुक्ति	मुक्ति, कर्म का क्षय	६९
मोक्खपह	मोक्षपथ	मोक्षमार्ग (संवर व निर्जरा)	६६
मोह	मोह	अज्ञान	४९

राग	राग	विषयासक्ति	८, ४६
रुद्द	रौद्र	हिंसादिविषयक अतिशय क्रूरतायुक्त रौद्रध्यान	५, २४
रोगासयसमण	रोगाशयशमन	रोग की निदानपूर्वक चिकित्सा	१००
लेश्या	लेश्या	स्फटिक मणि के समान कृष्णादि द्रव्य की समीपता से होने वाला आत्मपरिणाम	१४,२५,६६,८६
लोग	लोक	पाच अस्तिकायरूप लोक	५३
वणिय	वणिक्	आय-व्यय का ध्यान रखने वाला वणिक्, व्यापारी	६०
वत्थु	वस्तु	जिसमें गुण-पर्याय बसते हैं—रहते हैं	३
	वस्तुसंक्रम	वस्तुपरिवर्तन, अर्थसंक्रान्ति	४
वत्थू विपरिणाम	वस्तूनां विपरिणाम	चेतन-अचेतन वस्तुओं का विरुद्ध परिणमन, उनकी नश्वरता	८८
वयजोग	वाग्योग	औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के व्यापार से आने वाली वचनवर्गणा के आश्रयसे होनेवाला जीवका व्यापार	७६
वलय	वलय	घर्मा आदि सात पृथिवियों का परिक्षेपण करने वाला वायुमण्डल	५४
वह	वध	ताडन	१६
वंजण	व्यञ्जन	शब्द	७८, ८०
वायण	वाचना	वाचना—निर्जरा के निमित्त शिष्य के लिए सूत्रार्थ का प्रदान करना	४२
विउस्सग्ग	व्युत्सर्ग	देह व उपधि का परित्याग	९०, ९२
विणय	विनय	अभ्युत्थानादि	६८
विमाण	विमान	ज्योतिषी आदि देवों के निवासस्थान	५४
विरेयणोसह	विरेचनौषध	विरेचक (दस्तावर) औषधि	१००
विवेग	विवेक	देह से आत्मा को पृथक् समझना	९०
विसय	विषय	जिनमें आसक्त होकर प्राणी दुख को प्राप्त होते हैं	६
विसाय	विषाद	विषाद, विकलता	१०३
विसोसण	विशोषण	अनशनादि के द्वारा होने वाला कर्म का शोषण (विनाश)	१००
वीर	वीर	विशेषरूप से कर्म को नष्ट करने वाला या कल्याण को प्राप्त होने वाला	१
वेज्ज	वैद्य	वैद्य	७२
वेयणा	वेदना	वेदना, पीड़ा का अनुभव	७
वेह	वेध	कील आदि से नाक आदि का छेदना	१६
वोच्छिन्नकिरिय-अप्पडिवाइ	व्युच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाति	क्रिया से रहित होकर स्थिरस्वभाव वाला शुक्लध्यान	८२
सद्दादिविसय	शब्दादि विषय	शब्द आदि इन्द्रियविषय	६
सद्धम्मावस्सय	सद्धर्मावश्यक	समीचीन चारित्र से अनुगत सामायिकादि	४२

समाहि	समाधि	समाधि (स्वस्थता)	४४
सम्मद्दंसण	सम्यग्दर्शन	तत्त्वार्थश्रद्धान	५८
सवियार	सविचार	अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्तिरूप विचार से सहित	७८
सव्वण्णु	सर्वज्ञ	तीर्थङ्कर, अरहन्त	४८
संकाइदोस	शंकादिदोष	सम्यग्दर्शन के अतिचारभूत शंका-कांक्षा आदि	३२
संघयण	संहनन	संहनन—हड्डियों का बन्धनविशेष	६४
संजम	संयम	प्राणातिपातादि पापों से निवृत्ति	१२, ६८
संठाण	संस्थान	जीवों आदि के शरीर की आकृति	५२
संवर	संवर	मिथ्यात्वादि आस्रवों का निरोध, अशुभ कर्मों के आने का निरोध	५९, ९३
संसार	संसार	जन्म-मरण आदि की परम्परा	५७
संसारहेउ	संसारहेतु	संसार के कारण—राग-द्वेषादि	१३
संसारासुहाणुभाव	संसाराशुभानुभाव	शुक्लध्यान में चिन्तनीय अनुप्रेक्षा विशेष	८८
सागर	सागर	लवणसमुद्रादि	५४
सारीर दुक्ख	शारीरिक दुःख	शीत-आतप आदि शारीरिक दुःख	१०४
सावय	श्वापद	जलजन्तुविशेष	५६
साहू	साधु	मुनि	६८
सिरोरोग	शिरोरोग	शिर का रोग	७
सील	शील	व्रत आदि का समाधान	६८
सीलंग	शीलांग	पृथिवीकायविषयक संरम्भका परित्याग आदि	६०
सुअ	श्रुत	सामायिक आदि बिन्दुसार पर्यन्त श्रुत	६८
सुक्कझाण	शुक्लध्यान	शोक को नष्ट करने वाला अथवा आठ प्रकार के कर्मरूप मल को शुद्ध करने वाला शुक्लध्यान	१, ५
सुक्कलेस्सा	शुक्ललेश्या	पद्मलेश्या से बिशुद्ध लेश्याविशेष	६६
सुहासव	शुभास्रव	पुण्यास्रव	९३
सुहुमकिरियाऽनियट्टि	सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति	जो शुक्लध्यान सूक्ष्म क्रिया से युक्त होकर निवृत्त होने वाला नहीं होता	८१
सूलरोग	शूलरोग	रोगविशेष	७
सेलेस	शैलेश	शैलेश—पर्वतों का राजा मेरु	७६
सेलेसी	शैलेशी, शैलर्षि, शीलेश	सुमेरु के समान स्थिरता (शैलेशी), अथवा सुमेरु के समान स्थिरता को प्राप्त ऋषि (शैलर्षि), अथवा सर्वसंवरस्वरूप शीलों की प्रभुता	७६
सेलेसीगय	शैलेशीगत	शैलेशी अवस्था को प्राप्त अयोगकेवली	८२
सोग	शोक	शोक, दीनता	१०३
सोयण	शोचन	आंसुओं से परिपूर्ण नेत्रों की दीनता	१५
हेउ	हेतु	जिज्ञासित धर्म से युक्त पदार्थों का गमक हेतु	४८

———

५ टीकागत निरुक्त शब्द

शब्द	निरुक्ति	
अनुप्रेक्षा	अनु पश्चाद्भावे प्रेक्षणं प्रेक्षा, सा च स्मृतिध्यानाद् भ्रष्टस्य चित्तचेष्टेत्यर्थः	२
असद्भूत	न सदभूतमसद्भूतम्, अनृतमित्यर्थः	२०
असभ्य	सभायां साधु सभ्यम्, न सभ्यमसभ्यं जकार-मकारादि	२०
अस्तिकाय	अस्तयः प्रदेशाः, तेषां कायाः अस्तिकायाः	५३
आचार्य	आचर्यतेऽसावाचार्यः, सूत्रार्थावगमार्थं मुमुक्षुभिरासेव्यत इत्यर्थः	४७
आज्ञा	कुशलकर्मण्याज्ञाप्यन्ते प्राणिन इत्याज्ञा	४६
आर्त	ऋते भवमार्तम्, क्लिष्टमित्यर्थः	५
आर्य	आरात् यातं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यम्	२१
आलम्बन	इह धर्मध्यानारोहणार्थमालम्ब्यन्त इत्यालम्बनानि	४२
उपयोग	उपयुज्यतेऽनेनेत्युपयोगः साकारानाकारादिः	५५
कर्म	मिथ्यादर्शनाऽविरति - प्रमादकषाय-योगैः क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणीयादि	१,३३
कुशील	कुत्सितं निन्दितं शीलं वृत्तं येषां ते कुशीलाः, ते च तथाविधा द्यूतकारादयः	३५
ग्राम	ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान्, गम्यो वा करादिनामिति ग्रामः, सन्निवेशविशेषः	३६
चक्रवर्ती	चक्रं प्रहरणम्, तेन विजयाधिपत्ये वर्तितुं शीलं येषां ते चक्रवर्तिनः भरतादयः	९
चारित्र	'चर गति-भक्षणयोः' इत्यस्य 'अति - लू-धू-सू-खनि-सहि चर इत्रन्, इतीत्रन्प्रत्यान्तस्य चरित्रमिति भवति, चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रं क्षयोपशमरूपम्, तस्य भाववश्चारित्रम्, एतदुक्तं भवति इहान्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसञ्चयापचयाय चरणभावश्चारित्रमिति, सर्वसावद्ययोगविनिवृत्तिरूपा क्रिया इत्यर्थः।	३३
छद्मस्थ	छादयतीति छद्म पिधानम्, तच्च ज्ञानादिगुणानामावारकत्वाज्ज्ञानावरणादिलक्षणं घातिकर्म, छद्मनि स्थिताश्छद्मस्थाः, अकेवलिन इत्यर्थः	५
जगत्	जगन्ति जङ्गमान्याहुर्जगद् ज्ञेयं चराचरम्।	३४
जीव	जीवति जीविष्यति जीवितवान् वा जीव इति	५५
देव	दीव्यन्तीति देवाः भवनपत्यादयः	९
धर्म	दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः	१७
धर्म्यध्यान	श्रुत-चरणधर्मानुगतं धर्म्यम्	५
ध्यान	ध्यायते चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति ध्यानम्, एकाग्रचित्तनिरोध इत्यर्थः	१
पाप	पातयति नरकादिष्विति पापम्	४०
प्रमाण	प्रमीयते ज्ञेयमेभिरिति प्रमाणानि द्रव्यादीनि	४९
प्रश्रम	प्रकर्षेण श्रमः प्रश्रमः खेदः, स	

	च स्व-परसमयतत्त्वाधि-गमरूपः	३२
भव	भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिन इति भवः संसार एव	५
भावना	भाव्यत इति भावना, ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थः	२
मध्यस्थ	मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, राग-द्वेषयोरिति गम्यते	११
मनोज्ञ	मनसोऽनुकूलानि मनोज्ञानि	६
मुनि	मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः	११,६०
मुनि	मन्यन्ते जीवादीन् पदार्थानिति मुनयो विपश्चित्साधवः	३६
योग	युज्यन्ते इति योगाः मनोवाक्कायव्यापारलक्षणाः × × युज्यते वानेन केवलज्ञानादिना आत्मेति योगः धर्मशुक्लध्यानलक्षणः	१
योगीश्वर	सः (योगः) येषां विद्यत इति योगिनः साधवः	१
लोक	लोक्यते इति लोकः	५३
वस्तु	वसन्त्यस्मिन् गुण-पर्याया इति वस्तु चेतनादि	३
विषय	विषीदन्ति एतेषु सक्ताः प्राणिन इति विषया इन्द्रियगोचरा वा	६
वीर	'ईर गति-प्रेरणयोः' इत्यस्य विपूर्वस्याजन्तस्य, विशेषेण ईरयति कर्म गमयति याति वेह शिवमिति वीरः	१
शरण्य	शरणे साधुः शरण्यः, तं रागादिपरिभूताश्रितसत्त्ववत्सलं रक्षकमित्यर्थः	१
शुक्ल	शुचं क्लमयतीति शुक्लम्, शोकं ग्लपयतीत्यर्थः	१
शुक्ल	शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्	५
हेतु	हिनोति गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुः कारको व्यञ्जकश्च	४८

६ टीकागत अवतरणवाक्य

अज्ञानं खलु कष्टं	५०
अज्ञानान्धाचटुलवनिता	६
अट्टेण तिरिक्खगई	५
अनुवादादरवीप्सा	५३
अन्योऽहं स्वजनात् परि [प्रशमरति. १५४]	६५
अर्ति-लू-धू-मू-खनि-सहि-चर इत्रन्	३३
अशुचिकरणसामर्थ्या- [प्रशमरति. १५५]	६५
अहवा सेलुव्व इसी [विशेषा. ३६६४]	७६
आगमश्चोपपत्तिश्च	८५
आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम् [त. सू. ९–३७]	४४
आर्तममोज्ञानां सम्प्रयोग [त. सू. ९, ३१-३४]	५
इष्टजनसप्रयोगर्द्धि [प्रशमरति. १५१]	६५
उजुसेढिं पडिवण्णो [विशेषा. ३७०८]	७६
उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् [त. सू. ५-२९	५२
उववाओ लंतगंमि	४५
एकस्य जन्म-मरणे [प्रशमरति. १५३]	६५
एक्का य अणेगेसिं	१
एवं च गरुमच— सुक्कज्झाणाइ दुगं	६४
एवंविहा गिरा मे	३७
ओरालिबाहिं सव्वाहिं [विशेषा. ३६८४]	७६
औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणति विशेषः काययोगः·····मनोयोगः इति	३
कालो परमनिरुद्धो	३
काहं अछित्ति अदुवा	१२
किरियासु वट्टमाणा	५०
कूरावि सहावेणं	४५
कृत्वा पूर्वविधानं	५१
कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्	१४
कोहो य माणो य अणिग्गहीदा	५०
गीयत्थो जयणाए	१२
गुण-पर्यायवद् द्रव्यमिति [त. सू. ५-३७]	३१
घट-मौलि-सुवर्णार्थी [आप्तमी.]	५२
जगन्ति जङ्गमान्याहुर्जगद् ज्ञेयं चराचरम्	३४
जन्म-जरा-मरणभयै [प्रशमरति. १५२]	६५
जन्म मरणाग नियतं	३४
जं अण्णाणी कम्मं [प्रव. सा.]	४५
जिणवयणमोदगस्स उ	४५
जीवाइवत्थुचिंतण	४५
जीवानां पुद्गलानां च गत्युपग्रहकारणम्	५३
जीवानां पूद्गलानां च धर्माधर्मास्तिकाययोः	५३
जीवानां पुद्गलानां च स्थित्युपग्रहकारणम्	५३
जीवा पाविति इहं	५०
जूहयर सोलमेंठा	३५
जो किर जहण्णाजोओ [विशेषा. ३६६१]	७६
ज्ञानात्मा सर्वभावज्ञो	५३
तणुरोहारंभाओ [प्र. ३६६७]	७६
तदसङ्ख[ग]गुणविहीणे [३६५८]	७६
तयसंखेज्जगुणाए [३६८०]	७६
तस्सोदइया भावा [३६८५]	७६
तीसा य पन्नवीसा	५४
तेषां करतढभ्रष्टैः	४५
थिरे णामेगे णो कयजोगे इत्यावि	३६
दव्वओ सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणई	४५
दव्वमणोजोएणं	१
दृष्टादिभेदभिन्नस्य	५०
दोसानलसंसत्तो	५०
द्रव्यार्थादेशादित्येषा द्वादशङ्गी न कदाकिन्नासीत् इत्यादि	४५
देषः सम्पद्यमानोऽपि	५०
धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायस्स पएसे	५२
धर्मोऽयं स्वाख्यातो [प्रशमरति. १६१]	६५
धी संसारो इत्यादि	८८
नर-नरय-तिरिय-सुरगण	४५
नवि अत्थि मानुसाणं	६१

णामं ठवणा दविए	५३	सत्त पाणूनि से श्रोव	३
नो इहलोगट्ठयाए नो परलोगट्ठयाए	४६	सत्तेक्य कोडीओ	५४
पज्जत्तमित्तविदिय (विशेषा. ३६५६)	७६	स द्विविधोऽष्ट-चतुर्भेदो [त. सू. २-६]	५५
पज्जत्तमित्तसन्निस्स [३६५७]	७६	स-परसमयकोसल्लं	३२
पञ्चाश्रवात् इत्यादि	६८	समचउरंसे नग्गोहमंडले	५२
पभूणं चोद्दसपुव्वी	४५	सर्वव्यक्तिषु नियतं	५२
पयोव्रतो न दध्यत्ति [आप्तमी.]	५२	सर्वे जीवा न हन्तव्याः इत्यादि	४५
परलोगंमि वि एवं	५०	सव्वट्ठाणाणि असासयाणि इत्यादि	८८
परिमंडले य वट्टे	५२	सव्वनदीणं जा	४५
पिशुनं सूचकं विदुः इति वचनात्	२०	सव्ववइजोगरोहं [विशेषा. ३६६०]	७६
मणुयगइ-जाइ [विशेषा. ३६८२]	७६	सव्वसुरासुर-माणस	४५
मतुयत्थंमि मुणिज्जइ	५७	सव्वसुरेहिंतो वि हु	१
माता भूत्वा दुहिता [प्रशमरति. १५६]	६५	सव्वं खवेइ तं पुण [विशेषा. ३६८३]	७६
मानुष्यकर्मभूम्या [प्रशमरति. १६२]	६५	सव्वेवि य सिद्धंता	४५
मिच्छत्तमोहियमई	५०	संभवओ जिणनामं [विशेषा. ३६८३]	७६
मिथ्यादृष्टिरविरतः [प्रशमरति. १५७]	६५	सीलं व समाहाणं [विशेषा. ३६६५]	७६
मोक्षे भवे च सर्वत्र	१२	सुयणाणंमि नेउण्णं	४५
यद्वद्विशेषणादुपचितो [प्रशमरति. १५६]	६५	सुसमाहियकर-पायस्स	३७
या पुण्य-पापयोर-[प्रशमरति. १५८]	६५	सेलेसो किर मेरु [विशेषा. ३६६३]	७६
रागः सम्पद्यमानोऽपि	१६	स्थितः शीतांशुवज्जीवः	१०२
रागाद् वा द्वेषाद् वा	४६	स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण	५३
रिभियपवक्खरसरला	१	हट्ठस्स अणवयल्लस्स	३
रुंभइ स कायजोगं [विशेषा. ३६६२]	७६	हस्सक्खराइं मज्झेण [विशेषा. ३६६६]	७६
लोकस्याधस्तिर्यग् [प्रशमरति. १६०]	६५	हेट्ठा मज्झे उवरि	५१
		हेट्ठोवरि जोयणस्स	५४

७ टीका के अनुसार पाठभेद

१. राग-द्वेष-मोहाङ्कितस्य, आकुलस्य वेति पाठान्तरम् । गा. २४
२. नियताः परिच्छिन्नाः, पाठान्तरं वा जनिताः । गा. ३०
३. परिनिर्वाणपुरं वेति पाठान्तरम् । गा. ६०
४. मन्त्र-योगाभ्यामिति च पाठान्तरं वा । गा. ७१

८ टीकानुसार मतभेद

१. अन्ये पुनरिदं गाथाद्वयं चतुर्भेदमप्यार्तध्यानमधिकृत्य साधोः प्रतिषेधरूपतया व्याचक्षते । गा. १२
२. अनेन किलानागतकालपरिग्रह इति वृद्धाः व्याचक्षते । गा. ८
३. अन्ये तु व्याचक्षते तिर्यंग्गतावेव प्रभूतसत्त्वसम्भवात् संसारोपचारः इति । गा. १३
४. प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशबन्धभेदग्राहक इत्यन्ये । गा. ५०

९ टीकागत ग्रन्थनामोल्लेखादि

१. उक्तं च भगवता वाचकमुख्येन । गा. ५
२. उक्तं च परमर्षिभिः—पुढवि खलु……। गा. ११
३. उक्तं चोमास्वातिवाचकेन—हिंसानृत-स्तेय-विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम् । गा. १८
४. सिंहमारकवत् । गा. २७
५. एतेषां स्वरूपं च प्रत्याख्यानाध्याये न्यक्षेण वक्ष्यामः । गा. ३२
६. श्रूयन्ते च चिलातीपुत्रादयः एवंविधा बहवः इति । गा. ४५
७. तथा च स्तुतिकारेणाप्युक्तम्—कल्पद्रुमः कल्पितमात्रदायी……॥ गा. ४५
८. भावार्थः पुनः वृद्धविवरणादवसेयः ×××× जहा कम्मपयडीए तहा विसेसेण विचिंतिज्जा ××× वित्थरओ कम्मपयडीए भणियाणं कम्मविवागं विचिंतेज्जा । गा. ५१
९. भावार्थश्चतुर्विंशतिस्तवविवरणादवसेयः । गा. ५३
१०. वाष-तुषमरुदेव्यावीनामपूर्वधराणामपि तदुपपत्तेः । गा. ६४
११. भावार्थो नमस्कारनिर्युक्तौ प्रतिपादित एव । गा. ७६
१२. मरुदेव्यादीनां त्वन्यथा । गा. ७७

१० टीकागत न्यायोक्तियां

१. यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायादार्तध्यानस्य स्वरूपाभिधानावसरः । गा. ५
२. एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति साध्व्याश्च योग्यं यतिनपुंसकस्य च । गा. ३५
३. एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् नगर-खेट कर्वटादिपरिग्रहः इति । गा. ३६
४. एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् अदत्तादान-मैथुन-परिग्रहाद्युपरोधरहितश्च । गा. ३७

श्री-भास्कर-नन्दि-विरचितः

ध्यानस्तवः

ध्यान माहात्म्य—

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेण
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥

आ. कुमुदचन्द्र—कल्याणमन्दिर १५.

श्री-भास्करनन्दि-विरचितः

ध्यानस्तवः

परमज्ञानसवेद्यं वीतवाधं सुखादिवत्। सिद्धं प्रमाणतः सार्वं सर्वज्ञं सर्वदोषहम् ॥१॥
अन्तातीतगुणाकीर्णं योगाढ्यैर्वास्तवैः स्तवैः। संस्तुवे परमात्मानं लोकनाथं स्वसिद्धये ॥२॥

जो परमात्मा उत्कृष्ट ज्ञान के द्वारा संवेद्य (जानने के योग्य), सुखादि के समान बाधा से रहित, प्रमाण से सिद्ध, सबके हित में उद्यत, समस्त पदार्थों का ज्ञाता, समस्त दोषों का विनाशक अनन्त गुणों से व्याप्त और लोक का अधिनायक है; उस की मैं (भास्करनन्दी) योग से सम्पन्न वस्तुभूत स्तवनों के द्वारा आत्मसिद्धि के लिए स्तुति करता हूं ॥

विवेचन—यहाँ योग (ध्यान) की प्ररूपणा में उद्यत होकर ग्रन्थकार भास्करनन्दी यह अभिप्राय प्रगट करते हैं कि जो भी सब दोषों को नष्ट करके परमात्मा होता है वह योग के आश्रय से—धर्म और शुक्ल ध्यान के प्रभाव से—ही होता है। इसलिए मैं उस परमात्मा की योग से सम्पन्न—ध्यान के प्ररूपक—स्तोत्रों के द्वारा स्तुति करता हूं। प्रयोजन उसका स्वसिद्धि—आत्मोपलब्धि है ॥१-२॥

वह सिद्धि क्या है, किसके होती है, और उसका उपाय क्या है; इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

सिद्धिः स्वात्मोपलम्भः स्याच्छुद्धध्यानोपयोगतः। सम्यग्दृष्टेरसंगस्य तत्त्वविज्ञानपूर्वतः [कः]

शुद्ध ध्यान के उपयोग से—शुक्ल ध्यान के आश्रय से—जो निज आत्मा की उपलब्धि—स्वात्मानुभवन—होता है उसका नाम सिद्धि है। वह असंग—ममत्वबुद्धि से रहित—सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है ॥

विवेचन—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के नष्ट हो जाने पर जीव को जो आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है उसे सिद्धि कहा जाता है। मुक्ति या मोक्ष इसी के नामान्तर हैं। इस सिद्धि के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। इनकी पूर्णता शुक्लध्यान के आश्रय से हुआ करती है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए ग्रन्थकार ने प्रकृत श्लोक में उक्त सिद्धि का अधिकारी उस सम्यग्दृष्टि जीव को बतलाया है जो ध्यान के बल से तत्त्वज्ञानपूर्वक असंग हो चुका है। दृष्टि, दर्शन, रुचि और श्रद्धा ये समानार्थक शब्द हैं। जिस जीव की वह दृष्टि मिथ्यात्व को छोड़कर यथार्थता को प्राप्त कर चुकी है वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है। सम्यग्दर्शन के प्राप्त हो जाने पर जीव के जो हीनाधिक ज्ञान होता है वह सम्यक्स्वरूप में परिणत होकर सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान को प्राप्त हुआ मुमुक्षु जीव आत्मोत्थान के लिए क्रम से धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान का आश्रय लेता है और उसके प्रभाव से शुद्ध आत्मस्वरूप के आच्छादक कर्म-कलंक को नष्ट करता हुआ असंग हो जाता है। संग, मूर्छा, परिग्रह, राग-द्वेष और आसक्ति ये समानार्थक शब्द हैं। राग-द्वेष अथवा आसक्ति के उत्तरोत्तर हीन होते जाने से जीव पूर्णतया स्वावलम्बी होकर जो परम वीतरागता को प्राप्त कर लेता है, यही सर्वोत्कृष्ट चारित्र है। इस प्रकार रत्नत्रयस्वरूप से प्रसिद्ध उक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा जीव शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त होकर सिद्धि को पा लेता है— मुक्त हो जाता है ॥३॥

प्रकारान्तर से पुनः इसी को व्यक्त किया जाता है—

कर्माभावे ह्यनन्तानां ज्ञानादीनामवापनम् । उपलम्भोऽथवा सोक्ता त्वया स्वप्रतिभासनम् ॥

अथवा—कर्मों के विनष्ट हो जाने पर जो अनन्त ज्ञानादि की प्राप्ति होती है, यही स्वात्मा की उपलब्धि है जो आत्मप्रतिभासस्वरूप है। इसे ही हे भगवन् ! आपने सिद्धि कहा है ॥

विवेचन—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म हैं। इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं जो क्रम से ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और वीर्य इनके विघातक हैं। उनका अभाव हो जाने पर जीव सयोग-केवली नामक तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य स्वरूप अनन्तचतुष्टय को प्राप्त कर लेता है। यही आर्हन्त्य अवस्था अथवा जीवन्मुक्ति है। तत्पश्चात् अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मों के भी नष्ट हो जाने पर जीव सिद्ध होकर निर्बाध शाश्वतिक सुख को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार सिद्धि को प्राप्त हुआ मुक्तात्मा उक्त आठ कर्मों के अभाव में क्रम से केवलज्ञान, केवलदर्शन, अव्याबाधत्व, क्षायिक सम्यक्त्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व और अनन्त वीर्य इन आठ गुणों का स्वामी हो जाता है। कहा भी गया है—

मोहो खाइयसम्मं केवलणाणं च केवलालोयं । हणदि हु आवरणदुगं अणंतविरियं हणेदि विग्घं तु ।
सुहुमं च णामकम्मं हणेदि आऊ हणेदि अवगहणं । अगुरुलहुगं च गोदं अव्वाबाहं हणेइ वेयणियं ॥
(गो. जी. जी. प्र. टीका ६८ उद्धृत)

अर्थात् मोहनीय कर्म क्षायिक सम्यक्त्व का, दो आवरण—ज्ञानावरण और दर्शनावरण—क्रम से केवलज्ञान और केवलदर्शन का, विघ्न (अन्तराय कर्म) अनन्त वीर्य का, नामकर्म सूक्ष्मत्व का, आयुकर्म अवगाहनत्व का, गोत्रकर्म अगुरुलघुत्व का और वेदनीय अव्याबाधत्व का घात करता है ॥४॥

आगे यह दिखलाते हैं कि ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होने पर ही ध्यान सम्भव है, उसके बिना वह सम्भव नहीं है—

समाधिस्थस्य यद्यात्मा ज्ञानात्मा नावभासते । न तद् ध्यानं त्वया देव गीतं मोहस्वभावकम् ॥

हे देव ! जो समाधि में स्थित है उसे यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रतिभासित नहीं होता है तो आपने उसके उस ध्यान को मोहस्वरूप होने के कारण ध्यान नहीं कहा ॥

विवेचन—यद्यपि सामान्य से चार प्रकार के ध्यान के अन्तर्गत आर्त व रौद्र भी हैं, परन्तु यहां ध्यान से समीचीन ध्यान की विवक्षा रही है, लोकरूढि में भी ध्यान से समीचीन ध्यान का ही ग्रहण किया जाता है। वह समीचीन ध्यान मिथ्यादृष्टि के सम्भव नहीं है, किन्तु सम्यग्दृष्टि के ही होता है। इसीलिए यहां यह कहा गया है कि जिसे शरीरादि से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा का प्रतिभास नहीं होता उसके समाधिस्थ जैसे होने पर भी वस्तुतः ध्यान सम्भव नहीं है। कारण यह कि मिथ्यात्व से ग्रसित होने के कारण उसे स्व-पर का विवेक ही नहीं हो सकता ॥५॥

आगे ध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

नानालम्बनचिन्ताया यदेकार्थे नियन्त्रणम् । उक्तं देव त्वया ध्यानं न जाड्यं तुच्छतापि वा ॥

अनेक पदार्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता को जो एक ही पदार्थ में नियंत्रित किया जाता है, इसे हे देव ! आपने ध्यान कहा है। वह ध्यान न तो जड़ता स्वरूप है और न तुच्छता रूप भी है ॥

विवेचन—"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्" इस सूत्र[1] में कहा गया है कि अनेक पदार्थों की ओर से चिन्ता को हटाकर उसे एक पदार्थ पर रोकना, यह ध्यान कहलाता है और वह उत्तम संहनन वाले के अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है।

---

१. त. सू. ९-२७.

एकाग्रचिन्तानिरोधस्वरूप इस ध्यान के लक्षण को स्पष्ट करते हुए आचार्य अकलंक देव के द्वारा कहा गया है कि 'अग्र' का निरुक्तार्थ मुख अथवा अर्थ (पदार्थ) है, तथा पदार्थों के विषय में जो अन्तःकरण का व्यापार होता है उसका नाम चिन्ता है। इसका अभिप्राय यह है कि गमन, भोजन, शयन एवं अध्ययन आदि अनेक क्रियाओं में अनियमितता से प्रवर्तमान मन को जो किसी एक क्रिया के कर्तारूप से अवस्थित किया जाता है, इसे एकाग्रचिन्तानिरोध कहा जाता है। फलितार्थ यह है कि एक द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणु रूप अर्थ में जो चिन्ता को नियंत्रित किया जाता है, इसे ध्यान समझना चाहिए। जिस प्रकार वायु के अभाव में निर्बाधरूप से जलने वाली दीपक की लौ चंचलता से रहित (स्थिर) होती है उसी प्रकार आत्मा के वीर्यविशेष से विभिन्न पदार्थों की ओर से रोकी जाने वाली चिन्ता चंचलता से रहित होती हुई एकाग्रस्वरूप से स्थित होती है[1]।

लगभग यही अभिप्राय तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के रचयिता आचार्य विद्यानन्द का भी रहा है[2]।

तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यानुसारिणी टीकाओं के कर्ता हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणि अपनी-अपनी टीका में समान रूप से 'अग्र' का अर्थ आलम्बन और 'चिन्ता' का अर्थ चंचल चित्त करते हैं। उक्त चंचल चित्त के अन्यत्र होने वाले संचार को रोककर उसे एक के आश्रित अवस्थित करना, यह निरोध का अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि एक वस्तु का आश्रय लेने वाला जो स्थिर अध्यवसान है उसका नाम ध्यान है। इस प्रकार का वह ध्यान छद्मस्थों के ही होता है, केवलियों के नहीं। केवलियों का ध्यान वचन और काय योगों के निरोधस्वरूप है। कारण यह कि उनके चित्त का अभाव हो चुका है[3]।

यही अभिप्राय ध्यानशतक में भी प्रगट किया गया है[4]।

प्रकृत श्लोक में भास्करनन्दी ने जो अनेक अर्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता के एक अर्थ में नियंत्रित करने को ध्यान कहा है वह उक्त तत्त्वार्थवार्तिक आदि का अनुसरण करने वाला है। यहां भास्करनन्दी ने यह भी कहा है कि वह ध्यान जड़ता अथवा तुच्छता रूप नहीं है। इसका कुछ स्पष्टीकरण हमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में उपलब्ध होता है। वहां शंका के रूप में यह कहा गया है कि ध्यान (योग) का स्वरूप तो चित्तवृत्ति का निरोध है, न कि एकाग्रचिन्तानिरोध? इस शंका के ऊपर प्रतिशंका उपस्थित करते हुए पूछा गया है कि चित्तवृत्तिनिरोध से क्या आपको समस्त चित्तवृत्तियों के निरोधरूप तुच्छ अभाव अभीष्ट है अथवा वह (चित्तवृत्ति का निरोध) स्थिर ज्ञानस्वरूप अभीष्ट है? इनमें समस्त चित्तवृत्तियों के निरोधस्वरूप तुच्छ अभाव को यदि ध्यान माना जाता है तो वह प्रमाणसंगत नहीं है। परन्तु इसके विपरीत यदि उस चित्तवृत्तिनिरोध को स्थिर ज्ञानस्वरूप स्वीकार किया जाता है तो वह हमें अभीष्ट है[5]।

इस प्रकार प्रकृत में जो तुच्छतारूप ध्यान का निषेध किया गया है उसका आधार निश्चित ही तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का उक्त प्रसंग रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त जड़तास्वरूप ध्यान का जो निषेध किया गया है वह प्रायः सांख्य मत के अभिप्राय को लेकर किया गया है। सांख्य मत के अनुसार प्रकृति (प्रधान) और पुरुष ये दो तत्त्व प्रमुख हैं। इनमें पुरुष को स्वभावतः ज्ञान से रहित माना गया है। इसका कारण यह रहा है कि ज्ञान अनित्य है, और तब वैसी अवस्था में पुरुष को उस ज्ञान से अभिन्न मानने पर उसके जो अनित्यता का प्रसंग प्राप्त होगा वह दुर्निवार होगा। इस प्रकार

---

१. त. वा. ९, २७, ३–७, पृ. ६२५.
२. त. श्लो. ९, २७, ५-६, पृ. ४९८-९९.
३. त. भा. हरि. व सिद्ध. वृत्ति ९–२७.
४. ध्यानशतक २–३.
५. त. श्लो. ९, २७, १-२ (यहां पाठ कुछ त्रुटित हो गया दिखता है)।

पुरुष के ज्ञान (चेतनता) से रहित होने पर ध्यान भी जड़ता को प्राप्त होता है। सम्भवतः इसी अभिप्राय को लेकर जड़रूपता का भी निषेध किया गया है। यह अभिप्राय भी उक्त तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में निहित है[1] ॥६॥

यह वस्तुस्वरूप अध्यात्मवेदी के अनुभव में स्वयं आता है, यह आगे कहा जाता है—

ज्ञस्वभावमुदासीनं स्वस्वरूपं प्रपश्यता। स्फुटं प्रकाशते पुंसस्तत्त्वमध्यात्मवेदिनः ॥७॥

जीव का स्वरूप ज्ञानमय व उदासीन—राग-द्वेष से रहित है, इसे जो देखता-जानता है उस अध्यात्मवेदी को स्पष्ट रूप से तत्त्व प्रतिभासित होता है ॥

विवेचन—पीछे श्लोक ५ में यह कहा जा चुका है कि समाधि में स्थित होते हुए भी जिसे ज्ञानमय आत्मा प्रतिभासित नहीं होता है उसका वह ध्यान वस्तुतः ध्यान नहीं है, किन्तु मोहरूप होने से वह ध्यानाभास है। इस पर यह शंका हो सकती थी कि तो फिर ध्यान किसके सम्भव है? इसके समाधान स्वरूप यहां यह कहा गया है कि जो ज्ञायकस्वभावरूप आत्मस्वरूप को देख रहा है, ध्यान यथार्थतः उसके होता है, क्योंकि वह मोह से रहित होकर आत्मतत्त्व को जानता है ॥७॥

आगे ध्यान के भेद और उनके फल का निर्देश किया जाता है—

आर्तं रौद्रं तथा धर्म्यं शुक्लं चेति चतुर्विधम्। तत्राद्यं संसृतेर्हेतुर्द्वयं मोक्षस्य तत्परम् ॥८॥

ध्यान आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का है। उनमें प्रथम दो ध्यान—आर्त और रौद्र—संसार के कारण हैं तथा अन्तिम दो—धर्म्य और शुक्ल—मोक्ष के कारण हैं ॥८॥

आगे ध्यान के उक्त चार भेदों में प्रथमतः आर्तध्यान का स्वरूप दो श्लोकों में कहा जाता है—

विप्रयोगे मनोज्ञस्य संप्रयोगाय संततम्। संयोगे चामनोज्ञस्य तद्वियोगाय या स्मृतिः ॥९॥
पुंसः पीडाविनाशाय स्यादार्तं सनिदानकम्। गृहस्थस्य निदानेन विना साधोस्त्रयं क्वचित् ॥

अभीष्ट पदार्थ का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए, अनिष्ट का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए, तथा पीडा के विनाश के लिए जो जीव के निरन्तर स्मरण या चिन्तन होता है वह आर्तध्यान कहलाता है। साथ ही भोगाकांक्षारूप जो निदान है वह भी आर्तध्यान के अन्तर्गत है। इस प्रकार विषयभेद से आर्तध्यान चार प्रकार का है। उनमें गृहस्थ के तो वे चारों सम्भव हैं, परन्तु साधु के निदान के विना पूर्व के तीन आर्तध्यान कदाचित् हो सकते हैं ॥

विवेचन—आर्त यह 'ऋत' शब्द से बना है। ऋत का अर्थ दुख होता है, तदनुसार दुख के निमित्त से या दुख में जो संक्लेश परिणाम होता है उसे आर्तध्यान कहा जाता है। वह विषय के भेद से चार प्रकार का है—१. अभीष्ट स्त्री-पुत्रादि अथवा धन-सम्पत्ति आदि का वियोग होने पर उनके संयोग के लिए जो विचार रहता है यह प्रथम आर्तध्यान है। इसी प्रकार इष्ट पदार्थों के संयोग के होने पर उनका कभी वियोग न हो इसके लिए, और यदि उनका संयोग नहीं है तो किस प्रकार से उनकी प्राप्ति हो इसके लिए भी जो निरन्तर संक्लेशरूप परिणाम रहता है, यह सब प्रथम आर्तध्यान के अन्तर्गत है। २. अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर किस प्रकार उसका मुझसे वियोग हो, इसके लिए जो निरन्तरचिन्तन होता है, तथा भविष्य में कभी किसी अनिष्ट पदार्थ का संयोग न हो, इसके लिए भी जो निरन्तर विचार रहता है, यह दूसरा आर्तध्यान है। ३. रोगादिजनित पीड़ा के होने पर उससे किस प्रकार छुटकारा हो, इसके लिए तथा यदि पीड़ा न भी हो तो भी भविष्य में कभी किसी प्रकार की पीड़ा न हो, इसके लिए भी जो निरन्तर विचार रहता है; यह तीसरा आर्तध्यान माना गया है। ४. भविष्य में इन्द्र व चक्रवर्ती आदि के भोगों की प्राप्ति के लिए जो यह प्रार्थना की जाती है कि मेरे द्वारा अनुष्ठित तप व संयम के प्रभाव से मुझे अमुक प्रकार का सुख प्राप्त हो, इसका नाम निदान है। यह चौथे प्रकार का आर्तध्यान

१. त. श्लो. ९, २७, ३, पृ. ४९७-९८.

है। उक्त चार प्रकार के आर्तध्यान में गृहस्थ के तो वे चारों ही हो सकते हैं, किन्तु मुनि के निदान नहीं होता—शेष तीन उसके भी हो सकते हैं। यह दुर्ध्यान तिर्यंचगति का कारण है ॥९-१०॥

आगे रौद्रध्यान के स्वरूप व उसके स्वामी का निर्देश किया जाता है—

हिंसनासत्यचौर्यार्थरक्षणेभ्यः प्रजायते। क्रूरो भावो हि यो हिंस्रो रौद्रं तद् गृहिणो मतम् ॥

हिंसा, असत्य, चोरी और धनसंरक्षण के लिए जो हिंसाजनक क्रूर भाव होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है और वह गृहस्थ के माना गया है—मुनि के वह नहीं होता है ॥

विवेचन—'रोदयति परान् इति रुद्रः' इस निरुक्ति के अनुसार जो दूसरों को रुलाता है उसे रुद्र कहा जाता है। तदनुसार क्रूर प्राणी अथवा दुख के कारण को रुद्र समझना चाहिए। इस प्रकार क्रूर प्राणी के द्वारा किये जाने वाले कार्य का नाम रौद्रध्यान है। वह विषय (ध्येय) के भेद से चार प्रकार का है—हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी। दूसरे प्राणियों के वध-बन्धन आदि का जो निरन्तर विचार रहता है, यह प्रथम (हिंसानुबन्धी) रौद्र ध्यान है। असत्य, असभ्य अथवा जिससे दूसरे प्राणी को दुख पहुंचने वाला हो ऐसे वचन के बोलने की जो प्रवृत्ति होती है उसे मृषानुबन्धी रौद्रध्यान कहते हैं। अतिशय क्रोध अथवा लोभ के वश होकर जो दूसरे के द्रव्य के हरण का विचार होता है वह स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है। इन्द्रियविषयों के साधनभूत धन के संरक्षण का जो निरन्तर विचार रहता है उसका नाम विषयसंरक्षणानुबन्धी (चौथा) रौद्रध्यान है। यह चार प्रकार का निकृष्ट रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि आदि संयतासंयत पर्यन्त पांच गुणस्थानों में ही सम्भव है, प्रमत्तसंयतादि शेष गुणस्थानों में वह सम्भव नहीं है। वह नरकगति का कारण है ॥११॥

अब क्रमप्राप्त धर्म्यध्यान के स्वरूप को दिखलाते हुए धर्म का स्वरूप प्रगट करते हैं—

जिनाज्ञा-कलुषापाय-कर्मपाकविचारणा। लोकसंस्थानविचारश्च धर्मो देव त्वयोदितः ॥१२॥
अनपेतं ततो धर्माद्यत्तद् धर्म्यं चतुर्विधम्। उत्तमो वा तितिक्षादिर्वस्तुरूपस्तथापरः ॥१३॥

जिनदेव की आज्ञा (जिनागम), पाप के अपाय, कर्म के विपाक और लोक के आकार का जो विचार किया जाता है उसे हे देव ! आपने धर्म कहा है। उस धर्म से जो दूर नहीं है—उससे परिपूर्ण है—वह धर्म्यध्यान कहलाता है, जो विषय के भेद से चार प्रकार का है। अथवा उत्तम क्षमा-मार्दवादि-स्वरूप धर्म का लक्षण जानना चाहिए, वस्तु का जो स्वरूप या स्वभाव है उसे भी प्रकारान्तर से धर्म कहा जाता है।

विवेचन—जो विचार धर्म से सम्पन्न होता है उसे यहां धर्म्यध्यान कहा गया है। प्रसंगवश यहां धर्म के स्वरूप का विचार करते हुए प्रथमतः जिनाज्ञा आदि के विचार को धर्म बतलाया है। वह उक्त जिनाज्ञा आदि के भेद से चार प्रकार का है। इनमें जिनाज्ञा (जिनागम) का विचार करते हुए धर्मध्यानी यह विचार करता है कि तत्त्व की दुरवबोधता और ज्ञानावरण के उदय के कारण यदि किसी तत्त्व का बोध मुझे ठीक से नहीं होता है तो इससे जिज्ञासित तत्त्व का स्वरूप अन्यथा नहीं हो सकता, क्योंकि वह उस आप्त के द्वारा कहा गया है जो सर्वज्ञ—समस्त तत्त्वों का ज्ञाता—और राग-द्वेष से रहित है। तत्त्व का असत्य निरूपण वही करता है जो या तो अल्पज्ञ है या राग-द्वेष के वशीभूत है। इस प्रकार से जिनागम के विषय में विचार करना यह उस धर्म का प्रथम भेद है। कलुष नाम पाप का है, जीव के साथ जो अनादि काल से भवभ्रमण के कारणभूत कर्म-मल का सम्बन्ध हो रहा है उसका विनाश किस प्रकार से हो, इसके विषय में जो विचार किया जाता है उसका नाम कलुषापाय है। यह उस धर्म का दूसरा भेद है। इसमें प्रकारान्तर से यह भी विचार किया जाता है कि मिथ्यात्व के वशीभूत होकर राग-द्वेष से अभिभूत हुए प्राणी जो अपाय को प्राप्त हो रहे हैं—जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं—उनका उससे किस प्रकार उद्धार होगा। कर्म ज्ञानावरणादि के भेद से आठ

प्रकार का है। उसकी उत्तर प्रकृतियां अनेक हैं। जीव के साथ सम्बन्ध होने पर जो उनका फलदान-शक्ति के रूप में अनेक प्रकार का विपाक होता है उस सबका विचार करना, यह उस धर्म का तीसरा भेद है। अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक में विभक्त लोक के आकार आदि के साथ उसमें स्थित नारक, मनुष्य-तिर्यंच एवं देवों आदि के दुख-सुख का विचार उस धर्म के चौथे भेद में किया जाता है। इस प्रकार चार भेदों में विभक्त उस धर्म से युक्त जो चिन्तन होता है उसे धर्म्यध्यान कहा जाता है। ध्येयस्वरूप उस धर्म के भेद से वह धर्म्यध्यान भी चार प्रकार का है—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक-विचय और संस्थानविचय।

प्रकारान्तर से वह धर्म उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य के भेद से दस प्रकार का भी है। इन सबका विचार भी धर्म्यध्यान में किया जाता है।

जीवादि पदार्थों में जिसका जो स्वरूप या स्वभाव है उसे भी धर्म कहा जाता है। यह धर्म का व्यापक स्वरूप है। इस धर्म का भी धर्म्यध्यानी अनेक प्रकार से चिन्तन किया करता है ॥१२-१३॥

आगे अन्य प्रकार से भी उस धर्म और उससे अनपेत धर्म्यध्यान के स्वरूप का निर्देश करते हुए वह किनके होता है, इसे स्पष्ट किया जाता है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि मोहक्षोभविवर्जितः। यश्चात्मनो भवेद् भावो धर्मः शर्मकरो हि सः ॥
अनपेतं ततो धर्माद् धर्मध्यानमनेकधा। शमकक्षपकयोः प्राक् श्रेणिभ्यामप्रमत्तके ॥१५॥
मुख्यं धर्म्यं प्रमत्तादित्रये गौणं हि तत्प्रभो। धर्म्यमेवातिशुद्धं स्याच्छुक्लं श्रेण्योश्चतुर्विधम् ॥

जीव का मोह के क्षोभ से रहित जो भाव (परिणति) होता है उसका नाम धर्म है और वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रस्वरूप होकर सुख का—मोक्षसुख का—कारण है। उस धर्म से अनपेत धर्म्यध्यान भी अनेक प्रकार का है। हे प्रभो! वह धर्म्यध्यान मुख्यरूप से उपशमक और क्षपक की श्रेणियों से—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि से—पहिले अप्रमत्तसंयत (सातवें) गुणस्थान में होता है तथा गौणरूप से वह प्रमत्तादि तीन—प्रमत्तसंयत, संयतासंयत और असंयतसम्यग्दृष्टि (६, ५, ४)—गुणस्थानों में होता है। अतिशय विशुद्धि को प्राप्त हुआ वह धर्म्यध्यान ही शुक्लध्यान होता है। वह चार प्रकार का है, जो दोनों श्रेणियों में—उपशमश्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और उपशान्तमोह गुणस्थानों में तथा क्षपकश्रेणि के अपूर्व-करण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और क्षीणमोह गुणस्थानों में—होता है ॥१४-१६॥

आगे तीन श्लोकों में शुक्लध्यान के उक्त चार भेदों में प्रथम दो भेदों का निर्देश करते हुए उनके स्वरूप व स्वामियों को दिखलाते हैं—

सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम्। आद्यं शुक्लं द्वितीयं तु विपरीतं वितर्कभाक् ॥१७
श्रुतज्ञानं वितर्कः स्याद्योगशब्दार्थसंक्रमः। वीचारोऽथ विभिन्नार्थभासः पृथक्त्वमीडितम् ॥
श्रुतमूले विवर्तेते ध्येयार्थे पूर्ववेदिनोः। उक्ते शुक्ले यथासंख्यं त्र्येकयोगयुजोर्विभो ॥१९॥

प्रथम शुक्लध्यान वितर्क, वीचार और पृथक्त्व से सहित तथा दूसरा शुक्लध्यान इससे विपरीत—वीचार और पृथक्त्व से रहित—होता हुआ वितर्क से सहित है। वितर्क का अर्थ श्रुतज्ञान है। योग, शब्द और अर्थ के संक्रम (परिवर्तन) को वीचार कहते हैं। विभिन्न अर्थ का जो प्रतिभास होता है उसे पृथक्त्व कहा गया है। हे प्रभो! उक्त दोनों शुक्लध्यान अपने ध्येय अर्थ के विषय में श्रुत के आश्रित होकर यथाक्रम से तीन योगवाले व एक ही योगवाले पूर्ववित्—अङ्ग-पूर्वश्रुत के ज्ञाता (श्रुतकेवली)—के होते हैं ॥

विवेचन—शुक्लध्यान के चार भेदों में प्रथम शुक्लध्यान का नाम पृथक्त्ववितर्क सविचार है। पृथक्त्व का अर्थ भेद है। प्रथम शुक्लध्यानी द्रव्य-पर्याय अथवा उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य रूप अवस्थाओं का भेदपूर्वक चिन्तन किया करता है। अर्थ, व्यंजन और योग के परिवर्तन को वीचार कहते हैं। उक्त प्रथम शुक्लध्यानी द्रव्य-पर्यायस्वरूप अर्थ में कभी द्रव्य का और कभी द्रव्य को छोड़कर पर्याय का चिन्तन करता है। व्यंजन का अर्थ शब्द है, वह जो कभी एक श्रुतवाक्य का चिन्तन करता है तो कभी उसको छोड़कर अन्य श्रुतवाक्य का चिन्तन करता है, इसका नाम व्यंजनसंक्रम है। वह तीन योगों में किसी एक का और फिर उसको छोड़कर अन्य योग का चिन्तन करता है, यह योगसंक्रम है। वह प्रथम शुक्लध्यान इस प्रकार के अर्थसंक्रमादि से सहित होता है, इसीलिए उसे सविचार कहा गया है। वह तीनों योग युक्त श्रुतकेवली के होता है।

द्वितीय शुक्लध्यान का नाम एकत्ववितर्क अविचार है। इस शुक्लध्यान में प्रथम शुक्लध्यान के समान न तो द्रव्य-पर्याय आदि का भेदपूर्वक चिन्तन होता है और न उसमें उपर्युक्त तीन प्रकार का संक्रम भी रहता है, इसीलिए उसे एकत्व (पृथक्त्व से रहित) वितर्क अविचार शुक्लध्यान कहा गया है। वह तीन योगों में से किसी एक ही योग वाले श्रुतकेवली के होता है। उक्त दोनों शुक्लध्यानों में श्रुतज्ञान के आश्रय से नय-प्रमाण के अनुसार चिन्तन होता है, इसीलिए दोनों को सवितर्क कहा गया है।।१७-१९।।

आगे तीसरे शुक्लध्यान के स्वरूप व उसके स्वामी का निर्देश किया जाता है—

सूक्ष्मकायक्रियस्य स्याद्योगिनः सर्ववेदिनः। शुक्लं सूक्ष्मक्रियं देव ख्यातमप्रतिपाति तत् ।।

सूक्ष्म काय की क्रिया से युक्त सर्वज्ञ सयोगकेवली के तीसरा शुक्लध्यान होता है। वह हे देव! सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाति नाम से प्रसिद्ध है।।

विवेचन—तीसरा शुक्लध्यान तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली के होता है। सयोगकेवली का काल अन्तर्मुहूर्त व आठ वर्ष कम एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है। मुक्ति की प्राप्ति में जब थोड़ा सा काल शेष रह जाता है तब उक्त केवली योगों का निरोध करते हैं। इस प्रकार योगनिरोध करते हुए जब उनके काय की क्रिया उच्छ्वास-निःश्वास मात्र के रूप में सूक्ष्म रह जाती है तब उनके उक्त ध्यान होता है, इसीलिए उसे सूक्ष्मक्रिय कहा गया है तथा प्रतिपतनशील न होने के कारण उसके लिए अप्रतिपाति यह दूसरा विशेषण भी दिया गया है।।२०।।

अब चौथे शुक्लध्यान के स्वरूप व उसके स्वामी का निर्देश किया जाता है—

स्थिरसर्वात्मदेशस्य समुच्छिन्नक्रियं भवेत्। तुर्यं शुक्लमयोगस्य सर्वज्ञस्यानिवर्तकम् ।।२१

जब पूर्वोक्त सर्वज्ञ केवली के समस्त आत्मप्रदेश स्थिरता को प्राप्त हो जाते हैं तब योग से रहित हो जाने पर उनके समुच्छिन्नक्रिय अनिवर्ति नाम का चौथा शुक्लध्यान होता है।।

विवेचन—यह अन्तिम शुक्लध्यान अयोगकेवली के शैलेश्य अवस्था में होता है। शैलेश्य का अर्थ है समस्त शीलों का स्वामित्व। योग का अभाव हो जाने पर चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त अयोगकेवली समस्त शील-गुणों के स्वामी हो जाते हैं (शील के भेद-प्रभेदों के लिए देखिए मूलाचार का शील-गुणाधिकार)। उस समय उनके उक्त ध्यान होता है। यहां सूक्ष्म काय की क्रिया के भी नष्ट हो जाने से इस ध्यान को समुच्छिन्नक्रिय और निवृत्ति से रहित हो जाने के कारण अनिवर्ति कहा गया है। इस प्रकार इस ध्यान को ध्याते हुए अयोगकेवली अ इ उ ऋ और ऌ इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारणकाल में मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।।२१।।

यहां आशंका—

नानार्थालम्बना चिन्ता नष्टमोहे न विद्यते। तन्निरोधेऽपि यद् ध्यानं सर्वज्ञे तत् कथं प्रभो ।।

जिसका समस्त मोहनीय कर्म नष्ट हो चुका है उसके अनेक पदार्थों का आश्रय लेने वाली चिन्ता नहीं होती है। ऐसी अवस्था में उस चिन्ता का निरोध हो जाने पर जो ध्यान होता है वह हे प्रभो! सर्वज्ञ के—सयोग व अयोग केवली के—कैसे हो सकती है? ॥२२॥

इसका समाधान—

योगरोधो जिनेन्द्राणां देशतः कात्स्न्र्यतोऽपि वा। भूतपूर्वगतेर्वा तद् ध्यानं स्यादौपचारिकम् ॥

जिनेन्द्रों के एक देशरूप से अथवा सर्वदेशरूप से भी जो योगों का निरोध होता है वही उनका ध्यान है। अथवा भूतपूर्वगति—भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा—उपचार से उनके ध्यान जानना चाहिए ॥

विवेचन—चिन्ता का जो निरोध होता है वह ध्यान है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। सयोगकेवली और अयोगकेवली के मन के न रहने से यद्यपि वह चिन्तानिरोधस्वरूप ध्यान सम्भव नहीं है, फिर भी उनके क्रम से अल्प व पूर्ण रूप में जो योगों का निरोध होता है उसे ही उनके उपचार से ध्यान माना गया है। अथवा जिस प्रकार दण्ड के द्वारा कुम्हार के चाक के एक बार घुमा देने पर कुछ समय तक वह दण्ड के प्रयोग के विना भी घूमता रहता है उसी प्रकार पूर्व में मन का सद्भाव रहने पर जो चिन्ता रही है उसका उस मन के अभाव में भी पूर्व प्रयोग की अपेक्षा उपचार से सद्भाव समझना चाहिए। इस प्रकार चिन्ता के अभाव में भी उक्त दोनों केवलियों के उपचार से ध्यान माना गया है ॥२३॥

आगे उस ध्यान के अन्य चार भेदों का भी निर्देश किया जाता है—

उक्तमेव पुनर्देव सर्वं ध्यानं चतुर्विधम्। पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ॥२४

हे देव! पूर्व में निर्दिष्ट वही सब ध्यान चार प्रकार का है—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपवर्जित (रूपातीत) ॥२४॥

अब उनमें से प्रथमतः पिण्डस्थ ध्यान का स्वरूप चार श्लोकों में कहा जाता है—

स्वच्छस्फटिकसंकाशव्यक्तादित्यादितेजसम्। दूराकाशप्रदेशस्थं संपूर्णोदग्रविग्रहम् ॥२५
सर्वातिशयसंपूर्णं प्रातिहार्यसमन्वितम्। परमात्मानमात्मानं भव्यानन्दविधायिनम् ॥२६
विश्वज्ञं विश्वदृश्वानं नित्यानन्तसुखं विभुम्। अनन्तवीर्यसंयुक्तं स्वदेहस्थमभेदतः ॥२७
दहन्तं सर्वकर्माणि शुद्धेद्धध्यानवह्निना। त्वामेव ध्यायतो देव पिण्डस्थध्यानमीडितम् ॥२८

हे देव! निर्मल स्फटिक मणि के समान होने से जिस आपके परमौदारिक शरीर का तेज सूर्य आदि के समान प्रगट हो रहा है, जो दूरवर्ती आकाश के प्रदेशों में निराधार स्थित है[1] समचतुरस्रसंस्थान से युक्त होने के कारण जिनका शरीर सम्पूर्ण सुन्दर है, जो समस्त (३४) अतिशयों से परिपूर्ण हैं, आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित हैं, जिनकी आत्मा परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर चुकी है, जो भव्य जीवों को आनन्द के करने वाले हैं, विश्व के ज्ञाता व द्रष्टा हैं, शाश्वतिक अनन्त सुख से सहित हैं, ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापक हैं, अनन्त वीर्य से संयुक्त हैं, अभेदरूप से अपने शरीर में स्थित हैं, तथा जो निर्मल उद्दीप्त ध्यानरूप अग्नि के द्वारा समस्त कर्मों के जलाने वाले हैं; ऐसे आपका ही—सर्वज्ञ व वीतराग जिन देव का ही—जो ध्यान करता है उसके पिण्डस्थध्यान कहा गया है ॥२५-२८॥

आगे दूसरे पदस्थध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

तव नामपदं देव मंत्रमेकाग्र्यमीर्यतः। जपतो ध्यानमाम्नातं पदस्थं त्वत्प्रसादतः ॥२९

हे देव! तुम्हारे प्रसाद से जो एकाग्रता को प्राप्त होकर आपके नामपद का—नाम के अक्षरस्वरूप मंत्र का—जाप करता है उसके पदस्थध्यान कहा गया है। अभिप्राय यह है कि प्रकृत पदस्थध्यान

---

१. केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर जिन देव का शरीर पृथिवी से पांच हजार धनुष ऊपर चला जाता है। ति. प. ४-७०५.

में पंचनमस्कार मंत्र के पदों का, अ सि आ उ सा आदि परमेष्ठिवाचक अक्षरों का तथा ॐ ह्रीं आदि बीजाक्षरों का ध्यान किया जाता है ॥२९॥

अब रूपस्थध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

तव नामाक्षरं शुभ्रं प्रतिबिम्बं च योगिनः । ध्यायतो भिन्नमीशेदं ध्यानं रूपस्थमीडितम् ॥

हे ईश ! जो योगी तुम्हारे नामाक्षर का और भिन्न धवल प्रतिबिम्ब का ध्यान करता है उसके रूपस्थ ध्यान कहा जाता है ॥३०॥

आगे प्रकारान्तर से पुनः उसी रूपस्थध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

शुद्धं शुभ्रं स्वतो भिन्नं प्रातिहार्यादिभूषितम् । देव स्वदेहमर्हन्तं रूपस्थं ध्यान[य]तोऽथवा ॥

अथवा हे देव ! जो शुद्ध, धवल, आत्मा से भिन्न और प्रातिहार्य आदि से विभूषित अरहन्त जैसे अपने शरीर का ध्यान करता है उसके रूपस्थध्यान होता है ॥३१॥

अब रूपातीत ध्यान का स्वरूप कहा जाता है—

रूपातीतं भवेत्तस्य यस्त्वां ध्यायति शुद्धधीः ।
आत्मस्थं देहतो भिन्नं देहमात्रं चिदात्मकम् ॥३२॥

हे देव ! जो निर्मलबुद्धि जीव अपने ही आत्मा में स्थित, शरीर से भिन्न और शरीर से रहित होकर भी उस छोड़े हुए शरीर के प्रमाण में अवस्थित चेतनस्वरूप ऐसे आपका ध्यान करता है उसके रूपातीत ध्यान होता है । अभिप्राय यह है कि निर्मल स्फटिक मणि में प्रतिबिम्बित जिनरूप के समान समस्त कर्मों और शरीर से भी रहित हुए सिद्ध परमात्मास्वरूप अपने आत्मा का जो चिन्तन किया जाता है उसे रूपातीतध्यान कहा जाता है ॥३२॥

आगे चार श्लोकों में इसी रूपातीत ध्यान को स्पष्ट किया जाता है—

संख्यातीतप्रदेशस्थं ज्ञानदर्शनलक्षणम् । कर्तारं चानुभोक्तारममूर्तं च सदात्मकम् ॥३३
कथंचिन्नित्यमेकं च शुद्धं सक्रियमेव च । न रुष्यन्तं न तुष्यन्तमुदासीनस्वभावकम् ॥३४
कर्मलेपविनिर्मुक्तमूर्ध्वव्रज्यास्वभावकम् । स्वसंवेद्यं विभुं सिद्धं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥३५
परमात्मानमात्मानं ध्यायतो ध्यानमुत्तमम् । रूपातीतमिदं देव निश्चितं मोक्षकारणम् ॥३६

जो विशुद्ध आत्मा असंख्यात प्रदेशों में स्थित है, ज्ञान-दर्शनस्वरूप है, कर्ता व भोक्ता है, रूप-रसादिस्वरूप मूर्ति से रहित होकर अमूर्तिक है; उत्पाद, व्यय व ध्रौव्यस्वरूप है; कथंचित् नित्य, एक व शुद्ध है; क्रिया से सहित है; जो न रुष्ट होता है और न सन्तुष्ट भी होता है, किन्तु उदासीन स्वभाव वाला है; कर्मरूप लेप से रहित है, ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है, जो स्वकीय संवेदन का विषय होकर व्यापक व सिद्ध है, तथा जो समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित है; ऐसे परमात्मस्वरूप आत्मा का जो ध्यान करता है उसके यह उत्कृष्ट रूपातीत ध्यान होता है । हे देव ! यह ध्यान निश्चय से मोक्ष का कारण है ॥३३-३६॥

आगे यह दिखलाते हैं कि बहिरात्मा जीव उस शुद्ध परमात्मा को नहीं देख सकता है—

देहेन्द्रियमनोवाक्षु ममाहंकारबुद्धिमान् । बहिरात्मा न संपश्येद् देव त्वां स बहिर्मुखः ॥३७

शरीर, इन्द्रिय, मन और वचन इनके विषय में ममकार और अहंकार बुद्धि रखने वाला वह बहिरात्मा जीव बहिर्मुख होने से—पर को अपना समझने के कारण—हे देव ! आपको नहीं देख सकता है ॥

विवेचन—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से जीव तीन प्रकार के हैं । उनमें जिसे तत्त्व-अतत्त्व की पहिचान नहीं होती वह बहिरात्मा कहलाता है । वह अदेव को देव, कुगुरु को गुरु और कुत्सित धर्म को धर्म मानता है तथा जड़ शरीर व इन्द्रिय आदि जो चेतन आत्मा से भिन्न हैं उन्हें भी

वह अपना मानता है। 'यह मेरा है और मैं इसका स्वामी हूं' इस प्रकार की ममकार और अहंकार बुद्धि से ग्रसित होने के कारण वह धर्म से पराङ्मुख रहता है। इसीलिए यहां यह कहा गया है कि बहिरात्मा जीव अज्ञान के वशीभूत होने से अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता है ॥३७॥

आगे दो श्लोकों में अन्तरात्मा के स्वरूप को दिखलाते हुए यह कहा जा रहा है कि वह आत्म-स्वरूप के देखने में समर्थ होता है—

पदार्थान् नव यो वेत्ति सप्त तत्त्वानि तत्त्वतः ।
षड्द्रव्याणि च पञ्चास्तिकायान् देहात्मनोर्भिदाम् ॥३८॥
प्रमाणनयनिक्षेपैः सद्दृष्टिज्ञानवृत्तिमान् । सोऽन्तरात्मा सदा देव स्यात्त्वां दृष्टुमलं क्षमः ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से संयुक्त जो जीव प्रमाण, नय और निक्षेप के आश्रय से नौ पदार्थों, सात तत्त्वों, छह द्रव्यों, पांच अस्तिकायों और शरीर व आत्मा के भेद को यथार्थरूप में जानता है उसे अन्तरात्मा कहा जाता है और वह हे देव ! सदा ही आपके देखने में समर्थ रहता है। इसे सम्यग्दर्शन का माहात्म्य समझना चाहिए ॥३८-३९॥

अब उपर्युक्त नौ पदार्थों के नामों का निर्देश किया जाता है—

जीवाजीवौ च पुण्यं च पापमास्रवसंवरौ । निर्जरा बन्धमोक्षौ च पदार्था नव संमताः ॥४०

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ माने गये हैं ॥४०॥

आगे उक्त नौ पदार्थों का निरूपण करते हुए प्रथमतः जीव का स्वरूप कहा जाता है—

चेतना लक्षणस्तत्र जीवो देव मते तव । चेतनानुगता सा च ज्ञानदर्शनयोस्तथा ॥४१॥

हे देव ! आपके मत में जीव का लक्षण चेतना माना गया है। वह चेतना ज्ञान और दर्शन में अनुगत है। अभिप्राय यह है कि जीव का लक्षण जानना और देखना है। जानने और देखने रूप वह चेतना ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार की है ॥४१॥

इसे आगे और भी स्पष्ट किया जाता है—

जीवारब्धक्रियायां च सुखे दुःखे च तत्फले । यथासम्भवमीशेयं वर्तते चेतना तथा ॥४२॥

हे ईश ! यह चेतना यथासम्भव जीव के द्वारा प्रारम्भ की गई क्रिया और उसके फलस्वरूप सुख व दुःख में रहती है। अभिप्राय यह है कि जीव के द्वारा जो भी कार्य प्रारम्भ किया जाता है वह या तो सुख का कारण होता है या दुख का कारण होता है। किस प्रकार के कार्य से सुख होता है और किस प्रकार के कार्य से दुख होता है, यह विचार करना चेतना का कार्य है ॥४२॥

अब ज्ञान के स्वरूप और उसके भेदों का निर्देश किया जाता है—

प्रतिभासो हि यो देव विकल्पेन तु वस्तुनः । ज्ञानं तदष्टधा प्रोक्तं सत्यासत्यार्थभेदभाक् ॥

हे देव ! यह घट है अथवा पट है, इस प्रकार के विकल्प के साथ जो वस्तु का प्रतिभास (बोध) होता है उसे ज्ञान कहते हैं। सत्य और असत्य अर्थ को विषय करने के कारण वह ज्ञान सामान्य से दो प्रकार का है—सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। वही ज्ञान विशेषरूप से आठ प्रकार का है ॥४३॥

आगे दो श्लोकों में उन आठ भेदों का निर्देश किया जाता है—

मतियुक्तं श्रुतं सत्यं समनःपर्ययोऽवधिः । केवलं चेति सत्यार्थं सद्दृष्टेर्ज्ञानपञ्चकम् ॥४४
कुमतिः कुश्रुतज्ञानं विभङ्गाख्योऽवधिस्तथा । ज्ञानत्रयमिदं देव मिथ्यादृष्टिसमाश्रयम् ॥४५

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच भेद सत्य अर्थ के विषय करने वाले सम्यग्ज्ञान के हैं। यह पांच प्रकार का सम्यग्ज्ञान सम्यग्दृष्टि जीव के होता है। कुमति, कुश्रुत और विभंग अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यादृष्टि के आश्रय से रहने वाले मिथ्याज्ञान हैं। उक्त पांच सम्य-

ज्ञानों में इन तीन मिथ्याज्ञानों के मिला देने पर ज्ञान के सामान्य से आठ भेद हो जाते हैं ।।४४-४५।।

अब दो श्लोकों में दर्शन के स्वरूप और उसके भेदों का निर्देश किया जाता है—

वस्तुसत्तावलोको यः सामान्येनोपजायते । दर्शनं तन्मतं देव बहिरन्यच्चतुर्विधम् ।।४६
चक्षुरालम्बनं तच्च शेषाक्षालम्बनं तथा । अवध्यालम्बनं पुंसो जायते केवलाश्रयम् ।।४७

हे देव ! सामान्य से जो वस्तु की सत्ता मात्र का अवलोकन होता है उसे दर्शन माना गया है। वह चार प्रकार का है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। जो दर्शन—सत्ता मात्र का अवलोकन—जीव के चक्षु इन्द्रिय से आश्रय से होता है उसे चक्षुदर्शन, चक्षु को छोड़ शेष इन्द्रियों के आश्रय से होने वाले दर्शन को अचक्षुदर्शन, अवधिज्ञान के आलम्बन से होने वाले दर्शन को अवधिदर्शन और केवलज्ञान के आश्रय से होने वाले दर्शन को केवलदर्शन कहा जाता है ।।४६-४७।।

आगे वह दर्शन ज्ञान से पूर्व होता है या उसके साथ होता है, इसको स्पष्ट किया जाता है—

दर्शनं ज्ञानतः पूर्वं छद्मस्थे तत्प्रजायते । सर्वज्ञे यौगपद्येन केवलज्ञानदर्शने ।।४८

वह दर्शन छद्मस्थ के—केवली से भिन्न अल्पज्ञ के—ज्ञान से पूर्व होता है। किन्तु सर्वज्ञ के केवल ज्ञान और केवलदर्शन दोनों एक साथ होते हैं ।।४८।।

आगे क्रमप्राप्त दूसरे अजीव पदार्थ का स्वरूप कहा जाता है—

जीवलक्ष्मविपर्यस्तलक्ष्मा देव तवागमे । अजीवोऽपि श्रुतो नूनं मूर्तामूर्तत्वभेदभाक् ।।४९

हे देव ! जो जीव के लक्षण से भिन्न लक्षण वाला है—ज्ञान-दर्शन चेतना से रहित है—उसे आपके आगम में अजीव सुना गया है, अर्थात् उसे आगम में अजीव कहा गया है। वह मूर्त और अमूर्त के भेद से दो प्रकार का है ।।

विवेचन—जो ज्ञान व दर्शन रूप उपयोग से रहित है उसे अजीव कहते हैं। वह पांच प्रकार का है—धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश, काल और पुद्गल। उनमें एक मात्र पुद्गल मूर्त—रूप, रस गन्ध व स्पर्श से सहित—और शेष धर्म आदि चार अमूर्त—उक्त रूप-रसादि से रहित हैं ।।४९।।

अब पुण्य के दो भेदों का निर्देश करते हुए उनका स्वरूप कहा जाता है—

शुभो यः परिणामः स्याद् भावपुण्यं सुखप्रदम् । भावायत्तं च यत्कर्म द्रव्यपुण्यमवादि तत् ।।

जीव का जो शुभ परिणाम होता है उसे भावपुण्य कहा जाता है, वह सुख का देने वाला है। जो कर्म भाव के अधीन है—राग-द्वेषादिरूप शुभ परिणामों के आश्रय से बन्ध को प्राप्त होता है—उसे द्रव्यपुण्य कहा गया है जो पुद्गलस्वरूप है ।।५०।।

आगे पाप के दो भेदों का निर्देश करते हुए उनका स्वरूप कहा जाता है—

पुण्याद् विलक्षणं पापं द्रव्यभावस्वभावकम् । ज्ञातं संक्षेपतो देव प्रसादाद् भवतो मया ।।५१

पुण्य से विपरीत स्वरूप वाला पाप है। वह भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। हे देव ! आपके प्रसाद से मैंने इस सबको संक्षेप में जान लिया है ।।

विवेचन—पुण्य जहां प्राणी को सुख देने वाला है वहां उससे विपरीत पाप उसे दुख देने वाला है। जिस प्रकार भाव और द्रव्य के भेद से पुण्य दो प्रकार का है उसी प्रकार पाप भी भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार का है। जीव का जो अशुभ (कलुषित) परिणाम होता है उसे भावपाप कहते हैं तथा उसके आश्रय से जो जीव के साथ पौद्गलिक कर्म का बन्ध होता है उसे द्रव्यपाप कहते हैं ।।५१।।

आस्रव का स्वरूप—

कर्मागच्छति भावेन येन जन्तोः स आस्रवः । रागादिभेदवान् योगो द्रव्यकर्मागमोऽथवा ।।

जीव के जिस परिणाम के द्वारा कर्म आता है उसे आस्रव कहते हैं। अथवा द्रव्य कर्म के आगमन का कारण जो रागादिभेद युक्त योग है उसे आस्रव जानना चाहिए ।।

विवेचन—जिस प्रकार नाव में छेद के हो जाने पर उसके भीतर पानी आने लगता है उसी प्रकार जीव के जिन परिणामों के निमित्त से कर्मों का आगमन होता है उन्हें आस्रव कहते हैं। यह आस्रव भी भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार का है। मिथ्यात्व व अविरति आदिरूप जिन परिणामों के आश्रय से कर्मों का आगमन हुआ करता है उनका नाम भावास्रव है तथा उन परिणामों के द्वारा जो द्रव्य कर्मों का आगमन होता है उसका नाम द्रव्यास्रव है। यह आस्रव योगस्वरूप है ॥५२॥

संवर का स्वरूप—

आस्रवस्य निरोधो यो द्रव्यभावाभिधात्मकः। तपोगुप्त्यादिभिः साध्यो नैकधा संवरो हि सः ॥

आस्रव के निरोध का नाम संवर है। वह द्रव्य व भाव स्वरूप होने से दो प्रकार का है जो तप व गुप्तियों आदि के द्वारा सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार से वह अनेक भेद वाला है ॥

विवेचन—नवीन कर्मों के आगमन के रुक जाने का नाम संवर है। वह भी द्रव्य व भाव के भेद से दो प्रकार का है। जिन सम्यक्त्वादि परिणामों के द्वारा आते हुए कर्म रुक जाते हैं उन्हें भावसंवर कहा जाता है। उक्त परिणामों के आश्रय से आते हुए द्रव्य कर्मों का जो निरोध हो जाता है, इसे द्रव्य-संवर जानना चाहिए। गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजय ये उस संवर के साधन हैं। मन, वचन और काय योगों के निग्रह को गुप्ति कहते हैं। गमनागमनादिविषयक समीचीन (निरवद्य) प्रवृत्ति का नाम समिति है। वह ईर्या-भाषा आदि के भेद से पांच प्रकार की है। जो दुख से हटा कर सुख-स्थान (मोक्ष) को प्राप्त कराता है वह धर्म कहलाता है। इसका स्वरूप पहिले कहा जा चुका है (१२-१४)। बार-बार चिन्तन का नाम अनुप्रेक्षा है। वह अनित्य व अशरण आदि भेद से बारह प्रकार की है। क्षुधा एवं तृषा (प्यास) आदि की वेदना के उपस्थित होने पर उसे कर्मोदयजनित जानकर निरा-कुलतापूर्वक सहन करना व संयम से च्युत न होना, इसका नाम परीषहजय है। वह क्षुधा-तृषा आदि के भेद से बाईस प्रकार का है। निन्द्य आचरण को छोड़कर सदाचार में प्रवृत्त होना, इसे चारित्र कहते हैं। वह सामायिक आदि के भेद से पांच प्रकार का है। इन गुप्ति-समितियों आदि के अनेक प्रकार होने से वह संवर भी अनेक प्रकार का है ॥५३॥

निर्जरा का स्वरूप—

तपोयथास्वकालाभ्यां कर्म यद् भुक्तशक्तिकम्। नश्यत्तन्निर्जराभिख्यं चेतनाचेतनात्मकम् ॥

तप और अपने परिपाककाल के आश्रय से जिसकी शक्ति को—अनुभाग को—भोगा जा चुका है ऐसा कर्म-पुद्गल जो विनाश को प्राप्त होता है उसका नाम निर्जरा है। वह चेतन व अचेतन स्वरूप है॥

विवेचन—आत्मा से सम्बद्ध कर्म-पुद्गल का उससे पृथक् होना, इसे निर्जरा कहते हैं। वह भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार की है। जिस प्रकार आम आदि फलों को पाल में देकर उनके स्वाभाविक पाककाल से पहिले ही पका लिया जाता है उसी प्रकार तपश्चरण के द्वारा जो कर्म को भी अपनी स्थिति के पूर्व में ही परिपाक को प्राप्त कराकर उदय में लाया जाता है उसे भावनिर्जरा कहते हैं। वे ही कर्म अपनी स्थिति के पूर्ण होने पर फल को देकर जो निर्जीर्ण होते हैं, इसे द्रव्यनिर्जरा कहा जाता है ॥५४॥

बन्ध का स्वरूप—

जीवकर्मप्रदेशानां यः संश्लेषः परस्परम्। द्रव्यबन्धो भवेत् पुंसो भावबन्धः सदोषता ॥५५

जीव और कर्म के प्रदेशों का जो संश्लेष—परस्पर एक क्षेत्रावगाहरूप संयोग—होता है उसे बन्ध कहते हैं। वह भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। उक्त प्रकार से कर्मप्रदेशों का जीव के प्रदेशों के साथ सम्बद्ध होना, इसका नाम द्रव्यबन्ध है तथा जीव के जिस सदोष परिणाम के द्वारा वे कर्म-पुद्गल उससे सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं उसे भावबन्ध कहा जाता है ॥५५॥

मोक्ष का स्वरूप—

बन्धहेतोरभावाच्च निर्जराभ्यां स्वकर्मणः । द्रव्यभावस्वभावस्य विनाशो मोक्ष इष्यते ॥५६

बन्ध के कारणभूत मिथ्यात्वादि (आस्रव) के अभावरूप संवर से तथा द्रव्य-भावरूप दोनों प्रकार की निर्जरा से जो द्रव्य व भाव रूप अपने कर्म का विनाश होता है उसका नाम मोक्ष है। अभिप्राय यह है कि समस्त कर्म-पुद्गलों का आत्मा से पृथक् हो जाना, इसे मोक्ष कहा जाता है। वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। जिस परिणाम के द्वारा राग-द्वेषादिरूप भाव कर्म का विनाश होता है उसे भावमोक्ष कहते हैं तथा द्रव्य कर्मों के विनाश का नाम द्रव्यमोक्ष है ॥५६॥

इस प्रकार नौ पदार्थों का निरूपण करके आगे उनके अन्तर्गत सात तत्त्वों को कहा जाता है—

पदार्था एव तत्त्वानि सप्त स्युः पुण्यपापयोः । अन्तर्भावो यदाभीष्टो बन्ध आस्रव एव वा ॥

जब बन्ध अथवा आस्रव में ही पुण्य व पाप का अन्तर्भाव अभीष्ट हो तब पूर्वोक्त नौ पदार्थ ही सात तत्त्व ठहरते हैं ॥

विवेचन—पूर्व (३८) में नौ पदार्थों और सात तत्त्वों का पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है। तदनुसार नौ पदार्थों का निरूपण कर देने पर वे सात तत्त्व कौन से हैं, यह आशंका हो सकती थी। उसके समाधान स्वरूप यहां यह कहा जा रहा है कि उन नौ पदार्थों से पृथक् सात तत्त्व नहीं है, किन्तु वे उन्हीं के अन्तर्गत हैं। यथा—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सात तत्त्व माने गये हैं। इनमें से आस्रव और बन्ध में पूर्वोक्त नौ पदार्थों के अन्तर्गत पुण्य का और पाप का अन्तर्भाव कर देने पर वे नौ पदार्थ ही सात तत्त्व ठहरते हैं। कारण यह कि द्रव्य और भावरूप शुभाशुभ कर्म का नाम पुण्य और पाप है। वे उक्त दोनों प्रकार के आस्रव व बन्ध स्वरूप ही हैं, उनसे भिन्न नहीं हैं ॥५७॥

आगे छह द्रव्यों की प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः उनके नामों का निर्देश किया जाता है—

जीवः सपुद्गलो धर्माधर्मावाकाशमेव च । कालश्चेति समाख्याता द्रव्यसंज्ञा त्वया प्रभो ॥

पूर्वनिर्दिष्ट वह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनका निर्देश हे प्रभो ! आपने द्रव्य नाम से किया है—ये छह द्रव्य कहे गये हैं ॥५८॥

अब उनमें से पहिले जीव का स्वरूप कहा जाता है—

प्राणधारणसंयुक्तो जीवोऽसौ स्यादनेकधा । द्रव्यभावात्मकाः प्राणाः द्वेधा स्युस्ते विशेषतः ॥

जो प्राणों को धारण करता है उसे जीव कहते हैं। वह अनेक प्रकार का है। प्राण द्रव्य और भाव स्वरूप दो प्रकार के हैं, विशेषरूप से वे दस हैं—पांच इन्द्रियां, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ॥

विवेचन—जिनके आश्रय से प्राणी जीवित रहता है उन्हें प्राण कहा जाता है। वे सामान्य से चार हैं—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इनमें इन्द्रियां पांच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। मन, वचन और काय के भेद से बल तीन प्रकार का है। इस प्रकार विशेषरूप से वे दस हो जाते हैं—५ इन्द्रियां, ३ बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इनमें से एकेन्द्रिय जीव के स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त द्वीन्द्रिय जीवों में रसना इन्द्रिय और वचन बल इन दो के अधिक होने से छह प्राण, तीन इन्द्रिय जीवों के एक घ्राण इन्द्रिय के अधिक होने से सात प्राण, चार इन्द्रिय जीवों के एक चक्षु इन्द्रिय के अधिक होने से आठ प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के एक श्रोत्र इन्द्रिय के अधिक होने से नौ प्राण और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के एक मन के अधिक होने से दस प्राण पाये जाते हैं। ये प्राण द्रव्य-भाव के भेद से दो प्रकार भी हैं। इनमें द्रव्य-इन्द्रियों आदि को द्रव्यप्राण और भाव इन्द्रियों आदि को भावप्राण जानना चाहिए ॥५९॥

पुद्गल द्रव्य का स्वरूप—

स्पर्शाष्टकेन संयुक्ता रसैर्वर्णैश्च पञ्चभिः । द्विगन्धाभ्यां यथायोगं द्वेधा स्कन्धाणुभेदतः ॥

जो यथासम्भव शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कठोर, लघु और गुरु इन आठ स्पर्शों से; श्वेत,

नील, पीत, हरित और रक्त इन पांच वर्णों से; खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला और तीखा इन पांच रसों से; तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध इन दो गन्धों से; इस प्रकार इन बीस गुणों से सहित होते हैं उन्हें पुद्गल कहते हैं। वे स्कन्ध और अणु के भेद से दो प्रकार के हैं। इनमें जिसका दूसरा खण्ड नहीं हो सकता है ऐसे पुद्गल के सबसे छोटे अंश को अणु और दो या दो से अधिक अणुओं के संयोग युक्त पुद्गलों को स्कन्ध कहा जाता है ॥६०॥

आगे उक्त पुद्गलों की और भी कुछ विशेषता प्रगट की जाती है—

स्थूला ये पुद्गलास्तत्र शब्दबन्धादिसंयुताः। जीवोपकारिणः केचिदन्येऽन्योऽन्योपकारिणः ॥

वे पुद्गल स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार भी हैं। इनमें जो स्थूल पुद्गल हैं उन में से कितने ही शब्द व बन्ध आदि (स्थूल, सूक्ष्म, संस्थान, भेद, तम, छाया और आतप) से सहित होते हुए जीवों का उपकार करने वाले हैं—उनके सुख-दुःख एवं जीवन-मरण आदि के कारण हैं। कुछ दूसरे पुद्गल परस्पर में भी एक दूसरे का उपकार करने वाले हैं—जैसे राख वर्तनों का एवं सोडा-साबुन वस्त्रों का इत्यादि ॥६१॥

अब उपर्युक्त छह द्रव्यों में क्रिया युक्त द्रव्यों का निर्देश करते हुए धर्म व अधर्म द्रव्यों का स्वरूप कहा जाता है—

जीवाः पुद्गलकायाश्च सक्रिया वर्णिताः जिनैः। हेतुस्तेषां गतेर्धर्मस्तथाधर्मः स्थितेर्मतः ॥६२

उक्त द्रव्यों में जीवों और पुद्गलों को जिन देव ने क्रिया (परिस्पन्दादि) सहित कहा है। उन जीव और पुद्गलों के गमन का जो कारण है उसे धर्मद्रव्य और उनकी स्थिति का जो कारण है उसे अधर्म द्रव्य माना जाता है ॥६२॥

आगे आकाश द्रव्य के स्वरूप व उसके भेदों का निर्देश किया जाता है—

यद् द्रव्याणां तु सर्वेषां विवरं दातुमर्हति। तदाकाशं द्विधा ज्ञेयं लोकालोकविभेदतः ॥

जो अन्य द्रव्यों के लिए भी विवर (छिद्र—अवकाश) देने के योग्य है उसका नाम आकाश है। उसे लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से दो प्रकार जानना चाहिए। जहां तक जीवादि द्रव्य पाये जाते हैं उतने आकाश को लोकाकाश और शेष अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहा जाता है ॥६३॥

अब काल द्रव्य का लक्षण कहा जाता है—

वर्तनालक्षणः कालो मुख्यो देव तवागमे। अर्थक्रियात्मको गौणो मुख्यकालस्य सूचकः ॥६४

हे देव! आपके आगम में जिसका लक्षण वर्तना है उसे मुख्य काल कहा गया है तथा अर्थक्रिया-स्वरूप जो काल है वह गौण काल है और वह मुख्य काल का सूचक है ॥

विवेचन—जो वर्तते हुए पदार्थों के वर्तन में उदासीन कारण है वह काल कहलाता है। वह निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। निश्चयकाल का लक्षण वर्तना—वस्तुपरिणमन का सहकारी कारण होना है। वह अणुस्वरूप है। लोकाकाश के जितने (असंख्यात) प्रदेश हैं उतने ही वे कालाणु हैं जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नराशि के समान पृथक्-पृथक् स्थित हैं। उस मुख्य (निश्चय) काल की पर्यायस्वरूप जो समय व घटिका आदि रूप काल है उसे व्यवहार काल कहा जाता है ॥६४॥

इस प्रकार छह द्रव्यों का निरूपण करके अब उनमें अस्तिकाय द्रव्यों का निर्देश किया जाता है—

द्रव्यषट्कमिदं प्रोक्तं स्वास्तित्वादिगुणात्मकम्। कायाख्यं बहुदेशत्वाज्जीवादीनां तु पञ्चकम् ॥

ये छह द्रव्य अपने अस्तित्व-वस्तुत्वादि गुणों स्वरूप कहे गये हैं। उनमें काल को छोड़कर जीवादि पांच द्रव्य बहुत प्रदेशों से युक्त होने के कारण काय कहे जाते हैं ॥६५॥

आगे काल द्रव्य काय क्यों नहीं है, इसे स्पष्ट किया जाता है—

कालस्यैक-प्रदेशत्वात् कायत्वं नास्ति तत्त्वतः । लोकासंख्यप्रदेशेषु तस्यैकैकस्य संस्थितिः ।।

काल के एकप्रदेशी होने के कारण वस्तुतः कायपना नहीं है। उसका एक-एक प्रदेश लोक के असंख्यात प्रदेशों पर स्थित है ।।

विवेचन—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप अस्तित्व (सत्) से संयुक्त होने के कारण छहों द्रव्यों को अस्ति कहा जाता है। जो काय (शरीर) के समान बहुत प्रदेशों से संयुक्त हैं वे काय कहलाते हैं। काल चूंकि एक प्रदेश वाला है, इसलिए उसे अस्ति तो कहा जाता है, पर काय नहीं कहा जाता। किन्तु शेष द्रव्य बहुतप्रदेशी हैं, इसलिए उन्हें अस्ति के साथ काय भी (अस्तिकाय) कहा जाता है। यहां यह शंका हो सकती है कि पुद्गल के अन्तर्गत परमाणु भी तो एकप्रदेशी हैं, फिर उन्हें काय कैसे कहा जाता है। इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि परमाणु यथार्थतः तो काय नहीं है, किन्तु वे स्कन्धों में मिलकर बहुतप्रदेशी होने की योग्यता रखते हैं, अतः उन्हें उपचार से अस्तिकाय समझना चाहिए। काल में चूंकि बहुतप्रदेशी होने की योग्यता नहीं है, इसलिए उसे उपचार से भी काय नहीं कहा जा सकता है। यही कारण है जो श्लोक में 'तत्त्वतः' पद को ग्रहण किया गया है ।।६६।।

आगे उक्त बहुतप्रदेशी द्रव्यों में किसके कितने प्रदेश हैं, इसका निर्देश किया जाता है—

धर्माधर्मैकजीवानां संख्यातीतप्रदेशता । व्योम्नोऽनन्तप्रदेशत्वं पुद्गलानां त्रिधा तथा ।।६७

धर्म, अधर्म और प्रत्येक जीव ये असंख्यात प्रदेशों से युक्त हैं। आकाश अनन्त प्रदेशों से युक्त हैं। पुद्गलों के प्रदेश तीन प्रकार हैं—संख्यात, असंख्यात और अनन्त। परमाणु और द्व्यणुक आदि उत्कृष्ट संख्यात तक प्रदेशों वाले स्कन्धों में संख्यात प्रदेश रहते हैं, संख्यात से आगे एक अधिक प्रदेश से लेकर अनन्त से पूर्व उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात से युक्त प्रदेशों वाले स्कन्धों में असंख्यात प्रदेश रहते हैं, इसके आगे महास्कन्ध तक सब पुद्गलस्कन्धों में अनन्त प्रदेश रहते हैं। जितने आकाश को एक परमाणु रोकता है उतने क्षेत्रप्रमाण का नाम प्रदेश है ।।६७।।

पीछे श्लोक ३९ में पदार्थपरिज्ञान के साधनभूत प्रमाण का निर्देश किया गया है, उसके स्वरूप व भेदों को यहां दिखलाते हैं—

प्रमाणं वस्तुविज्ञानं तन्मोहादिविवर्जितम् । परोक्षेतरभेदाभ्यां द्वेधा मत्यादिपञ्चकम् ।।६८

मोह आदि—संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय—से रहित वस्तु के विशिष्ट (यथार्थ) ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। वह प्रत्यक्ष व परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। उनमें मति व श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार इन पांच ज्ञानों को प्रमाण माना गया है ।।

विवेचन—अविशद या अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। वह दो प्रकार का है—मति और श्रुत। जो ज्ञान इन्द्रिय व मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। इस मतिज्ञान के निमित्त से जो विवेचनात्मक ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है, जो बारह अंगस्वरूप है। प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए जो इन्द्रिय की सहायता से रहित ज्ञान होता है उसका नाम अवधिज्ञान है। इन्द्रिय व मन की सहायता से रहित जो दूसरे के मन में स्थित चिन्तित व अचिन्तित पदार्थ को जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। जो त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों व उनकी पर्यायों को युगपत् जानता है उस अतीन्द्रिय ज्ञान का नाम केवलज्ञान है। वह इन्द्रिय आदि किसी अन्य की सहायता नहीं लेता है, इसीलिए उसको 'केवल' यह सार्थक संज्ञा है। इसी कारण उसे असहाय ज्ञान भी कहा जाता है ।।६८।।

आगे चार श्लोकों में नय के स्वरूप और उसके भेदों का निर्देश किया जाता है—

नयो ज्ञातुरभिप्रायो द्रव्यपर्यायगोचरः । निश्चयो व्यवहारश्च द्वेधा सोऽर्हंस्तवागमे ।।६९

द्रव्यं वा योऽथ पर्यायं निश्चिनोति यथास्थितम् ।
नयश्च निश्चयः प्रोक्तस्ततोऽन्यो व्यावहारिकः ॥७०॥
अभिन्नकर्तृकर्मादिगोचरो निश्चयोऽथवा । व्यवहारः पुनर्देव निर्दिष्टस्तद्विलक्षणः ॥७१॥
द्रव्यार्थपर्यायार्थभ्यां पुनर्देव नयो मतः । सर्वे श्रुतविकल्पास्ते ग्राह्यभेदादनेकधा ॥७२॥

द्रव्य अथवा पर्याय को विषय करने वाला जो ज्ञाता का अभिप्राय होता है उसे नय कहते हैं । वह हे अर्हन् ! आपके आगम में दो प्रकार कहा गया है—निश्चयनय और व्यवहारनय । जो यथावस्थित द्रव्य अथवा पर्याय का निश्चय करता है उसे निश्चय नय कहा गया है । उससे भिन्न व्यावहारिक—लोक-व्यवहार में काम आने वाला—व्यवहार नय है । अथवा हे देव ! जो कर्ता व कर्म आदि कारकों में भेद न करके वस्तु को विषय करता है उसे निश्चयनय कहा गया है । व्यवहार नय उससे भिन्न है । तथा हे देव ! द्रव्यार्थ और पर्यायार्थ से—द्रव्य को विषय करने और पर्याय को विषय करने के कारण—भी नय दो प्रकार का माना गया है । श्रुत के भेदभूत वे सब नय ग्राह्यभेद से—अपने द्वारा ग्रहण करने योग्य विषय के भेद से—अनेक भेदरूप हैं ॥

विवेचन—वस्तु अनेकधर्मात्मक है । उनमें से ज्ञाता को जब जिस धर्म की अपेक्षा रहती है तब वह उसके लिए मुख्य और शेष धर्म गौण हो जाते हैं । यथा—सुवर्णमय कड़ों को तोड़ कर जब उससे मुकुट बनाया जाता है तब अपेक्षाकृत उसमें नित्यता व अनित्यता दोनों धर्म विद्यमान रहते हैं । कड़ों को तोड़ कर मुकुट के बनाये जाने पर भी दोनों में सुवर्णरूपता तदवस्थ रही, उसका विनाश नहीं हुआ, यही द्रव्यस्वरूप से मुकुट की नित्यता है । पर कड़ों रूप अवस्था से वह मुकुटरूप अवस्था को प्राप्त हुआ है, अतः उसमें पर्याय की अपेक्षा अनित्यता भी है । इसी प्रकार एक-अनेक, शुद्ध-अशुद्ध और भिन्न-अभिन्न आदि परस्पर विरुद्ध दिखने वाले धर्मों का भी एक ही वस्तु में अपेक्षाकृत अस्तित्व समझना चाहिए । इस प्रकार का जो विवक्षावश ज्ञाता का अभिप्राय रहता है, इसी का नाम नय है । वह नय निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है । जो नय यथावस्थित द्रव्य अथवा पर्याय का निश्चय करता है उसे निश्चय नय कहा जाता है । इस प्रकार के लक्षण से ग्रन्थकार को सम्भवतः नैगम-संग्रह आदि सातों नय निश्चय के रूप में अभीष्ट रहे हैं । इसके विपरीत जो यथावस्थितरूप में द्रव्य या पर्याय को ग्रहण न करके अन्यथारूप में उसे ग्रहण करता है उसका नाम व्यवहार नय है । जैसे—सूत को देते हुए यह कहना कि वस्त्र बुनकर लाओ । इस प्रकार के कथन में यथावस्थित वस्तु का ग्रहण नहीं रहा । कारण यह कि सूत के पृथक्-पृथक् अंशों के बुनने पर वस्त्र निर्मित होता है, वस्त्र नहीं बुना जाता । इस प्रकार यथार्थता के न रहने पर भी चूंकि सूत देने वाले का अभिप्राय सूत को बुनकर वस्त्र बनाने का ही अभिप्राय रहता है, अतएव यह व्यवहार नय कहलाता है । इसी प्रकार आटा पिसाना है, भात बनाओ, तेल की शीशी लाओ; इत्यादि व्यवहार नय के अन्य उदाहरण भी समझना चाहिए ।

आगे ग्रन्थकार ने 'अथवा' कहकर आध्यात्मिक दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए प्रकारान्तर से भी उक्त निश्चय और व्यहार नयों का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—जो कर्ता और कर्म आदि का भेद न करके शुद्ध द्रव्य मात्र को ग्रहण करता है वह निश्चय नय कहलाता है । जिस प्रकार मिट्टी स्वयं घट रूप परिणत होती है, अतः निश्चय नय की दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता कि कुम्हार ने देवदत्त के लिए मिट्टी से घट को बनाया है। इस नय की दृष्टि से आत्मा शुद्ध ज्ञायक स्वभाव है, वह कर्म का कर्ता व भोक्ता आदि नहीं है । इसके विपरीत व्यवहार नय कर्ता व कर्म आदि के भेद को स्वीकार करता है । जैसे —जीव को राग-द्वेषादि का कर्ता मानना ।

प्रकारान्तर से नय के दो भेद अन्य भी हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय । जिसका अर्थ (प्रयोजन या विषय) द्रव्य ही है, अर्थात् जो मुख्यता से द्रव्य को ही ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं—जैसे आत्मा सर्वथा शुद्ध व कर्म-मल से रहित है । जो पर्याय की प्रमुखता से वस्तु को ग्रहण

करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहा जाता है—जैसे संसारी आत्मा कर्म-मल से लिप्त रहने के कारण अशुद्ध है, इत्यादि।

जिस प्रकार सर्वदेशग्राही प्रमाण श्रुत के विकल्परूप है उसी प्रकार एक देश के विषय करने वाले उपर्युक्त सब नयों को भी श्रुत के विकल्पभूत समझना चाहिए। कारण यह कि विचारात्मक एक श्रुतज्ञान ही है, अन्य कोई भी ज्ञान विचारात्मक नहीं है ॥६९-७२॥

आगे क्रमप्राप्त निक्षेप का स्वरूप कहा जाता है—

जीवादीनां च तत्त्वानां ज्ञानादीनां च तत्त्वतः। लोकसंव्यवहारार्थं न्यासो निक्षेप उच्यते ॥

लोकव्यवहार के लिए जो यथार्थतः जीव-अजीवादि तत्त्वों और ज्ञान आदि का न्यास किया जाता है—प्रयोजन के वश नाम आदि रखे जाते हैं, इसे निक्षेप कहा जाता है ॥७३॥

अब उस निक्षेप के भेदों का निर्देश करते हुए उनका स्वरूप कहा जाता है—

स च नामादिभिर्भेदैश्चतुर्भेदोऽभिधीयते। वाच्यस्य वाचकं नाम निमित्तान्तरवर्जितम् ॥७४

वह निक्षेप नाम आदि (स्थापना, द्रव्य और भाव) के भेद से चार प्रकार का कहा जाता है। उनमें गुण, क्रिया व जाति आदि अन्य निमित्तों की अपेक्षा न करके अभिधेय पदार्थ का वाचक (सूचक) जो नाम रखा जाता है उसे नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे—देव के द्वारा दिये जाने की अपेक्षा न करके किसी का 'देवदत्त' यह नाम रखना ॥७४॥

आगे क्रमप्राप्त स्थापना और द्रव्य निक्षेपों का स्वरूप कहा जाता है—

प्रतिमा स्थापना ज्ञेया भूतं भावि च केनचित्। पर्यायेण समाख्यातं द्रव्यं नयविवक्षया ॥७५

प्रतिमा को स्थापनानिक्षेप जानना चाहिए। जो किसी विवक्षित पर्याय से हो चुका है या आगे होने वाला है उसे नयविवक्षा के अनुसार द्रव्यनिक्षेप कहा जाता है।

विवेचन—स्थापना दो प्रकार की है—तदाकार (सद्भाव) स्थापना और अतदाकार (असद्-भाव) स्थापना। जिनके आकार वाली प्रतिमा में जो जिन देव की स्थापना (कल्पना) की जाती है वह तदाकार स्थापना कहलाती है। जो स्थाप्यमान वस्तु के आकार में तो नहीं है, फिर भी प्रयोजन के वश उसमें वैसी कल्पना करना, इसे अतदाकार स्थापना कहते हैं। जैसे—हाथी-ऊंट आदि के आकार न होते हुए भी शतरंज की गोटों में उनकी कल्पना करना। जो मंत्री पद से मुक्त हो चुका है उसे तत्पश्चात् भी मंत्री कहना, तथा आगे वस्त्ररूप में परिणत होने वाले तन्तुओं को वस्त्र कहना, इत्यादि को द्रव्य-निक्षेप कहा जाता है ॥७५॥

अब निक्षेप के चौथे भेदभूत भावनिक्षेप का स्वरूप कहा जाता है—

पर्यायेण समाक्रान्तं वर्तमानेन केनचित्। द्रव्यमेव भवेद् भावो विख्यातो जिनशासने ॥७६

किसी (विवक्षित) वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को ही जिनागम में भावनिक्षेप कहा गया है। अभिप्राय यह है कि जो द्रव्य वर्तमान पर्याय में है उसे उसी पर्याय की मुख्यता से कहना, इसका नाम भावनिक्षेप है। जैसे—मंत्री जिस समय मंत्रणा का कार्य कर रहा है उसे उसी समय मंत्री कहना, अन्य समय में नहीं ॥७६॥

आगे मोक्षमार्ग का स्वरूप कहा जाता है—

सम्यग्दर्शनविज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः। मोक्षमार्गस्त्वया देव भव्यानामुपदर्शितः ॥७७

हे देव! आपने भव्य जीवों के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन स्वरूप मोक्ष का मार्ग दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि रत्नत्रयरूप से प्रसिद्ध उक्त सम्यग्दर्शनादि मोक्षप्राप्ति के उपाय हैं ॥७७॥

सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

विपरीताभिमानेन शून्यं यद्रूपमात्मनः। तदेवोत्तममर्थानां तच्छ्रद्धानं हि दर्शनम् ॥७८॥

विपरीत अभिमान—दुराग्रह या वैसे अभिप्राय—से रहित जो आत्मा का स्वरूप है वही पदार्थों में श्रेष्ठ है। उस आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना, इसे सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥७८॥

आगे ३ श्लोकों में उस सम्यग्दर्शन के दो भेदों का निर्देश करते हुए उनका स्वरूप कहा जाता है—

तन्निसर्गात् पदार्थेषु कस्याप्यधिगमात्तथा। जीवस्योत्पद्यते देव द्वेधैवं देशना तव ॥७९॥
निसर्गः स्वरूपं स्यात् स्वकर्मोपशमादियुक्। तमेवापेक्ष्य यज्जातं दर्शनं तन्निसर्गजम् ॥८०
परेषामुपदेशं तु यदपेक्ष्य प्रजायते। त्वयाधिगमजं देव तच्छ्रद्धानमुदाहृतम् ॥८१॥

वह सम्यग्दर्शन किसी जीव के निसर्ग से—परोपदेश के विना स्वभावतः—तथा किसी के पदार्थ-विषयक अधिगम (ज्ञान) से उत्पन्न होता है। इस प्रकार से हे देव! आप का दो प्रकार का उपदेश है। अपने कर्मों के—अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चार एवं मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन दर्शनमोहनीय इस प्रकार सात कर्मप्रकृतियों के—उपशम आदि से युक्त जो निज स्वरूप है उसका नाम निसर्ग है। उसी निसर्ग की अपेक्षा करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे निसर्गज कहा जाता है। जो तत्त्वश्रद्धान दूसरों के उपदेश की अपेक्षा करके उत्पन्न होता है उसे हे देव! आपने अधिगमज सम्यग्दर्शन कहा है ॥

विवेचन—इसका अभिप्राय यह है कि इन दोनों सम्यग्दर्शनों में पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के उपशम आदि के समान रूप से रहने पर भी जो तत्त्वश्रद्धान दूसरे के उपदेश के विना पूर्व संस्कार से उत्पन्न होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है तथा जो तत्त्वश्रद्धान दूसरे के उपदेश के आश्रय से उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन समझना चाहिये। यह इन दोनों सम्यग्दर्शनों में भेद है ॥७९-८१॥

अब आगे तीन श्लोकों में प्रकारान्तर से उक्त सम्यग्दर्शन के अन्य दो और तीन भेदों का निर्देश करते हुए सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहा जाता है—

अथ चैव द्विधा प्रोक्तं तत्कर्मक्षयकारणम्। सरागाधारमेकं स्याद्वीतरागाश्रयं परम् ॥८२॥
प्रशमादथ संवेगात् कृपातोऽप्यास्तिकत्वतः। जीवस्य व्यक्तिमायाति तत् सरागस्य दर्शनम् ॥
पुंसो विशुद्धिमात्रं तु वीतरागाश्रयं मतम्। द्वेधेत्युक्ता[क्त्वा] त्वया देव त्रेधाप्युक्तमदस्तथा ॥

कर्मक्षय का कारणभूत वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का कहा गया है—एक सरागाश्रित और दूसरा वीतरागाश्रित। जो सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन गुणों के आश्रय से जीव के प्रगट होता है वह सराग जीव का दर्शन (सरागसम्यग्दर्शन) कहलाता है और जो जीव की विशुद्धि मात्र स्वरूप सम्यग्दर्शन है वह वीतरागाश्रित सम्यग्दर्शन माना गया है। इस तरह दो प्रकार का कहकर उसे तीन प्रकार का भी कहा गया है ॥

विवेचन—सम्यग्दर्शन के अन्य भी दो भेद हैं—सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागसम्यग्दर्शन। राग युक्त जीव के तत्त्वश्रद्धान को सरागसम्यग्दर्शन और रागभाव से रहित जीव के तत्त्वश्रद्धान को वीतरागसम्यग्दर्शन कहा जाता है। इनमें प्रथम सरागसम्यग्दर्शन के परिचायक ये चार चिह्न हैं—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य। इनमें क्रोधादि कषायों के उपशमन का नाम प्रशम है। संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति होने के साथ जो धर्म में अनुराग होता है उसे संवेग कहते हैं। दीन-दुखी व सन्मार्ग से भ्रष्ट होते हुए जीवों के विषय में जो दयार्द्र परिणति होती है उसे अनुकम्पा कहा जाता है। सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा जैसा जीवादि तत्त्वों का स्वरूप कहा गया है उसको उसी प्रकार मानकर दृढ़ श्रद्धा रखना, इसका नाम आस्तिक्य है। ये गुण उक्त सम्यग्दर्शन के अनुमापक हैं ॥८२-८४॥

अब आगे चार श्लोकों में उसके पूर्वनिर्दिष्ट तीन भेदों को कहा गया है—

मिथ्यात्वं यच्च सम्यक्त्वं सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च। क्रोधादीनां चतुष्कं च संसारानन्तकारणम् ॥
श्रद्धानप्रतिघात्येतत् ख्यातं प्रकृतिसप्तकम्। एतस्योपशमादौपशमिकं दर्शनं मतम् ॥८६॥
क्षयात्क्षायिकमाम्नातं त्वया देव सुनिर्मलम्। सम्यक्त्वोदीरणात्षण्णामुदयाभावतस्तथा ॥
तासामेव तु सत्त्वाच्च यज्जातं तद्धि वेदकम्। सम्यग्दर्शनमीदृक्षं निश्चितं मोक्षकांक्षिणाम् ॥

मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीय तथा अनन्त संसार के कारणभूत क्रोधादि चार (अनन्तानुबन्धिचतुष्टय) ये सात प्रकृतियां श्रद्धान की घातक प्रसिद्ध हैं—सम्यग्दर्शन का घात करने वाली हैं। इनके उपशम से औपशमिक सम्यग्दर्शन माना गया है। हे देव! और उन्हीं के क्षय से जो अतिशय निर्मल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे आपने क्षायिक सम्यग्दर्शन कहा है। सम्यक्त्व प्रकृति की उदीरणा से, शेष छह प्रकृतियों के उदयाभाव से तथा उन्हीं के सत्त्व से—सदवस्थारूप उपशम से—जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह वेदक सम्यग्दर्शन कहलाता है। सम्यक्त्व प्रकृति के वेदन से—उदय में रहने से—उसका 'वेदक' यह सार्थक नाम है। तथा उपर्युक्त सात प्रकृतियों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण उसका 'क्षायोपशमिक' यह दूसरा नाम भी सार्थक है। इस प्रकार का वह सम्यग्दर्शन निश्चित ही मोक्षाभिलाषी जीवों के होता है ॥

विवेचन—विपरीत अभिनिवेश से रहित दृष्टि का नाम सम्यग्दर्शन है। उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त वह सम्यग्दर्शन निश्चय और व्यवहार के भेद से भी दो प्रकार का है। शरीर आदि से भिन्न निर्मल आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना, यह निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है तथा जीवादि सात तत्त्वों का जो यथार्थ श्रद्धान होता है, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। जो जीव अनादि काल से मिथ्यादृष्टि रहा है उसके प्रथमतः औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है, जो अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहता है। तत्पश्चात् उस सम्यग्दर्शन का धारक जीव मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ कोई जीव वेदक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है, कोई आसन्न भव्य जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है तथा कितने ही मिथ्यादृष्टि बने रहते हैं। इस सम्यग्दर्शन के प्राप्त हो जाने पर जीव को हेय-उपादेय का विवेक हो जाता है। वह अधिक से अधिक अर्ध पुद्गलपरावर्तन काल तक ही संसार में रहता है, तदनन्तर वह नियम से मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥८५-८८॥

इस प्रकार प्रस्तुत मोक्षमार्ग में प्रथमतः सम्यग्दर्शन का निरूपण करके अब क्रमप्राप्त सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कहा जाता है—

जीवादीनां पदार्थानां यो याथात्म्यविनिश्चयः। तदभ्यधायि विज्ञानं सम्यग्दृष्टिसमाश्रयम् ॥

जीवादि पदार्थों का जो यथार्थतः निश्चय होता है उसे विज्ञान—विशिष्ट ज्ञान (सम्यग्ज्ञान)—कहा गया है। वह सम्यग्दृष्टि के आश्रय से होता है, मिथ्यादृष्टि के नहीं होता ॥८९॥

अब अवसरप्राप्त चारित्र का स्वरूप दो श्लोकों द्वारा कहा जाता है—

ज्ञानिनं मुक्तसंगस्य संसारोपायहानये। प्रशस्तागूर्णभावस्य सम्यक्श्रद्धानधारिणः ॥९०॥
कर्मादाननिमित्तानां क्रियाणां यन्निरोधनम्। चारित्रं यन्मुमुक्षोः स्यान्निश्चितं मोक्षकारणम् ॥

समीचीन श्रद्धान का धारक—निर्मल सम्यग्दर्शन से सम्पन्न—जो सम्यग्ज्ञानी जीव संसार के उपायभूत मिथ्यादर्शनादि के नष्ट करने के लिए प्रशस्त भावों में उद्यत होकर ममत्व बुद्धि से रहित होता हुआ कर्मग्रहण की कारणभूत क्रियाओं का निरोध करता है उस मोक्षाभिलाषी जीव के सम्यक्चारित्र होता है। वह निश्चित ही मोक्ष का कारण होता है। अभिप्राय यह है कि संसार की कारणभूत क्रियाओं को—अशुभ प्रवृत्ति को—छोड़कर सदाचार में प्रवृत्त होना, यह सम्यक्चारित्र कहलाता है ॥९०-९१॥

आगे यह बतलाते हैं कि उक्त सम्यग्दर्शनादि तीन समस्तरूप में ही मुक्ति के कारण हैं, व्यस्तरूप में नहीं—

श्रद्धानादित्रयं सम्यक् समस्तं मोक्षकारणम् । भेषजालम्बनं यद्वत्तत्त्रयं व्याधिनाशनम् ॥९२॥

उक्त समीचीन श्रद्धानादि तीन (रत्नत्रय) समस्त होकर—तीनों एक रूप में होकर—ही मोक्ष के कारण हैं, न कि पृथक् रूप में एक, दो या तीन भी । जैसे—औषधि के आलम्बनभूत (औषधिविषयक) वे तीन—श्रद्धान, ज्ञान और आचरण—रोग के विनाशक हुआ करते हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार औषधि का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण (उसका सेवन) ये तीनों सम्मिलित रूप में ही रोग के विनाशक होते हैं, न कि पृथक् रूप में; उसी प्रकार जीवादि तत्त्वविषयक श्रद्धान, ज्ञान और आचरण (चारित्र) ये तीन भी सम्मिलित रूप में ही कर्मरूप रोग के विनाशक होते हैं, पृथक् रूप में नहीं ॥९२॥

अन्त में ग्रन्थकार ६ श्लोकों में प्रस्तुत ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए स्तुतिविषयक अपनी अशक्यता को प्रगट कर स्तुति करने के कारण आदि को दिखलाते हैं—

अन्तातीतगुणोऽसि त्वं मया स्तुत्योऽसि तत्कथम् । ध्यानभक्त्या तथाप्येवं देव त्वय्येव जल्पितम् ॥
यन्न तुष्यसि कस्यापि नापि कुप्यसि मुह्यसि । किंतु स्वास्थ्यमितोऽसीति स्तोतुं चाहं प्रवृत्तवान् ॥
इत्येवं युक्तियुक्तार्थैः प्रस्फुटार्थैर्मनोहरैः । स्तोकैरपि स्तवैर्देव वरदोऽसीति संस्तुतः ॥९५॥

रुष्ट्वा तुष्ट्वा करोषि त्वं किंचिद्देव न कस्यचित् ।
किन्त्वाप्नोति फलं मर्त्यस्त्वय्येकाग्रमनाः स्वयम् ॥९६॥

इति संक्षेपतः प्रोक्तं भक्त्या संस्तवभर्मणा । किंचिज्ज्ञेन मया किंचिन्न कवित्वाभिमानतः ॥
यन्मेऽत्र स्खलितं किंचिच्छद्मस्थस्यार्थशब्दयोः । तत्संवित्त्यैव सौजन्याच्छोध्यं शुद्धेद्धबुद्धिभिः ॥

हे देव ! आप अनन्त गुणों से युक्त हैं, ऐसी स्थिति में मैं आपकी स्तुति कैसे कर सकता हूं ? फिर भी मैंने आपके विषय में जो स्तुतिरूप से इस प्रकार कहा है वह ध्यानभक्ति से—ध्यानविषयक अनुराग के वश—ही कहा है । हे देव ! यतः आप किसी के प्रति न सन्तुष्ट होते हैं, न रुष्ट होते हैं, और न मोहित होते हैं, किन्तु स्वस्थता (आत्मस्थिति) को प्राप्त हैं; इसी से मैं आपकी स्तुति करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूं । हे देव ! इस प्रकार से मैंने युक्ति युक्त अर्थ से परिपूर्ण एवं स्पष्ट अर्थ वाले मनोहर थोड़े से ही स्तवनों के द्वारा 'आप वरद हैं—अभीष्ट सर्वश्रेष्ठ मुक्ति के दाता हैं' इस हेतु से स्तुति की है । हे देव ! आप क्रुद्ध अथवा सन्तुष्ट होकर किसी का कुछ भी अहित या हित नहीं करते हैं, फिर भी आपके विषय में एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य—तन्मय होकर आपका स्मरण करने वाला भव्य जीव—स्वयं ही अभीष्ट फल को प्राप्त करता है । अल्पज्ञानी मैंने इस प्रकार से स्तुति के रूप में जो कुछ संक्षेप में कहा है वह भक्ति के वश होकर ही कहा है, कवित्व के अभिमान से नहीं कहा, अर्थात् 'मैं कवि हूं' इस प्रकार के अभिमान को प्रगट करने के लिए मैंने यह ध्यान का वर्णन नहीं किया है, किन्तु भक्ति से प्रेरित होकर ही उसे किया है । मैं अल्पज्ञ हूं, इसीलिए यदि अर्थ अथवा शब्द के विषय में इस वर्णन में कुछ स्खलित हुआ हूं तो निर्मल व तीक्ष्ण बुद्धि वाले विद्वान् सुजनता वश उसे अपने समीचीन ज्ञान के द्वारा शुद्ध कर लें ॥९३-९८॥

अन्तिम प्रशस्ति—

नो निष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं एहि याहीति जातु
नो कण्डूयेत गात्रं व्रजति न निशि नोद्घाटयेद् द्वार्न दत्ते ।
नावष्टभ्नाति किंचिद् गुणनिधिरिति यो बद्धपर्यंकयोगः
कृत्वा संन्यासमन्ते शुभगतिरभवत्सर्वसाधुः प्रपूज्यः ॥९९॥

जो न थूकता है, न सोता है, न कभी दूसरे को 'आओ व जाओ' कहता है, न शरीर को खुजलाता है, न रात्रि में गमन करता है, न द्वार को खोलता है, न उसे देता है—बन्द करता है, और न

किसी का आश्रय लेता है; ऐसा वह गुणों के भण्डारस्वरूप सर्वसाधु पर्यंक आसन से योग (समाधि) में स्थित होता हुआ अन्त में संन्यास को करके—कषाय व चतुर्विध आहार का परित्याग करके सल्लेखना-पूर्वक मृत्यु को प्राप्त होकर—उत्तम गति से युक्त हुआ। इस प्रकार से वह सर्वसाधु—इस नाम से प्रसिद्ध को प्राप्त मुनि अथवा सर्वश्रेष्ठ साधु—अतिशय पूजनीय हुआ ॥९९॥

तस्याभवच्छ्रुतनिधिर्जिनचन्द्रनामा शिष्यो नु तस्य कृतिभास्करनन्दिनाम्ना।
शिष्येण संस्तवमिमं निजभावनार्थं ध्यानानुगं विरचितं सुविदो विदन्तु ॥१००॥

उस सर्वसाधु का जिनचन्द्र नामक शिष्य हुआ जो श्रुत का पारगामी था। उसके—जिनचन्द्र के—पुण्यशाली भास्करनन्दी नामक शिष्य ने ध्यान के अनुसरण करने वाले—ध्यान की प्ररूपणा युक्त—इस स्तोत्र को अपनी भावना के लिए—आत्मचिन्तन के लिए—रचा है, यह विद्वज्जन ज्ञात करें ॥१००॥

॥ समाप्त ॥

पाठभेद

जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १२, किरण २, पृ. ५४, १-९ (जनवरी १९४६) में प्रकाशित प्रस्तुत ध्यानस्तव में और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित (सन् १९७३) ध्यानस्तव में जो कुछ महत्त्वपूर्ण पाठभेद रहे हैं उनका निर्देश यहां किया जाता है—

श्लोक	जैन-सिद्धान्त-भास्कर	भारतीय ज्ञानपीठ
१	दोषहम्	दोषदम्
१९	त्र्यैक [त्र्येक]	त्रैक
४५	दृष्टिसमाश्रयम्	दृष्टिममाश्रयम्
४६	बहिरन्तश्चतु-	बहिरन्यच्चतु-
५३	भावभिदात्मकः	भावाभिधात्मकः
६२	धर्मस्थितेर्मतः	धर्मः स्थितेर्मतः
७०	यथास्थितम्	यथास्थितिम्
७५	भूतभावि	भूतं भावि
७८	त्तमतार्थानां	त्तममर्थानां
७९	द्वैधैवं	द्वेधैवं
९६	मर्त्यस्त्वय्येकाग्र	मर्त्यस्त्वयैकाग्र
९९	हेहि हाहीति	एहि याहीति
,,	नोद्घाट्येद्वार्नं दत्ते	नोद्घाटयेद् द्वार्नं धत्ते
१००	शिष्यो नु	शिष्योऽनु

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकांश	संख्या
अथ चैव द्विधा प्रोक्तं	८२
अनपेतं ततो धर्माद्	१३
अनपेतं ततो धर्माद्	१५
अनन्तातीतगुणाकीर्णं	२
अनन्तातीतगुणोऽसि त्वं	९३
अभिन्नकर्तृकर्मादि	७१
आर्तं रौद्रं तथा धर्म्यं	८
आस्रवस्य निरोधो यः	५३
इति संक्षेपतः प्रोक्तं	९७
इत्येवं युक्तियुक्तार्थैः	९५
उक्तमेव पुनर्देव	२४
कथंचिन्नित्यमेकं च	३४
कर्मलेपविनिर्मुक्त-	३५
कर्मागच्छति भावेन	५२
कर्मादाननिमित्तानां	९१
कर्माभावे ह्यनन्तानां	४
कालस्यैकप्रदेशत्वात्	६६
कुमतिः कुश्रुतज्ञानं	४५
क्षयात् क्षायिकमाम्नातं	८७
चक्षुरालम्बनं तच्च	४७
चेतनालक्षणस्तत्र	४१
जिनाज्ञा-कलुषापाय	१२
जीव-कर्मप्रदेशानां	५५
जीवलक्ष्मविपर्यस्त-	४९
जीवः स पुद्गलो धर्मा-	५८
जीवाजीवौ च पुण्यं च	४०
जीवादीनां च तत्त्वानां	७३
जीवादीनां पदार्थानां	८९
जीवाः पुद्गलकायाश्च	६२
जीवारब्धक्रियायां च	४२
ज्ञस्वभावमुदासीनं	७
ज्ञानिनो मुक्तसंगस्य	९०
तन्निसर्गात् पदार्थेषु	७९
तपोयथास्वकालाभ्यां	५४
तव नामपदं देव	२९
तव नामाक्षरं शुभ्रं	३०
तस्याभवच्छ्रुतनिधि-	१००
तासामेव तु सत्त्वाच्च	८८
दर्शनं ज्ञानतः पूर्वं	४८
दहन्तं सर्वकर्माणि	२८
देहेन्द्रिय-मनोवाक्षु	३७
द्रव्यषट्कमिदं प्रोक्तं	६५
द्रव्यं वा योऽथ पर्यायं	७०
द्रव्यार्थ-पर्यायार्थाभ्यां	७२
धर्माधर्मैकजीवानां	६७
नयो ज्ञातुरभिप्रायो	६९
नानार्थालम्बना चिन्ता	२२
नानालम्बनचिन्तायाः	६
निसर्गः स्वस्वरूपं स्यात्	८०
नो निष्ठीवेन्न शेते	९९
पदार्था एव तत्त्वानि	५७
पदार्थान्नैव यो वेत्ति	३८
परमज्ञानसंवेद्यं	१
परमात्मानमात्मानं	३६
परेषामुपदेशं तु	८१
पर्यायेण समाक्रान्तं	७६
पुण्याद्विलक्षणं पापं	५१
पुंसः पीडाविनाशाय	१०
पुंसो विशुद्धिमात्रं तु	८४
प्रतिभासो हि यो देव	४३
प्रतिमा स्थापना ज्ञेया	७५
प्रमाण-नय-निक्षेपैः	३९

श्लोकांश	संख्या
प्रमाणं वस्तुविज्ञानं	६८
प्रशमादथ संवेगात्	८३
प्राणधारणसंयुक्तो	५९
बन्धहेतोरभावाच्च	५६
मतियुक्तं श्रुतं सत्यं	४४
मिथ्यात्वं यच्च सम्यक्त्वं	८५
मुख्यं धर्म्यं प्रमत्तादि-	१६
यद् द्रव्याणं तु सर्वेषां	६३
यन्न तुष्यति कस्यापि	९४
यन्मेऽत्र स्खलितं किंचित्	९८
योगरोधो जिनेन्द्राणां	२३
रुष्ट्वा तुष्ट्वा करोषि त्वं	९६
रूपातीतं भवेत्तस्य	३२
वर्तनालक्षणः कालो	६४
वस्तुसत्तावलोको यः	४६
विपरीताभिमानेन	७८
विप्रयोगे मनोज्ञस्य	९
विश्वज्ञं विश्वदृश्वानं	२७
शुद्धं शुभ्रं स्वतो भिन्नं	३१
शुभो यः परिणामः स्याद्	५०
श्रद्धानप्रतिघात्येतत्	८६
श्रद्धानादित्रयं सम्यक्	९२
श्रुतज्ञानं वितर्कः स्याद्	१८
श्रुतमूले विवर्तते	१९
स च नामादिभिर्भेदैः	७४
सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि	१४
समाधिस्थस्य यद्यात्मा	५
सम्यग्दर्शन-विज्ञान	७७
सर्वातिशयसम्पूर्णं	२६
सवितर्कं सवीचारं	१७
संख्यातीतप्रदेशस्थं	३३
सिद्धिः स्वात्मोपलम्भः	३
सूक्ष्मकायकियस्य स्याद्	२०
स्थिरसर्वात्मदेशस्य	२१
स्थूला ये पुद्गलास्तत्र	६१
स्पर्शाष्टकेन संयुक्ताः	६०
स्वच्छस्फटिकसंकाश-	२५
हिंसनासत्यचौर्यार्थ-	११

विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका

शब्द	श्लोकांक
अजीव	४०, ४९
अणु	६०
अतिशय	२६
अधर्म	५८, ६२
अधिगमज सम्यग्दर्शन	८१
अध्यात्मवेदी	७
अनन्तज्ञान	४
अनन्तवीर्य	२७
अनन्त सुख	२७
अनुकम्पा (कृपा)	८३
अन्तरात्मा	३९
अप्रमत्तक	१५
अमूर्तत्व	४९
अयोग	२१
अर्थक्रिया	६४
अर्हन्	३१
अलोकाकाश	६३
अवधि	४४
अस्तिकाय	३८
अस्तित्व गुण	६५
अहंकार	३७
आकाश	५८, ६३
आर्त	९, १०
आस्तिकत्व	८३
आस्रव	४०, ५२, ५७
उदयाभाव	८७
उदीरणा	८७
औपचारिक	२३
औपशमिक दर्शन	८६
काय	६५
कायत्व	६६
काल	५८, ६४
कुमति	४५
कुश्रुत	४५
कृपा	८३
केवल	४४
केवलज्ञान	४८
केवलदर्शन	४८
क्षपक	१५
क्षायिक दर्शन	८७
गुप्ति	५३
गृहस्थ	१०
गौण काल	६४
चारित्र	७७, ९१
चिन्ता	६, २२
चेतना	४१, ४२
छद्मस्थ	४८
जिन	१००
जिनशासन	७६
जितेन्द्र	२३
जीव	४०, ४१, ५९
ज्ञान	३३, ४३
तत्त्व	३८, ५७
तप	५३, ५४
तितिक्षा	१३
तुच्छता	६
दर्शन	३३, ४६, ४८, ७८
द्रव्य	३८, ५८
द्रव्य (अचेतनात्मक) निर्जरा	५४
द्रव्य पाप	५१
द्रव्य पुण्य	५०
द्रव्य प्राण	५९

शब्द	श्लोकांक
द्रव्य नय	७२
द्रव्य निक्षेप	७५
द्रव्य बन्ध	५५
द्रव्य मोक्ष	५६
द्रव्य संवर	५३
धर्म	१२, १३, १४, १५, ५८, ६२
धर्मध्यान	१५
धर्म्य	८, १३, १६
ध्यान	६
नय	३९, ६९
नामनिक्षेप	७४
निक्षेप	३९, ७३
निदान	१०
निर्जरा	४०, ५४
निश्चय नय	६९, ७०, ७१
निसर्गज सम्यग्दर्शन	८०
पदस्थ	२४
पदार्थ	३८
परमात्मा	२, ३६
परोक्ष	६८
पर्यनुयोग	९९
पर्यायार्थ नय	७३
पाप	४०, ५१
पिण्डस्थ	२४, २८
पुण्य	४०, ५०
पुद्गल	५८, ६१, ६२
पूर्ववेदी	१९
पृथक्त्व	१८
प्रकृति	८६
प्रतिबिम्ब	३०
प्रमाण	३९, ६८
प्रशम	८३
प्राण	५९
प्रातिहार्य	२६
बन्ध	४०, ५५, ५७
बहिरात्मा	३७
भावनिक्षेप	७६
भाव (चेतनात्मक) निर्जरा	५४
भावपाप	५१
भावपुण्य	५०
भावप्राण	५९
भावबन्ध	५५
भावमोक्ष	५६
भावसंवर	५३
भास्करनन्दि	१००
भूतपूर्वगति	२३
मति	४४
मनःपर्यय	४४
ममकार	३७
मिथ्यात्व	८५
मिथ्यादृष्टि	४५
मुख्य काल	६४
मूर्तत्व	४९
मोक्ष	८, ३६, ४०, ५६
मोक्षमार्ग	७७
योग	२
योगनिरोध	२३
योगी	२०, ३०
रूपवर्जित	२४
रूपस्थ	२४, ३०, ३१
रूपातीत	३२, ३६
रौद्र	८, ११
लोकाकाश	६३
विज्ञान	८९
वितर्क	१७, १८
विभंग	४५
विश्वदृश्वा	२७
वीचार	१८
वीतराग सम्यग्दर्शन	८२, ८४
वृत्त	१४
वेदक सम्यग्दर्शन	८८
व्यवहार नय	६९, ७०, ७१
शमक	१५
शुक्ल	८, १६
श्रुत	३९, ४४
श्रुतज्ञान	१८

शब्द	श्लोकांक	शब्द	श्लोकांक
श्रेणि	१५, १६	सर्वसाधु	९९
सद्दृष्टि	१४, ३९, ४४	सविचार	१७
सपृथक्त्व	१७	सवितर्क	१७
समाधि	५	संन्यास	९९
समुच्छिन्नक्रियप्रनिवर्ति	२१	संवर	४०, ५३
सम्यक्चारित्र	७७	संवेग	८३
सम्यक्त्व	८५	साधु	१०
सम्यग्ज्ञान	७७	सिद्धि	३, ४
सम्यग्दर्शन	७७, ७८	सूक्ष्मकायक्रिय	२०
सम्यग्दृष्टि	३, ८९	सूक्ष्मक्रियप्रतिपाति	२०
सम्यङ्मिथ्यात्व	८५	स्कन्ध	६०
सराग सम्यग्दर्शन	८२, ८३	स्थापनानिक्षेप	७५
सर्वज्ञ	१	स्वप्रतिभास	४
सर्ववेदी	२०		